161
सुरे।शा

B/3

# शाक्त-दर्शन और हिन्दी के वैष्णव कवि

बिहार विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबंध

डॉ० सुरेन्द्र मोहन प्रसाद
रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर

अनुपम

अनुपम प्रकाशन

प्रकाशक
अनुपम प्रकाशन,
पटना-४

विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग-योजना के अन्तर्गत
बिहार विश्वविद्यालय द्वारा प्राप्त आंशिक अर्थ-सहायता से

प्रथम संस्करण : १९८१

मूल्य : अस्सी रुपये

© डॉ० सुरेन्द्र मोहन प्रसाद

मुद्रक
वैद्यनाथ प्रेस
पटना-४

अनुक्रम

कलश-स्थापन

**प्रथम अध्याय**

शाक्त-धर्म का उद्गम एवं विकास १—३८

भारतीय धार्मिक चिन्ता का स्वरूप १; शक्ति-भावना का मनोवैज्ञानिक आधार २; मातृपूजा का उत्स : सिन्धु-घाटी-सभ्यता २; आर्य एवं द्रविड़-संयोग ३; वेदों की अदिति ३; प्राचीन ईश्वर-भावना का मनोविज्ञान ४; शक्ति का प्राचीनतम रूप : एक विचार ५; पृथ्वी देवी एवं सीता का सम्बन्ध ५; ऋग्वेद का देवी-सूक्त ७; वाक्-सूक्त का सरस्वती से सम्बन्ध ८; उमा-पार्वती ९; सती ११; दुर्गा ११; चण्डी या चण्डिका १३; रात्रि-सूक्त तथा कालीदेवी १३; रुद्र का देवी से सम्बन्ध १५; देवी का शक्तित्व १६; देवी-पूजा का काल-निर्धारण १७; उपनिषदोत्तर काल में धार्मिक लहरें १७; भागवतमत १८; बौद्धमत १८; जैनमत १९; धार्मिक सम्मिलन की चेष्टा २०; आगम की लहरें २१; तन्त्र के भेद २२; पाञ्चरात्र-धर्म एवं सिद्धान्त २२; वैखानस-आगम २४; शैवागम : उसके विभिन्न सम्प्रदाय २५; कालमुख या कापालिक धर्म एवं सिद्धान्त २५; वीर-शैवमत : धर्म एवं सिद्धान्त २५; पाशुपत-मत : धर्म एवं सिद्धान्त २६; काश्मीरी शैवमत २७; 'त्रिक्' शब्द की व्याख्या २७; आगमशास्त्र २७; स्पन्दशास्त्र २८; प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र २८; रसेश्वर-सम्प्रदाय २९; शाक्तागम : त्रिपुरा एवं कौल ३०; तीन भाव एवं सात आचार ३०; कौलमत तथा उसके सम्प्रदाय ३०; शाक्तमत तथा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की समानता ३१; तन्त्रकाल की उपलब्धियाँ ३२; बौद्धों पर तन्त्र का प्रभाव ३४; धार्मिक संहितिवाद : पंचायतन-पूजा, शंकर ३५; दाम्पत्य-भावना का विकास ३६; उपसंहार ३७।

**द्वितीय अध्याय**

शाक्त-दर्शन के मूल सिद्धान्त ३९—७३

अनालोचित होने के कारण ३९; स्रोत एवं सम्बन्ध ४०; पराशक्ति ४१; सच्छक्ति के विविध रूप ४२; शक्तिमान के साथ उसका अभेद ४४; शाक्त-दर्शन की अद्वैतवादी भावना ४५; पराशक्ति-स्फुरण : स्पन्द, प्रकाश, विमर्श-तत्त्व ४५; कामकला ४६; त्रितत्त्व : त्रिशक्ति

के विभिन्न रूप ४७; आनन्दमयी शक्ति ४६; नाद ४९; सृष्टि-विस्तार : सृष्टि-रचना की प्रथमावस्था ५०; शक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ : नाद और बिन्दु ५०; चित् एवं माया-शक्ति ५१; बिन्दु; ५२; कला ५२; कंचुक-काल, नियति, राग, विद्या ५३; काल ५५; दिक् ५७; परासंवित ५७; शिव-शक्ति-तत्त्व ५७; सदाख्य-तत्त्व ५७; ईश्वर-तत्त्व ५८; शुद्ध विद्या-तत्त्व ५८; माया का व्यापार ५८; छत्तीस तत्त्व ५६; मातृका या मंत्र-शक्ति ५९; षट्चक्र-भेद ५६; हंस एवं हंसोच्चारण ६२; यंत्र-प्रतीक ६३; शक्तिपात ६४; बीजमंत्र ६४; पाञ्चरात्र-आगम और शाक्त-दर्शन ६५; पाञ्चरात्र-परिचय ६६; समाहार ६८; दर्शन एवं साहित्य का सम्बन्ध ७१, शक्ति की साहित्य में व्यापकता ७२।

तृतीय अध्याय

उत्तर-भारत में शक्ति की लहर तथा शाक्त-भावना के साथ उसका संयोग ७४—१०१

भक्ति का उत्तर-भारत में आगमन—एक घटना ७४; भक्तिवाद एवं विष्णुभावना का वैदिक मूल एवं क्रम-विकास ७६; विष्णु-कृष्ण ऐक्य की चेष्टा ७८; गुप्तकालीन प्रमाण ७९; दक्षिण के आलवार ७६; आलवारों की मान्यताएँ ८०; दार्शनिक आचार्य तथा सम्प्रदाय ८१, श्रीसम्प्रदाय तथा उनकी शक्तिभावना ८२; माध्व या ब्रह्म-सम्प्रदाय तथा उनकी शक्तिभावना ८४; सनकादिक सम्प्रदाय तथा उनकी शक्तिभावना ८५; रुद्रसम्प्रदाय: उसकी शक्तिभावना ८६; वल्लभाचार्य तथा उनकी शक्तिभावना ८७; गौड़ीय सम्प्रदाय—एक परिचय ६१; राघवानन्द के आश्रय में भक्ति का आगमन एवं रामानन्द ६१; रामानन्द की महत्ता—एक परिचय ६३; आलोच्य काल की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन ६४; वैष्णवभावना एवं उत्तरभारत की लोकभावना में शक्ति का स्वरूप ६६; संस्कृत श्रृंगार साहित्य तथा उसका धार्मिक काव्य पर प्रभाव ६७; भक्ति की परिष्कारमयी चेतना तथा शक्तितत्त्व ६७।



चतुर्थ अध्याय

'वैष्णव' का गृहित अर्थ तथा प्रबन्ध की परिमिति १०२—११०

'वैष्णव' शब्द का साम्प्रदायिक अर्थ १०२; वैष्णव-साहित्य : अवैष्णव कवि १०३; लोकतत्त्व और काव्य का विषय : पावनप्रक्रिया १०४; शक्ति—एक मूलतत्त्व १०५; स्त्री-पुरुष-तत्त्व : एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता १०६; प्रबन्ध की परिमिति १०७; 'वैष्णव' शब्द के नये आयाम १०६; कतिपय प्रश्न ११०।

पंचम अध्याय

हिन्दी काव्य साहित्य में शाक्त तत्त्वों के संकेतचिह्नों का अन्वेषण १११—३६७

व्यवहारपक्ष की पीठिका १११; **सिद्धों में शक्तितत्व** ११२; **नाथपंथ में शक्तितत्त्व** ११६; शक्ति तथा नाथ और कौल ११७; शक्ति और योग ११८; शैव और शाक्त का अन्योन्याश्रित रूप ११९; उपसंहार १२०; **उत्तरांचल के कवियों में शक्तितत्त्व**—विद्यापति १२०; अनोखा सम्मिलन १२१; देवी के विविध रूप १२२; त्रिपुरसुन्दरी १२३; शिव-शक्ति-मिलन १२४; दाम्पत्यभाव १२६; राधा-कृष्ण १२७; शक्तिरूपा राधा १२८; श्रृंगार और शक्तितत्त्व १३०; सारांश १३१; गोविन्ददास में शक्तितत्त्व १३२; **निर्गुणोपासक कवियों में शक्तितत्त्व** १३५; **कबीर** १३५; लोकग्राही १३५; कबीर और शाक्तमत १३६; शाक्तों का विरोध—एक समाधान १३७; कबीर का ब्रह्म १३६; कबीर की गायत्री-शक्ति १३६; माया-शक्ति १४०; पिण्ड का महत्त्व १४२; शिव-शक्ति का उल्लेख १४२; सहज की स्थिति १४३; निगुर्ण रामबीजमन्त्र १४३; सत्यलोक १४४; 'हंस' शब्द का अर्थ १४५; नाद-बिन्दु का अर्थ १४६; राम और गुरु का अभेद १४७; आध्यात्मिक विरह १४८; दाम्पत्यभाव १४६; अहं, इदं का विनाश १५०; शिव-शक्ति संयोग की प्रक्रिया १५०; **जायसी में शक्तितत्त्व** १५०; चिरन्तर प्रेमतत्त्व का सन्देश १५१; जायसी के ब्रह्म और उनका व्यापार १५१; पिण्ड का महत्त्व एवं योग १५२; रहस्यभावना में स्त्री-पुरुष का तत्त्व १५२; पद्मावती का अलोकिकत्त्व १५३; शिवलोक या कैलाश १५४; परमज्योति पद्मावती १५४; हीरामन : सिद्धगुरु १५६; शक्तिपात १५६; सूर्य एवं चन्द्र १५७; युगलभाव : समरसता १५७; योगसाधना १५८; महामिलन

१५६; षोडसी-विज्ञान १६०; कामकला १६१; शिव-शक्ति संयोग १६१; युगनद्ध का भाव-चौपड़ १६२; नागमती : पद्मावती = कुण्डलिनी : सहस्रार १६२; त्रिपुरसुन्दरी : 'सौन्दर्यलहरी' से समानता १६३; सूफीमत और त्रिपुरा: प्रत्यभिज्ञा तथा गौडीय मत १६५; प्रतीकत्व तथा लोकतत्त्वानुप्राणित शाक्त-संस्कार १६६; **गोस्वामी तुलसीदास में शक्तितत्त्व** १६०; पीठिका १६८; शक्ति ? शक्तिमान का अभेदत्व १६६; क शिव-पार्वती के सन्दर्भ में १६६; महत्त्व १६९; शक्तितत्व १७०; जगदम्बिका त्रिपुरसुन्दरी १७१; देवीस्तवन १७२; काली १७३; शक्ति की क्रीड़ा १७३; ख सीता-राम के सन्दर्भ में १७४; आदिशक्ति १७४; शक्तियों की सारभूत एकता १७४; सीता ही शक्ति १७५; मायाशक्ति १७५; परम शक्ति १७५; मूल प्रकृति १७६; लक्ष्मी-सीता-अभेद १७६; लक्ष्मी-सीता भेद १७६; सीता-राम-अभेदत्व १७७; राम का प्रकाशकत्व १७८; महामायावति १७९; अभेदात्मकता १८०; क्रिया-शक्ति सीता १८२; त्रिपुरसुन्दरी सीता १८३; जगदम्बा सीता १८५; सीता का आश्रिता रूप १८६; सहज आकर्षण : अनन्त आकर्षण १८६; शक्तिपात १८८; आलौकिक प्रीति १८८; सीता का व्यक्त तथा अव्यक्त रूप १८९; कामकला में सात्त्विक अनुभव १९०; साकेत-लोक १९१; नाम एवं मन्त्र १९५; मन्त्रों की तांत्रिक व्याख्या १९८; निष्कर्ष १९९; आचार्य केशवदास २००; पीठिका २००; राम-तत्त्व २०१; सीता-शक्ति २०२; रामाश्रिता-शक्ति २०२; रूपच्छवि २०२; माया-शक्ति २०३; शक्ति की मूलभूत एकता २०३; सीता-राम-अभेद २०३; साकेतधाम २०४; नाम-तत्त्व २०४; प्रणायाम तथा तांत्रिक मन्त्रों का उल्लेख २०५; सरस्वती २०५; निष्कर्ष २०५; **मधुर-भाव के कवियों की शक्ति-भावना** २०७; मधुर-भाव का परिचय २०७; मधुर साधना का इतिहास २०७; उत्तर तुलसीकाल में हीनभावना २०८; मधुर-भाव का विकास २०८; मधुर-भावना की विशेषताएँ २०९; मधुरालम्बन राम २१०; राम का दार्शनिक रूप २११; सीता का दार्शनिक रूप २११; अभेद-भावना २१२; लीला-नायिका सीता २१२; अंगजा सखियाँ २१२; राम और सीता का सम्बन्ध २१२; लीला-रस २१३; शाक्त-प्रभाव २१३; पिण्ड-साधना एवं साकेत का महत्त्व २१५; मंत्र एवं आचार्य का



महत्त्व २१५; तिलक की प्रतीकात्मकता २१६; रामार्चा-यन्त्र २१६; **कृष्णाश्रयी शाखा-सूरदास** २१८; शक्ति-तत्त्व का भावनात्मक पक्षर २१८; वल्लभाचार्य की शक्ति-भावना २१८; बिट्ठलनाथ की शक्ति-भावना २१९; अष्टछाप के कवियों की विचारभूमि और शक्ति की लीला २२०; वृन्दावनधाम २२०; सूर का वृन्दावन-वर्णन २२१; महाभाव २२२; राधा का दार्शनिक रूप २२२; परमाद्या राधा-शक्ति का स्वरूप २२३; अभिन्न भाव २२५; आनन्दमयी शक्तियाँ २२६; शक्ति का एकत्व २२७; लीलाएँ २२७; मुरली-शक्ति २२८; राधा एवं मुरली में अभिन्नता २३०; रासलीला-महानन्द २३२; रासमध्य सूरवर्णित विवाह का औचित्य २३४; नृत्य-विलास २३४; निज सुखमय-क्रीड़ा २३५; शाक्त-प्रभावित दिव्य शृंगार २३६; मिथुन-तत्त्व २३७; सृष्टि : अलौकिक भोगेच्छा का परिणाम २३८; भगवच्छक्ति ही भगवत्सिद्धि २३८; शिव-पूजा का उल्लेख २३९; नाथपंथी योगी का उल्लेख २४०; उपसंहार २४०; **नन्ददास** २४१; सामान्य-परिचय २४१; द्विव्य-शृंगार के आराधक २४१; कृष्ण-तत्त्व २४१; गोपिका-शक्ति का दिव्य स्वरूप २४२; आह्लादिका-शक्ति राधा २४३; शक्ति-तत्त्व की एकता २४३; ज्योतिर्मयी शक्ति २४३; मुरली-शक्ति २४५; रास-लीला २४६; रास के तीन रूप २४७; नित्य-रास २४७; तुरीयावस्था का सुख २४८; कामरस २४९; रासमंडल का प्रतीक—श्रीयन्त्र २५०; इड़ा-अम्बिका २५०; कृष्ण-शिव-अभेद २५१; संभोग-एक पर्यालोचन २५१; वृन्दावन-एक भावलोक २५२; वृन्दावन-एक प्रतीक २५२; **मीराँ में शक्ति-तत्त्व के अन्वेषण के नये आधार** २५४; मीराँवाई की शक्ति-भावना २५४; प्रेममयी मीराँ २५४; विरहिनी मीराँ—राधा-रूपा २५४; तटस्थ गायिका नहीं—मीराँ स्ववं शक्ति हैं २५४; परम्परा-गत कृष्ण २५५; ज्योतिर्मय मीराँ २५५; मीराँ कृष्ण-सम्बन्ध २५६; ज्योतिर्मय मीराँ २५७; अद्वयता २५७; मुरली-तत्त्व २५८; चरमलोक २५८; हंस २५९; योगिनी २५९; सेज २५९; पाँच सखियाँ २६०; निष्कर्ष २६१. **अष्टछाप के शेष कवियों में शक्ति तत्त्व** २६२; सामान्य विशेषताएँ २६२; शक्ति का आह्लादिकत्व तथा अलौकिकत्व २६२; लीला-संगिनी २६३; अभिन्न-सम्बन्ध २६४; राधा-रूप-गोपिकाएँ २६४; शक्ति-शक्तिमान का अभेद २६४; मुरली शक्ति २६५; लीला

का आधार-लोक के समीप २६६; लीला-स्थल-वृन्दावन २६६; नित्य-लीला २६७; रास तथा रति-रंग का एक भाव ही महाभाव २६८; कामकला २६८; उदात्तीकरण की चेष्टा २६८; कृष्ण की श्यामता का प्रतीकत्व २७०; काली-तत्त्व से समानता २७१; उपसंहार २७३; **रीतिकालीन कवियों की शक्ति-भावना** २७४; सामान्य विशेषता २७४; लोक तथा अध्यात्म का योग २७४; भक्ति-एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता २७५; शृंगार की अनिवार्यता २७६; शक्ति-तत्व का स्वरूप २७६; राधा-शक्ति २७६; रूप-वर्णन २७७; आन्तरिक एकता २७९; अभेदत्व २८०; दाम्पत्य एवं परकीया-भाव २८१; क्रीड़ा-विलास २८२; काम-कला २८३, उपसंहार २८६; **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शक्ति—भावना** २८७; काव्यक्षेत्र २८७; प्रेम-तत्त्व-ज्ञाता २८७; शक्ति-तत्त्व २८७; रूप-वर्णत २८८; शक्ति की आन्तरिक एकता २८९; अभेदत्व २९०; लीला २९१; महारास २९२; काम-कला २९३; सारांश २९३; **हरिऔध की शक्ति-भावना** २९५; प्रियप्रवास २९५; शक्ति-तत्त्व २९५; स्वतंन्त्र शक्ति : जगदम्बिका २९५; राधा तत्त्व २९७; रूपच्छवि २९७; प्रेमरूपा राधा २९८; क्रीड़ा-विलास २९९; तादात्म्य २९९; रास का नवीनीकरण ३००; वंशीनाद ३००; वैदेही-वनवास ३०१; सीता-तत्त्व ३०१; अभेदत्व ३०२; सीता-राम-सम्बन्ध ३०२; अलौकिक रस ३०३; सारांश ३०४; **मैथिलीशरण गुप्त की शक्ति-भावना** ३०५; व्यापक हिन्दू-भावना ३०५; सरस्वती-तत्त्व ३०५; गणेश-तत्त्व ३०६, गिरिजा हेमवती ३०६, अम्बिका-शक्ति ३०६, शक्ति की आन्तरिक एकता ३०७; सीता-शक्ति ३८७; सीता-महामाया ३०९; सीता-श्रद्धा ३०९; अभेदत्व ३१०; दिव्य दाम्पत्य ३१०; कामकला-विलास ३१३; महारास ३१३; योगी हनुमान ३१४; यशोधरा में शक्ति-तत्त्व ३१४; 'शक्ति' में शक्ति-तत्त्व ३१५; पौराणिकता एवं नवीनता का संयोग ३१६; देवी की दिव्यता ३१७; समापन ३१८; **जयशंकर प्रसाद की शक्ति-भावना** ३१९; प्रसाद और कामायनी-तत्त्व ३१९; मनु ३१९; चेतना-शक्ति ३२०; सौन्दर्य-शक्ति-त्रिपुर-सुन्दरी ३२०; आनन्द-शक्ति ३२२; इड़ा तत्त्व ३२३; श्रद्धा-तत्त्व ३२४; काम-शक्ति ३२५; मातृ-मूर्ति ३२६; सर्वमंगला ३२७; शिवलोक ३२८; नृत्यमयी लीला ३२८; ताण्डव



का आध्यात्मिक अर्थ ३२९; समारस्य लोक ३२९; त्रिकोण ३३०; शिव-शक्ति संयोग ३३१; पंच कचुक ३३२; समापन ३३३; **सर्यकान्त त्रिपाठी निराला की शक्ति-भावना** ३३४; निराला और शाक्त-भूमि बंगाल ३३४; मातृ-शक्ति के विविध रूप ३३५; राम की शक्ति-पूजा ३३५; नटराज-तत्त्व ३३७; सीता-शक्ति ३३७; वाक्-शक्ति ३३७; वाम-मार्ग-विरोध ३३८; काली-शक्ति ३३८; देवी सरस्वती ३४०; अभेदत्व ३४०; अरूप की ओर ३४१; ज्योतिर्मयी ३४२; मातृ-शक्ति ३४२; शून्य ३४४; शक्ति ही प्रिया हैं ? ३४४; तादात्म्य ३४६; समापन ३४७; **द्वारका प्रसाद मिश्र की शक्ति-भावना** ३४८; परिचय एवं आधार ३४८; स्वतन्त्रा शक्ति ३४८; वैष्णवी-शक्ति ३४९; राधा—शक्ति ३५०; त्रिपुरसुन्दरी राधा ३५१; युगल-तत्त्व ३५२; अद्वयता ३५२; आदिकामना ३५३; लीलाधाम ३५४; रुक्मिणि ३५५; महामाया ३५५; कालिय-नाग ३५६; समापन ३५७; **धर्मवीर भारती** ३५८; नास्तिक वैष्णव की राधा ३५८; अभेदत्व ३५८; सहजता ३५८; अन्तर्हित शक्ति ३५९; **मानवतत्त्व की भूमि पर** ३५९; भाव-परिणय ३६०; लीला-संगिनी ३६१; शक्ति-तत्त्व ३६१; सृष्टि-संकल्प ३६३; कामकला ३६५; नारी-शक्ति ३६६, समापन ३६७।

समापन ३६८

ग्रन्थानुक्रमणिका ३७४

## —स्तवन—

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके।
सकलशब्दमयी किल ते तनुः।

—आचार्य अभिनवगुप्त।

सरस्वत्याः सूवितरमृतलहरीकौशललहरीः
पिबन्त्याः शवीणि श्रवण चुलुकाभ्यामविरलम्।
चमत्काराश्लाघाचलितशिरसः कुण्डलगर्वा
झनत्कारैस्तारैः प्रतिवचननाचष्ट इव ते॥

—जगद्गुरु शंकराचार्य।

त्वं वैष्णवो शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतन
त्वं वे प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥

—देवी माहात्म्य।

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुणानिधान की
ताके जुग पद कमल मनाबऊँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ॥

—गोस्वामी तुलसीदास।

कर रही लीलामय अनान्द, महाचिति सजग हुई-सी व्यक्ति
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त—

—जयशंकर प्रसाद।

तुम्हारी शक्ति तो मैं ही हूँ
तुम्हारा सम्बल,
तुम्हारी योगमाया,
इस निखिल पारावार में मैं ही परिव्याप्त हूँ।
विराट,
सीमाहीन,
अदम्य,
दुर्दान्त,

—धर्मवीर भारती।

# कलश-स्थापन

भारतीय अध्यात्म एक ऐसी मोटी रज्जु के समान है जिसमें अगणित और परस्परभिन्न सूत्र इस तरह मिलकर बँट गये हैं कि बिना कोई क्षति पहुँचाये उनमें से किसी भी एक सूत्र को विच्छिन्न कर प्रदर्शित करना असंभवप्राय: है। काल के अनन्त अंतराल में जन-मन अनेक प्रकार की कल्पनाओं, आस्थाओं, अंधविश्वासों और चामत्कारिक अभिलाषाओं के द्वारा अध्यात्म के गत्ययात्मक स्वरूप की रचना करता रहा है। यह लोकमानस की चिन्ता ही है जो कभी ब्रह्म की आस्था के अन्तर्गत सारे-के-सारे ग्रह-नक्षत्र, लोकलोकान्तर, यहाँ तक कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड को अंतर्भुक्त कर देती है। और, कभी सभी नक्षत्रों को, एक-दो नहीं, तैंतीस कोटि विभिन्न रूप, रंग, गुण और आकृति के देवताओं के रूप में देशभर के बड़, पाकड़ और पीपल के नीचे प्रतिष्ठित कर देती है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषा सहस्रपाद' में इसी भाव की दोनों भंगिमाएँ अन्वित दीख पड़ती हैं।

इतना तो निश्चित है कि लोकमानस ही चिरन्तन काल से इन देवी-देवताओं की सृष्टि करता रहा है, और उसकी ही कोई गंभीर अनिवार्यता, अपने व्यवस्थित और ठोस रूप में प्रकट होकर किसी धार्मिक मत को जन्म भी देती है। पर, एक प्रश्न विचारणीय है—लोकमानस ने पहले किसी पुरुष देवता की सृष्टि की या स्त्री देवता की? इस ऐतिहासिक प्रश्न का समाधान सहज नहीं है। समस्त विश्व स्त्री-पुरुष रूप में द्विधा व्यक्त है। ऐसी स्थिति में जिसकी सत्ता आदिमकाल में प्रधान रही होगी, वही उपास्य होने का अधिकारी रहा होगा।

इस निष्कर्ष से हम सहज ही मातृ-देवियों की महत्ता का अनुमान लगा सकते हैं। शिव की प्राचीन पूजा लिंग-पूजा का ही दार्शनिक एवं उदात्त रूप है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही हम काम-भावना की महत्ता को आँक सकते है। इस प्रकार हम पाते हैं कि लोक-जीवन में एक ऐसी भी भावना वर्त्तमान रही है जिसमें जीवन की ही महत्ता को स्वीकार कर शुद्ध काम की पूजा का विधान रहा। यह काम जहाँ जीवन को उत्पन्न करनेवाला समझा जाने लगा, वहाँ इसके विभीषिका-पूर्ण मरण रूप की भी कल्पना की जाने लगी। क्योंकि, जहाँ से जीवन की उत्पत्ति संभव थी, वहीं इसका विलयन भी स्वाभाविक था। सभ्यता के इस युग में जब हम महान् संस्कृति की हामी भरते हैं, ऐसी आदिम कल्पनाएँ स्वाभाविक आपत्ति का विषय बन जा सकती हैं, पर मनोविज्ञान इसका साक्षी है कि मानव की आदिम वृत्ति

उसके जीवन में कम महत्त्वपूर्ण पार्ट नहीं अदा किया करती। तो काम-भावना के उदात्तीकृत रूप को ही प्रणय, प्रेम आदि की संज्ञा मिली होगी।

काम का सहज सम्बन्ध सौंदर्य से है। जैविकी सिद्धान्तों के अनुसार मादा-वर्ग में सौन्दर्य नहीं होता, यह नर-वर्ग में ही होता है। वैज्ञानिकों ने सिंह के अयाल, हिरण के सींग तथा वृषभ के पुष्ठ स्कन्ध के उदाहरण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है। यूनानी मूर्तिकला में इसी कारण पुरुषों का सौन्दर्य आँका गया है। पर यह भी सत्य है कि नारी-अंगों के सौन्दर्य ने मानवजाति की दैहिक उत्तेजना और मानसिक कल्पना-शक्ति को पर्याप्त उद्दीप्त किया है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'मानसी' कविता में इसी भाव को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है—

**शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि नारी।**
**पुरुष गड़ेछे तोरे सौन्दर्य संचारि**
**आपन अंतर हते।**

तथा इसीलिए वे नारी को 'अर्द्धेक मानवी तुमि, अर्द्धेक कल्पना' कहते दिखाई देते हैं।

मानवजाति क्रमिक विकास में अपने अर्द्धांग को अपने लिए निरंतर महत्त्वपूर्ण बनाये रखने के निमित्त उसे सदैव अभिनव भावों से मंडित करती रही है। यही कारण है कि काम का सत्य धरातलगत रहकर भी अलौकिकता का शृंगार कर दिव्य बन गया। हमारी तुच्छ दृष्टि में वासना और उपासना में भी तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं दीखता। हम पाते हैं कि हमारी भाववृत्ति जब देह-यष्टि का आलंबन ग्रहण कर लेती है तो वासना कहलाती है, वही जब किसी तथाकथित परोक्ष सत्ता या अमूर्त चेतना का आश्रय ले लेती है तो उपासना मानी जाने लगती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हम, एक अर्थ में, वासना के उदात्तीकरण को ही उपासना मान लेते हैं और उपासना के स्तरीय रूप को वासना की संज्ञा प्रदान कर देते हैं। इसी तथ्य को कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी लाक्षणिक शैली में इस तरह प्रकट किया है कि I dive down into the ocean of forms to see the formless.

काम सौन्दर्य से इस प्रकार मंडित होकर मानव-जीवन का सर्वांगीण विकास कर उसमें संस्कृति तथा आनन्द की सहज प्रतिष्ठा कर सकने में समर्थ हो सका। क्रमश: काम और सौन्दर्य अन्योन्याश्रित हो गये और दोनों का परम लक्ष्य आनन्द बन गया। आनन्द भी धीरे-धीरे लोक का धरातल छोड़ने लगा और इसने ब्रह्म की प्राप्ति में अपना गन्तव्य पाने की चेष्टा की; पर यहाँ भी भाव-बोध के लिए उसे



लोकानन्द का अपमान ग्रहण करना पड़ा। आनन्द के पवित्रीकरण के प्रयास में लोक एवं अध्यात्म के बीच असिधारवत् एक सेतु का निर्माण हो गया। पर, लोकमानस उस सेतु पर संतुलन रखने में समर्थ नहीं था। यही कारण है कि सौन्दर्य, काम एवं आनन्द के धरातल को उदात्त बनाने के पूर्व हमें अपने समीप को ही दर्शाना होगा। समाज लोकाचार से ही दिव्याधार की ओर उड़ान भर सकता है।

उपर्युक्त विवेचित तीनों तत्त्वों ने शक्ति-तत्त्व की सृष्टि की। हमारी काम-भावना ने ही शाक्त-सृष्टि-सिद्धान्त को जन्म दिया, सौन्दर्य-भावना ने त्रिपुरसुन्दरी की सृष्टि की और आनन्द-भावना ने साधना का चरम लक्ष्य निर्धारित किया।

संप्रति, देवियों के जिन रूपों की पूजा प्रचलित है, उनमें दो ही भाव प्रधान दिखलाई पड़ते हैं। एक संहारिका-भाव, जिसमें वे भय की वस्तु मानी जाती रही हैं—यथा शीतला आदि। दूसरा शुद्ध शक्ति-भाव, जिसमें वे दुष्टों का दलन करने-वाली हैं; यथा दुर्गा, भैरवी, काली, चामुंडा इत्यादि। इन्हीं सभी रूपों में देवी-पूजा की विशेष प्रसिद्धि है। इन दोनों स्वरूपों के विकास में, प्रथम में अंधविश्वास तथा द्वितीय में लोकविश्वास प्रसूत पुराणाधार ही मालूम होता है। प्रारम्भ में ये भाव और विश्वास रुद्र या शिव के साथ संयुक्त होकर विकसित होते दिखाई पड़ते हैं; कालांतर में इन्होंने राम और कृष्ण को भी प्रभावित करना शुरू किया। स्पष्टत देवियों की यह विकास-गाथा शोध की दृष्टि से बड़ी ही महत्त्वपूर्ण मानी जायगी।

वैष्णवों ने, प्राय: शाक्त-भावना के विरुद्ध अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं, किन्तु उसके लोकतत्त्व की सप्राणता से बाध्य होकर, व्यावहारिकता की दृष्टि से उन्हें अपने यहाँ जगह देनी ही पड़ी। हाँ, सांप्रदायिक और सैद्धांतिक रूप में विरोध होता रहा।

फलत:, आज जो भी हमारे सामने है वह किसी संप्रदायविशेष से उधार लिया हुआ नहीं है। वह अनजाने ही हमारे रक्त में घुल-मिल-सा गया है। वृहत् हिन्दू-समाज की देव-भावना संप्रदायों की क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठकर सनातन हिन्दूधर्म का अविभाज्य अंग बन गयी है। आज हमारे विश्वासों में शैव, शाक्त, वैष्णव—सभी घुल-मिलकर एकाकार हो गये हैं। जिस प्रकार भाषा का प्रकृत स्वरूप व्याकरण के व्यवहारोपयोगी पर कृत्रिम नियमों के चंगुल से फिसलकर सतत् विकसित होता रहता है और उसी क्रम में घिस-पिट जाया करता है; उसी प्रकार हमारी धार्मिक भावनाओं का निश्छल स्वरूप भी संप्रदायों की व्यवस्थित पर बनावटी आचार-पद्धति से मुक्त होकर अपनी 'निजता' को 'वृहत् बहुता' में घुला-मिला डालने के लिए विवश है।

वैष्णवों के मंत्रों में बीज मंत्रों ( रां, आं इत्यादि ) का होना इसी शाक्त-प्रभाव का प्रतिफल है। पुन:, तीन ऊर्द्ध्व रेखाओं की बड़ी गहरी समानता त्रिशूल

से है। यहाँ तक कि वैष्णवों में रामार्चा-यंत्र पर पूजा का प्रचलन है। ये समानताएँ आकस्मिक तो कदापि नहीं मानी जा सकतीं।

उत्तरांचल में शक्ति-पूजा की प्रधानता है और प्रायः अनेक परिवारों में महत्त्वपूर्ण सिन्दूर-चर्चित पोथियों का पता भी चलता है। पर, इनके पठन-पाठन तो क्या स्पर्श तक का सुअवसर परिवारेतर किसी भी सदस्य को, जामाता तक को, नहीं मिल पाता है। यही कारण है कि शक्ति-साधना से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आ पाये हैं और उसके अनुयायियों के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रांतियाँ फैली हुई हैं।

यह भी देखा जाता है कि हमारे सामाजिक जीवन में शाक्त-भावना का गहरा प्रभाव है। शारदीय दुर्गापूजा का व्यापक सामाजिक महत्त्व तो है ही। वैष्णव, शैव तथा वैदिक धर्मावलंबी परिवारों में भी यह समान रूप से आदृत है। इसके अतिरिक्त, दीपावली को सर्वत्र काली-पूजा भी होती है जो शक्तितत्त्वों से ही पूर्णतः अनुप्राणित है। विशेष महत्त्व की एक यमद्वितीया पूजा भी है। कार्तिक शुक्ल द्वितीया को स्त्रियाँ कालिख-लगी हाँड़ी को औंधाकर नागफनी की जाति की काँटेदार पत्तियों को लेकर पूजा करती हैं। प्रथमतः तो वे अपने परिवार के सभी सदस्यों को मरने का अभिशाप देती हैं। पुन; अपनी-अपनी जिह्वा में कांटा चुभाकर सभी को सौ वर्षों तक जीने का आशीर्वाद देती है। अन्त में हाँड़ी को मूसलों से चूर-चूर कर देती हैं। इस पूजा में हाँड़ी काल (यमराज) का ही प्रतीक है। शक्तिरूपिणी नारियाँ एक बार संहारिका बनकर समस्त परिवार को शापित करती हैं। यह उनका (शक्ति का) संहारिका-रूप है जो काली आदि रूप में पूजित है। पुनः वे सृष्टिकर्त्ता होकर अमर जीवन का वरदान देती हैं। नारियों का (शक्ति का) यह अभया रूप है। अपने अभया रूप में वे सृष्टि के रक्षार्थ यम के प्रतीक को मूसलों से चूर्ण करने का संकल्प करती हैं।

इस प्रकार की पूजा के अनेक दृष्टान्त हमारे समाज में मिलते हैं। सारांश यह कि शाक्ततत्त्व हमारी मज्जा में घुल-मिल गया और वह एक सामाजिक रिक्थ के रूप में सदा वर्त्तमान रहा।

प्रस्तुत प्रबन्ध इन्हीं तथ्यों, चिन्तनों और प्रमाणों का प्रतिफल है। इसका मूल उद्देश्य उन शाक्त-प्रभावों का निर्देश करना है जो हमारे सामाजिक रिक्थ के रूप में हिन्दी के वैष्णव कवियों में प्रवेश पाने में सफल हो गये हैं। संभव है इस सामाजिक रिक्थ को शाक्त कहने में आपत्ति उठायी जाय, पर यह रिक्थ शाक्ततत्त्वों से ही निर्मित हुआ है, ऐसा न मानने का हमारे पास कोई कारण नहीं है। इसी



दृष्टि से इस प्रबन्ध में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक—तीनों दृष्टियों से विचार करने का यत्न किया गया है।

हिन्दी साहित्य को इस परिप्रेक्ष्य में देखने का, संभवतः यह पहला प्रयास है और जहाँ तक शाक्तदर्शन की दर्शन के रूप में आलोचना का प्रश्न है, यदि हम यह कहें कि हिन्दी में यह पहली चेष्टा है तो कदाचित् अनर्गल नहीं माना जायगा।

पितृतुल्य निर्देशक विद्वत्वर डा० जनार्दन मिश्र के ही पावन आशीर्वाद से हम इस अनुष्ठान का समापन करने में समर्थ हो सके। उनके पौरोहित्य के बिना मुझ अकिंचन अग्निहोत्री द्वारा इस कार्य का श्रीगणेश करना तक असंभव था।

डॉ० विनय कुमार, प्राचार्य, राजेन्द्र महाविद्यालय का ऋण भी कम नहीं है जिनके निर्देशन के बिना इसका समापन संभव नहीं था। अपने अनन्य बंधु डॉ० कामेश्वर शर्मा के प्रति आभार प्रकट करते समय सचमुच वचन-दरिद्र हो जाता हूँ। कह नहीं सकता कि उन्होंने मुझे कितनी प्रेरणा दी और कितना बल दिया। भाई शुकदेव सिंह ने जो प्रोत्साहन दिया है उसके लिए लेखक उनका आभारी है।

बिहार विश्वविद्यालय के वर्त्तमान कुलपति पद्मश्री प्रो० डॉ० श्यामनन्दन किशोर सर्वाधिक धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि उनकी लेखक के कृतित्व में अपार रुचि रही है।

अन्त में प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी के शब्दों में यही निवेदन है कि 'कवि न होउँ नहि वचन प्रवीनू सकल कला गुन विद्या हीनू'।

—सुरेन्द्र मोहन प्रसाद

## प्रथम अध्याय

# शाक्त-धर्म का उद्‌गम एवं विकास

### भारतीय धार्मिक चिन्ता का स्वरूप :

इस देश का इतिहास साक्षी है कि काल के अनवरत प्रवाह में अनेक देशों के लोग, जातियाँ, धर्म एवं संस्कृतियाँ आकर इस विशाल महासागर में मिलकर एकाकार हो गयी हैं, और आज उनका जो भी अवशेष हमारे सामने है, वह घुल-मिलकर भारतीय हो चुका है। धर्म के क्षेत्र में भी, 'जिसे हम हिन्दू-धर्म कहते हैं, वह किसी जातिगत आधार पर नहीं है। यह विचार और अभिलाषा की विरासत है, जिसमें भारत को प्रत्येक जाति ने अपना विशिष्ट योगदान दिया है।'[१] वर्तमान हिन्दूधर्म के अनेक रूपों का आदिम स्रोत है और उनका समय संभवतः उस समय के भी पीछे चला जायगा, जबकि महेन्जोदाड़ो एवं हड़प्पा के निवासियों ने अपना विशाल, ईंटों का शहर बनाया।[२] हिन्दू-सभ्यता की जड़ें प्राचीन सुमेर एवं मिस्र की सभ्यता के समय में जा पहुँचती हैं।[३] इस प्रकार अभी जो धर्म का रूप हमारे समक्ष है, उसमें अनेक धाराएँ-उपधाराएँ आकर मिल गयी हैं और निरन्तर आदान-प्रदान चलता रहा है। धर्म की यह धारा गंगा नदी की तरह है, जिसमें छोटी-छोटी नदियाँ-नद आकर समाहित हो चुके हैं, किन्तु वे अपनी विशिष्टता की पहचान दे रहे हैं। सृष्टि के विस्मयकारी तत्त्वों (अग्नि, सूर्य आदि) से लेकर ब्रह्म तक, जादू-टोनों से लेकर योग-साधना तक, लौकिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम तक भारतीय जाति-मानस परिभ्रमण करता रहा है। इसने जड़-चेतन, स्त्री-पुरुष, नाग-किन्नर, यक्ष-वेताल, देवी-देवता सबकी ओर दृष्टिपात किया और सभी वस्तुओं को पूजार्ह समझा। कदाचित् इसी व्यापक भावना से 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' में वेदान्तवाद समीकरण करने में सफल हो गया हो।

---

१. S. Radhakrishnan : Eastern Religious and Western Thought, London, 1940; p. 306.

२. Ernest Mackay : The Indus Civilization (1935), p. 96. Quoted by S. Radhakrishnan at p. 36.

३. Dodwell, India (1936), Vol. I, p. 1. Quoted by S. Radhakrishnan.

## शक्ति-भावना का मनोवैज्ञानिक आधार :

भारतीय शक्तिवाद ईश्वर की अपेक्षा ईश्वर की शक्ति को महत्त्व देता है। ईश्वर की यह शक्ति स्त्री-रूपा है। इसे मातृदेवी के नाम से अभिहित किया जाता है।[१] विश्व के धार्मिक इतिहास में कई स्थानों पर मातृदेवी की पूजा का उल्लेख है, पर कहीं भी यह मतवाद या धर्म के रूप में नहीं विकसित हुआ, जैसा कि भारतवर्ष में पाया जाता है।[२] मातृ-पूजा के कारणों पर दृष्टिपात करने पर एक तथ्य अनायास ही उभरने लगता है कि अतिप्राचीन काल में परिवार में मातृसत्ता-व्यवस्था प्रचलित थी और कदाचित् इसी से इसका कोई सम्बन्ध रहा हो। पुरुष-जाति का स्त्री-जाति के प्रति नैसर्गिक आकर्षण भी इस भावना को उदित करने में सहायक हो सकता था। स्त्री का सृष्टि करने में समर्थ होना कम चमत्कार का विषय नहीं था, किन्तु उस समय की मातृ-भावना ही अपने उसी रूप में आज की शक्ति-भावना में अवतरित हो गयी है—ऐसा मानने का हमारे पास कोई आधार नहीं है। हम इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि यह भी एक प्रेरणा का कारण हो सकता है।

## मातृपूजा का उत्स : सिन्धुघाटी-सभ्यता :

इतना तो निर्विवाद है कि भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल में मातृपूजा या देवी-पूजा का प्रचलन था। संभवतः यह सिन्धुघाटी-सभ्यता के पहले से भी प्रचलित रही हो।[३] सिन्धुघाटी-सभ्यता में मातृदेवी के प्रमाण उपलब्ध हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि द्राविड़ ऐइजन द्वीप से अपने साथ एक मातृदेवी की भावना लेते आये, जिसकी सवारी सिंह थी। इसी तथ्य के आधार पर डॉक्टर चटर्जी का विचार है कि यहीं से भारत में शिव-उमा-भाव विकसित हुआ होगा।[४] आर्यों के भारत में आने के पहले सिंध, बलूचिस्तान एवं पंजाब के कुछ हिस्सों में मातृ-पूजा प्रचलित थी।[५] अनार्यों के आर्यों से सम्मिलन-काल में ही मातृदेवी तथा शिव का विकास हो

१. S. J. Woodroffee : Shakti and Sakta (1959), p. 9.
२. शशिभूषण दासगुप्त : भारतेर शक्ति-साधना ओ शाक्त-साहित्य, पृ० १०
३. S. Radhakrishnan : Eastern Religious and Western Thought, London, 1940; p. 307.
राहुल सांकृत्यायन ने यह उल्लेख किया है कि अतिप्राचीन काल में मिस्र, असुर, यवन आदि देशों में भैरवी-चक्र का प्रचार था। द्रष्टव्य—पुरातत्त्व-निबन्धावली (रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग, पृ० ३ से उद्धृत)।
४. S. K. Chatterjee : 'The Vedic Age', London, 1952; H. C. O. I. P., Vol. L; p. 158.
५. R. C. Majumdar : 'The Cultural Heritage of India', Vol. IV, Calcutta, 1956; p. 324.



गया था।[१] सिन्धुघाटी-सभ्यता की मूर्तियों से भी इस विचार की पुष्टि हो जाती है। प्रसंग-रूप में यहाँ एक तत्त्व विचारणीय है कि आरम्भ में शैव और शाक्त-धर्म परस्पर भिन्न नहीं थे। पर दोनों के बीच कालक्रम से दूरी बढ़ती गयी। शैवधर्म की साधना पहले भी ज्ञानमयी थी और आज भी शैव-मार्ग ज्ञान-सम्मत भक्ति का ही मार्ग है। शैवधर्म का ध्येय पहले भी मुक्ति था और आज भी मुक्ति ही है। किन्तु, शाक्त-धर्म ने, मोक्षकामी होते हुए भी व्यवहारतः अपना ध्येय मुक्ति नहीं, सिद्धि को माना और उसके साधनों में भी प्रधानता मन्त्र, यन्त्र और योग की हो गयी।[२]

## आर्य एवं द्रविड़-संयोग :

आर्यों के भारत में आगमन के पश्चात् आर्य और द्रविड़ संस्कृति का सम्मिलन होने पर दोनों जातियों ने एक-दूसरे के विश्वास और परम्पराओं को आत्मसात् कर लिया। विद्वानों ने इसपर खोज कर विभिन्न क्षेत्रों में इसके प्रभाव को लक्ष्य किया है।[३] आर्यों के पास होम था, द्राविड़ों के पास पूजा थी। आर्यों के देवता इन्द्र, वरुण, अग्नि और प्रजापति थे तथा अनार्यों के शिव, मातृदेवी, लिंग, नाग और वृक्ष इत्यादि। इन दोनों विश्वासों का सह-अस्तित्व रहा और ये एक-दूसरे को प्रभावित भी करते रहे।

## वेदों की अदिति :

ऋग्वेद किसी एक काल का ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप में किसी मातृदेवी की स्वीकृति नहीं मिलती, जिसको वर्त्तमान शाक्त-धर्म का उत्स माना जाय। डाक्टर सुधेन्दुकुमार दास ने कुछ स्त्री-देवियों के नामों पर विचार किया है।[४] किन्तु ऋग्वेद के अदिति-सूक्त ( १—९२,११३ ) में शक्ति का मातृ-भाव देखा जा सकता है। उषा-सूक्त में कुमारी-भाव, सूर्यादेवी-सूक्तों में पत्नी-भाव तथा देवी-सूक्त एवं वाक्-सूक्त में शुद्ध शक्तिवाद के चिह्न मिलते हैं। ऋग्वेद में पृथ्वी की स्तुति है[५] और उन्हें पिता द्यौः के साथ-साथ देखा जाता है। इस द्यावा

१. The Mother Goddess (Aditi and Prithvi in the Rgveda) and Shiva were developed in the period of the Indus valley by Synthesis and fusion with non-Aryans—Vol. I, H. C. O. I.; p. A. D. Pusalkar, p. 194.
२. दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय; पटना, १९६२; पृ० २१९।
३. See—Dravidian origins and the beginning of Indian Civilisation : Modern Review (Dec. 1924), p. 679.
४. S. K. Das : Sakti or Divine Power; Calcutta (1934), p. 7.
५. ऋग्वेद (१।१८५।२; १।१८५।१०)

पृथ्वी की स्तुति अनेक स्थानों पर अनेक रूपों में मिलती है। वैदिक ऋषियों ने उनकी प्राणदायिनी, अन्नदायिनी तथा माता के रूप में स्तुति कर अपनी श्रद्धा निवेदित की है। **'माता पृथिवी महियम'** कहकर उसके विस्तार का ज्ञान कराया है ( ऋ०१।१६४।३३ )। इन सूक्तों में वैदिक ऋषियों की कवि-कल्पना के ही नहीं, उनके वास्तविक धर्म-बोध के भी दर्शन होते हैं। इसलिए उन्होंने श्रद्धावनत चित्त से उस श्रेष्ठ वस्तु को नमस्कार किया ( ऋ० ६।५१।८ )। द्यौ पिता तथा माता पृथ्वी के रूप में अस्पष्ट भाव से **'जगतः पितरौ'** की कल्पना को हम अस्वीकार नहीं कर सकते।[१]

## प्राचीन ईश्वर-भावना का मनोविज्ञान :

प्राचीन वैदिक साधना का आधार प्रकृति के भीतर निहित शक्तियाँ थीं, जिन्हें वैदिक ऋषि भिन्न-भिन्न प्रकार का कल्पनात्मक रूप दे दिया करते थे। उनके देवता सामर्थ्य एवं शक्ति-विशेष के प्रतीक माने जाते थे और उनके प्रति की गयी स्तुति भी भय से ही प्रेरित हुआ करती थी।[२] उनकी कृपा, सहानुभूति अथवा अन्य कोमल वृत्तियों में इनका विश्वास न था। उनको प्रसन्न करने के लिए बलिदान भी किये जाते थे।[३] पितरों की पूजा भी मात्र इसलिए की जाती थी कि वे कोई विघ्न उपस्थित न करें।[४] उस समय की साधारण जनता को एक प्रकार से जादू-टोने में विश्वास था और वे लोग मन्त्र-प्रयोग द्वारा विष आदि के दूर किये जाने को भी निश्चित मानते थे। सारांश यह कि उनके धार्मिक कृत्यों का उद्देश्य यह था कि दैनिक जीवन पूर्णतः अबाधगति से प्रगतिशील रहे तथा ऐहिक सुख में भी वृद्धि होती रहे। कालान्तर में याज्ञिक अनुष्ठानों को महत्त्व मिला। अग्नि आदि प्राकृतिक वस्तुओं का देवोपम भाव भी धीरे-धीरे विधानों के ईश्वरोपम भाव में परिणत हो चला।[५] फलतः जिन मुख्य देवताओं की कल्पना आर्य पृथक्-पृथक् करते थे, उन्हें वे एक के ही विविध रूप में देखने लगे।[६] जैसे 'हे अग्निदेव, तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इन्द्र हो तथा तुम्हीं अर्यमा होकर स्वामीवत् भी कार्य किया करते

---

१. शशिभूषण दासगुप्त : शाक्त-साधना ओ शाक्त-साहित्य, पृ० १८।
२. द्रष्टव्य—A. B. Keith : Religion and Philosophy of the Vedas : Harvard Oriental Series (1925), p. 143.
३. रामावतार शर्मा : भारतीय ईश्वरवाद, पृ० ८४।
४. ऋग्वेद (१०।१५।७,११)।
५. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर-भारत की संत-परम्परा, प्रयाग, १९५१; पृ० १९।
६. ऋग्वेद (१।१६४।४६)।



हो।'[१] सारांश यह कि इस काल की धार्मिक चिन्ता स्पष्टतः दो रूपों में है—१. यज्ञ के माध्यम से बहुदेवों की पूजा; २. यह दार्शनिक धारणा कि सभी देवों के ऊपर एक परमसत्ता है।[२]

## शक्ति का प्राचीनतम रूप : एक विचार :

देवताओं की शक्ति की कल्पना वैदिक काल में रही होगी, किन्तु वर्त्तमान काल का रूप नहीं रहा होगा। उस समय उन्हें शक्ति के स्थान पर शची कहा जाता था। ऋग्वेद में करीब ग्यारह बार 'शक्ति' शब्द का प्रयोग आया है और उनका इन्द्र से सम्बन्ध प्रत्येक बार दिखलाया गया है। संभव है, इन्द्र की शक्ति शची को बाद में नारी-रूप देकर उन्हें इन्द्राणी के रूप में पत्नी-पद भी दे दिया गया हो। ऋग्वेद ( ३, ६०,२ ) में शची को प्रज्ञा भी कहा गया है। यह 'प्रज्ञा' देवियों का वाचक है और बाद में वाक् का पर्याय हो गया। कहा गया कि इसी 'ज्ञा' से समस्त मन्त्र बने और उससे छन्द प्रकट हुए। कहीं-कहीं यह सर्जनात्मक शक्ति के रूप में भी आया है।[३]

किन्तु, यह स्वीकार करना होगा कि वैदिक शक्तियों में वह देवत्व या मातृरूप नहीं विकसित हुआ और लोक-परम्परा तथा लोकधर्म ने ही बाद में इन शक्तियों को जगज्जननी का रूप दे दिया।

## पृथ्वी देवी एवं सीता का सम्बन्ध :

ऋग्वेद में पृथ्वी का जो मातृरूप हमें दृष्टिगत होता है, उसकी विकसित महिमामयी मूर्त्ति अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में है। उसमें पृथ्वी का मंगलमय, सन्तानवत्सला रूप वर्णित है। पृथ्वी का यह मातृरूप बड़ा ही व्यापक तथा प्रभावशाली है[४], तथा यह विश्वजननी पृथ्वी के प्रति मनुष्य का प्रथम उच्छ्वास है।

---

१. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वामन्दो दाशुषे मर्त्याय ॥ १ ॥
त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधापन गुह्यं विमर्षि।
अज्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि ॥ २ ॥
—ऋग्वेद (मंडल, ५ सूक्त ३)।
२. आर० सी० एम० : दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम, ४, पृ० ३२।
३. एस० के० दास : शक्ति और डिभाइन पावर, पृ० ४।
४. अथर्ववेद (१२।१।२, ३, ६,८,९, २६, ४२ एवं ४६)।

ऐतरेय ब्राह्मण में पृथ्वी को 'श्री' कहा गया है।[1] परवर्त्ती काल की उपनिषदों में पृथ्वी का श्री या सम्पत्ति की देवी के रूप में वर्णन पाया जाता है। पुराणों में धरा पृथ्वी का ही दूसरा नाम है तथा अनेक स्थानों पर पृथ्वी को महाशक्ति या महादेवी के एक विशेष रूप में वर्णित किया गया है।[2] कालिकापुराण में पृथ्वी जगद्धात्री के रूप में राजा जनक के समक्ष प्रकट होती है।[3] वे ही मार्कण्डेय-पुराणोक्त दुर्गासप्तशती में भ्रामरी देवी, शाकम्भरी देवी तथा अन्नपूर्णा के रूप में दिखायी देती हैं। संभव है, पृथ्वी देवी या इनकी पूजा से ही शस्यदेवी या शस्य-पूजा का उद्भव हुआ हो। वर्त्तमानकालीन दुर्गापूजा में भी संभव है, आदिमाता पृथ्वी की पूजा आकर मिल गयी हो।[4] दुर्गासप्तशती के एकादश अध्याय में देवी, देवताओं को वर देती हुई अपने विभिन्न अवतारों की भविष्यवाणी करती हैं—

जब पृथ्वी पर सौ वर्षों के लिए वर्षा रुक जायगी और पानी का अभाव हो जायगा, उस समय मुनियों के स्तवन पर मैं पृथ्वी पर अयोनिजा रूप में प्रकट होऊँगी ( श्लोक ४६ )।

यहाँ एक संभावना यह भी उत्पन्न हो जाती है कि कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता का पृथ्वी देवी से सम्बन्ध बाद में चलकर प्रतिष्ठित कर दिया गया। सीता भूमिजा मानी जाती है तथा साथ ही अयोनिजा भी। 'सीता' शब्द अर्थात् लांगल-पद्धति का वैदिक साहित्य में कई बार उल्लेख हुआ है। कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में सीता में व्यक्तित्व और देवत्व का आरोप किया गया है। कृषि की एकमात्र अधिष्ठात्री देवी न होने पर भी सीता का स्थान प्रधान है। डॉ० बुल्के ने 'रामकथा' में 'सीता' शब्द पर विस्तृत विचार किया है। उनके मतानुसार ऋग्वेद से लेकर गृह्यसूत्रों तक सीता का व्यक्तित्व शताब्दियों तक कृषि करनेवाले आर्यों की धार्मिक चेतना में जीता रहा। वाल्मीकि की रामायण पर भी सीता, कृषि की अधिष्ठात्री देवी का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि इसका रामायण में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, फिर भी अयोनिजा सीता के जन्म और तिरोधान के जो वृत्तान्त मिलते हैं, वे संभवतः वैदिक सीता के व्यक्तित्व से प्रभावित हैं।[5] वैदिक पृथ्वीदेवी

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ५।३।५।
२. श० भू० दा० गु० : भा० शा० सा० ओ शा० सा०; पृ० २३।
३. कालिकापुराण : ३७।२५—२८।
४. श० भू० दा० गु० : भा० शा० सा० ओ शा० सा०; पृ० २३-२४।
एई शस्य-देवी माता पृथिवीरई रूपभेद, सुतरां आमादेर ज्ञाते-अज्ञाते आमादेर दुर्गापुजार भितरे एखनउ सेई आदिमाता पृथिवीर पूजा अनेकखानि मिलिया आछे।—पृ० २६।
५. रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के : रामकथा, पृ० २७।



की पूजा तो आज किसी रूप में अवशिष्ट नहीं दीखती, पर सीता, जो भूमि से ही उत्पन्न हुई और भूमि में ही समाविष्ट हो गयी, आज शक्ति के रूप में पूज्या हैं।

ऋग्वेद में अदिति का उल्लेख आदित्यगणों की माता के रूप में हुआ है। बाद में यही अदिति देवमाता की संज्ञा धारण करने लगती है। किन्तु ऋग्वेद में अदिति का उल्लेख पृथ्वी के रूप में भी है।[1] अथर्ववेद ( ६।१२०।२ ) तथा तैत्तिरीय संहिता प्रभृति ग्रन्थों में पृथ्वी और अदिति एक ही हैं एवं परवर्त्ती काल में अदिति का दक्ष-जननी एवं दक्ष-कन्या दोनों रूपों में उल्लेख पाया जाता है।[2]

### ऋग्वेद का देवी-सूक्त:

साधारणतया आजकल देवी की पूजा के विधान में ऋग्वेद के देवीसूक्त के प्राचीनतम मंत्र का प्रयोग होता है। यह देवीसूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशम अध्याय का १२५ वाँ सूक्त है। यह अम्भृण ऋषि की वाक् नामिका पुत्री की उक्ति है, जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है। ब्रह्मज्ञान होने पर वह स्वयं शक्तिमयी होकर अपने माहात्म्य का उद्घाटन करती हैं :

"मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वे देवगणों के रूप में विचरती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण दोनों को, इन्द्र और अग्नि को तथा दोनों अश्विनीकुमारों को धारण करती हूँ। मैं ही शत्रुओं के नाशक आकाशचारी देवता सोम को, त्वष्टा प्रजापति को तथा पूषा और भग को भी धारण करती हूँ। जो हविष्य से सम्पन्न हो, देवताओं को उत्तम हविष्य की प्राप्ति कराता है तथा उन्हें सोमरस के द्वारा तृप्त करता है, उस यजमान के लिए मैं ही उत्तम यज्ञ का फल और धन प्रदान करती हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी, अपने उपासकों को धन की प्राप्ति करानेवाली, साक्षात्कार करने योग्य परम बल को अपने से अभिन्न रूप में जाननेवाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। मैं प्रपंचरूप से अनेक भावों में स्थित हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहनेवाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं। जो अन्न खाता है, वह मेरी ही शक्ति से खाता है ( क्योंकि मैं ही भोक्तृशक्ति हूँ )। इसी प्रकार जो देखता है, जो साँस लेता है तथा जो कहीं कोई बात सुनता है, वह मेरी ही सहायता से उक्त कर्म करने में समर्थ होता है। जो मुझे इस रूप में नहीं जानते, वे न जानने के कारण हीन दशा को प्राप्त हो जाते हैं। हे बहुश्रुत ! मैं श्रद्धा से

---

१. ऋग्वेद ( १।७२।९ )
२. श० भू० दा० गु—शा० सा० ओ शा० सा०, पृ० १९।

प्राप्त होनेवाले ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करती हूँ। जिस पर मैं प्रसन्न होती हूँ उसे सब की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ। उसी को सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म, परोक्ष ज्ञान-सम्पन्न ऋषि तथा उत्तम मेधाशक्ति से युक्त बनाती हूँ। मैं ही ब्रह्मद्वेषी हिंसक असुरों का वध करने के लिए रुद्र के धनुष को चढ़ाती हूँ। मैं ही शरणागतों की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करती हूँ तथा अन्तर्यामी-रूप से पृथ्वी और आकाश के भीतर व्याप्त रहती हूँ। मैं ही इस जगत् के पितारूप आकाश को सर्वाधिष्ठान-रूप परमात्मा के ऊपर उत्पन्न करती हूँ। समुद्र ( सम्पूर्ण भूतों के उत्पत्ति-स्थान परमात्मा ) में तथा जल (बुद्धि की व्यापक वृत्तियों ) में मेरे कारण ( कारण-स्वरूप ) चैतन्य ब्रह्म की स्थिति है, अतएव मैं समस्त भुवन में व्याप्त रहती हूँ तथा उस स्वर्गलोक का भी अपने शरीर से स्पर्श करती हूँ। मैं कारणरूप से जब समस्त विश्व की रचना आरम्भ करती हूँ, तब दूसरों की प्रेरणा के बिना स्वयं ही वायु की भाँति चलती हूँ, स्वेच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होती हूँ। मैं पृथ्वी और आकाश दोनों से परे हूँ। अपनी महिमा से ऐसी हुई हूँ।[1]

परवर्त्ती काल की देवी-भावना के मूल में इसी सूक्त का महत्त्व माना जाता है। प्रस्तुत सूक्त में ब्रह्म की शक्ति एवं महिमा का आख्यान है। उसी शक्ति की इच्छा एवं शक्ति से सब कुछ सृष्ट हुआ है। यहाँ शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न रूप से संयुक्त हैं। यह सूक्त कोई ऐतिहासिक आधार नहीं देता, पर परवर्त्ती काल में दर्शन की स्थापना के लिए आधार यहीं से मिला होगा, इसमें संशय नहीं।

### वाक्-सूक्त का सरस्वती से सम्बन्ध :

ऋग्वेद (१०, १२५) में वाक् को ब्रह्म-उद्भूत सक्रिय शक्ति के रूप में पाते हैं। पुनः उसी सूक्त के ३ एवं ८ छन्दों में उसका स्त्रीरूप वर्णित है। किसी शक्ति का स्त्रीरूप में वर्णित होना यहाँ पहली बार देखा जाता है। अथर्ववेद के 'इयम् या परमेष्ठिना वाक्देवी ब्रह्म संस्थिता' में वह परमेष्ठिनी के रूप में दृष्टिगत होती है।[2] लगता है, वाक्-सूक्त के द्वारा ऋषियों ने बहुदेव-भावना के ऊपर विश्व की एकात्मकता का भाव प्रतिष्ठित किया हो। क्योंकि दशम मंडल तक आते-आते ऋग्वेद में एक परमसत्ता की व्यापक चिन्ता व्यक्त होने लगती है। सम्भवतः इसी लिए ही पुरुष-देवताओं को प्रजापति में लाकर समाहित कर देते हैं तथा स्त्री-देवियों को वाक् में। द्रष्टव्य है कि वैदिक ऋषि यह विचार भी रखने लगे कि यह

१. अहं रुद्रेभिर्वसुमिचराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। इत्यादि, १—८।
२. अथर्ववेद (१९।९,३)



सृष्टि अग्नि, इन्द्र इत्यादि से उत्पन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म या प्रजापति से उद्भूत है।[1] ऋग्वेद में प्रजापति वाक् के साथ सृष्टि के लिए संयुक्त नहीं है। वह सृष्टिकर्तृ के रूप में अवश्य है।[2] वहीं पर वह प्रार्थना के रूप में भी वर्णित है।[3] ब्राह्मण-ग्रन्थों तक आते-आते वह प्रजापति के साथ पत्नी के रूप में देवों तथा विश्व की सृष्टि करती है। किन्तु, प्रजापति ब्रह्म नहीं है, वह ब्रह्म-उद्भूत है।[4] पुनः वाक् का वाणी से सम्बन्ध मानकर प्रजापति से मनस् का अशरीरी सम्बन्ध स्थापित करने की भी चेष्टा देखी जाती है।[5] उपनिषदों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की वाक् का प्रजापति के संयोग से सृष्टि उत्पन्न करने का भाव यहाँ स्पष्ट हो गया है।[6] श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' के रूप में यह पूर्णरूपेण एक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है, जो बाद में पुण्यानन्द के द्वारा कामकला-विलास की टीका में भी उद्धृत किया गया है।[7]

यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि वाक् का परवर्त्ती शाक्त-साहित्य में स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया है, पर वह किसी मूर्त्ति के रूप में पूजिता नहीं हुई। संहिता-काल में वाक् के रूपों की प्रतीकात्मकता ही माननी पड़ेगी। शाक्त-दर्शन में इसे मातृका-रूप में सम्बोधित किया गया तथा सृष्टि का प्रतीक माना गया।[8] सरस्वती के रूप में वाक् को ही प्रतिष्ठा दी गयी और इसे ही वेदों की जननी माना गया। वही विश्व को नाम-रूप देनेवाली कही गयी हैं। वीणा उनका शब्द है, शुभ्रवस्त्र आकाश और बुद्धि का प्रतीक है। सरस् का अर्थ है गति और वह ब्रह्म को गति देनेवाली कही गयी है।[9]

### उमा-पार्वती :

सुनीतिकुमार चटर्जी इस शब्द का सम्बन्ध एशिया तथा पूर्व भूमध्यसागर के निवासियों के 'मा' शब्द से जोड़ते हैं।[10] बैबिलोनियन भाषा में उम्मू या उमा शब्द

१. ऋग्वेद (१०।१२१।१०)
२. वही, ८।८९।१०
३. वही, १०।११४।८-९
४. शतपथ (६।१।९) में वाक् से प्रजापति द्वारा जल की उत्पत्ति। काठक (१२।५) में ब्रह्म प्रजापति की पत्नी।
५. तैत्तिरीय संहिता (५।५।११)।
६. बृहदारण्यक, १।२।४, १।४।१७, १।२, १५। छान्दोग्य, ३।१२।१
७. कामकला-विलास, श्लोक ५, ७ की टीका।
८. तन्त्रालोक १९२२, चतुर्थ भाग, खण्ड ९, आह्निक १५।
९. S. J. Woodroffee : The Garland of Letters, p. 10.
१०. The Vedic Age. p. 162 (H. C. O. I. P.)

अक्कादी में उम्मी तथा द्राविड़ में उम्मा शब्द प्रचलित हैं, जिनका सम्बन्ध आसानी से उमा से जोड़ा जा सकता है।[१] 'उमा' शब्द संस्कृत का ही है, इसमें संशय है और यह नाम पार्वती के लिए बाद में प्रयुक्त किया जाने लगा, किन्तु यह नाम हिमालय-दुहिता का मूल नाम नहीं है। उनका मूल नाम गिरिजा या पार्वती के रूप में प्रसिद्ध है। डॉ० सुधेन्दुकुमार दास, उमा को मातृरूप में वैदिक उत्स का ही मानते हैं।[२] वैसे उमा को परमेश्वर के समक्ष 'मालिनीविजयोत्तरतंत्र' में स्थान मिला है।[३] लगता है, कालिदास ने ही कथा का स्वरूप निर्धारित करने के लिए लोक-जीवन की कथा से अथवा कल्पना से इस नाम का प्रयोग किया और उमा नाम की युक्ति 'तुमको देखने पर कष्ट होता है, तुम तपस्या न करो' इस अर्थ में निकाली। कालिकापुराण में भी कुमारसम्भववाली व्याख्या की प्रतिध्वनि दिखाई देती है। वाराहपुराण में उमा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा आयी है, जहाँ वे नारायण की शक्ति के रूप में सृष्टि को उत्पन्न करनेवाली दिखायी गयी हैं। किन्तु, उमा के साथ भारतीय जनमानस में उनका कुमारी-रूप ही प्राधान्य पाता रहा है। उमा जगज्जननी भी हैं। वे भगवान् शिव की पत्नी भी हैं, पर यह सब होने पर भी उनका कन्यारूप ही प्रधानता पाता रहा है। यह कन्यारूप मात्र गिरिजा-दुहिता का ही रूप नहीं है, वे कात्यायन मुनि की दुहिता के रूप में कात्यायनी नाम से प्रसिद्ध हैं, जह्नु ऋषि की कन्या के रूप में जाह्नवी एवं नन्दगोप के गृह में अवतरित होनेवाली महामाया के रूप में भी उनका कुमारी-रूप ही दिखलाई देता है। विन्ध्याचल में उनका कुमारी-रूप में पूजा जाना भी यही अर्थ रखता है। तांत्रिकों में भी कुमारी-पूजा का महत्त्व है और आज भी उत्तर-भारत में नवरात्र में ब्राह्मणों की कुमारी कन्याओं को भोजन कराकर वस्त्रादि दिये जाने की परम्परा है।[४]

पार्वती के रूप में देवी का सम्बन्ध स्वभावतः पर्वत से सिद्ध है। दुर्गासप्तशती में जहाँ भी देवी को पार्वती कहा गया है, वहाँ वे पर्वतासीन दिखलायी देती हैं। शतपथब्राह्मण में पार्वती और पर्वत-पुत्री का अर्थ पार्वतेयी शब्द के व्यवहार में देखा जा सकता है।[५] विश्व के धार्मिक इतिहास में कई स्थानों पर हम पर्वत-देवी का

१. S. K. Diksit : Mother Goddess (XX.)
२. "It can easily be seen that this 'motherly conception', a fundamental idea behind the notion of such Goddesses as Uma, Durga, Parvati and Lakshmi etc. is undoubtedly, of Vedic origin.—S. K. Das : Sakti or Divine Power, p. 40.
३. मालिनीविजयोत्तर तंत्र, प्रथम अधिकार, श्लोक ८।
४. द्रष्टव्य : श० सा० ओ शा० सा०, पृ० ४०।
५. शतपथ ब्राह्मण (१।५।१५—१७)।



उल्लेख पाते हैं। ये ऐतिहासिक प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उमा की देवीरूप में प्राचीन भावना विद्यमान थी और यह परम्परा से लोक-प्रसिद्ध देवी के रूप में पूजिता रही होगी। पर्वतवासिनी होने के कारण उमा एवं पार्वती का सम्मिलन हो गया और जनश्रुति ने इनके साथ सिंह को भी वाहन के रूप में जोड़ दिया।[१]

### सती :

इस चर्चा में शिव-पत्नी सती का भी प्रसंग-रूप में उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। सती के विषय में कथा सर्वविदित है। विष्णु के चक्र से उनके शरीर के ५१ खण्ड हो गये और जहाँ-जहाँ वे अंश गिरे, वहाँ शक्ति-पीठ बन गये। सती का यह आख्यान रोचक तो है, पर उनकी पूजा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सती का यह आख्यान शिवपुराण के सती-खण्ड में वर्णित है, जिसका आधार लेकर गोस्वामी जी ने मानस की शिव-सम्बन्धी कथा का प्रणयन किया है। इसी पुराण के आधार पर दक्ष-यज्ञ के कारण सती को प्रसिद्धि मिली और पतिपरायणा होने के कारण साध्वी नारी के रूप में वे सती के नाम से विख्यात हो गयीं। सती को, किन्तु दस महाविद्याओं में प्रतिष्ठा मिली है[२] और ५१ शक्ति-पीठों में भी उनका स्थान है। जो भी हो, सती की कल्पना अर्वाचीन ही है।

### दुर्गा :

'दुःखेन गम्यते या सा दुर्गा' अर्थात् जो बड़ी कठिनाई (तपस्या) के बाद प्राप्त हो, उसे दुर्गा कहते हैं। दुर्गा के विषय में लक्ष्य करने योग्य है कि उनका रूप सौम्य नहीं है। असुर-विनाशिनी के रूप में ही उनकी प्रसिद्धि है। ऋग्वेद में दुर्गा की कल्पना यज्ञ की वेदी के रूप में है और खिल-सूक्त में दुर्गा-सूक्त भी है। खिल-सूक्त का अन्तिम मंत्र ज्यों-का-त्यों तैत्तिरीय आरण्यक एवं महानारायणोपनिषद् में भी मिलता है—

**तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीम्**
**वैरोचनी कर्मफलेषु जुष्टाम्।**
**दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये**
**सुतरसि तरसे नमः॥**[३]

१. श० भू० दा० गु० : भा० शा० सा० ओ शा० सा०, पृ० २८।
२. महानिर्वाणतंत्र (४।१३।१४)।
३. तैत्तिरीय आरण्यक, १०।२; महानारायणोपनिषद् (६।३)।

वाजसनेयी संहिता में दुर्गा रुद्र की भगिनी के रूप में कही गयी है, किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक में वे रुद्र की पत्नी हैं। रुद्र के महादेव और शिवरूप हो जाने पर दुर्गा भी उमा-अम्बिका-रूपिणी हो जाती हैं। तब रुद्र भी उमापति या अम्बिकापति कहलाने लगते हैं।[1] दुर्गा भवसागर को पार करने के निमित्त नौका के समान कही गयी हैं।[2] पुनः दुर्गम नामक असुर का वध करने के फलस्वरूप भी उनके दुर्गा नाम की प्रसिद्धि कथित है :

**तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्**
**दुर्गा देवीति विख्यात न मे नाम भविष्यति ।।**[3]

पौराणिक आधारों पर दुर्गा का दुर्ग से भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। खिल-हरिवंश में अनिरुद्ध की स्तुति पर दुर्गा आकर उन्हें दर्शन देती हैं।

**एवं स्तुता महादेवी दुर्गा दुगपराक्रमा ।**
**सान्निध्यं कल्पयामास अनिरुद्धस्य बन्धने ।।**[4]

महाभारत में भी दुर्गा के दो स्तवन प्रसिद्ध हैं—एक विराट्पर्व में युधिष्ठिर-कृत दुर्गास्तिव तथा दूसरा भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण के उपदेश देने पर अर्जुनकृत दुर्गास्तव। युधिष्ठिर द्वारा स्तवन में वे महिषमर्दिनी एवं विन्ध्यवासिनी के रूप में दिखलायी देती हैं तथा अर्जुनकृत स्तवन में वे ब्रह्मरूपिणी, सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कारिणी, मुक्तिस्वरूपा जननी के रूप में कथित हैं।

महाभारत में पार्वती उमा का स्वतन्त्र देवी के रूप में उल्लेख नहीं है। जहाँ भी उनका उल्लेख है, वहाँ शिवपत्नी के ही रूप में ही हुआ है। और, महाभारत के परिशिष्टांश खिलहरिवंश में दुर्गा ब्राह्मणों में भी पूजिता थीं—ऐसा सहज विश्वास नहीं होता। देवी उस समय शवर, पुलिन्द एवं बर्बरों में ही पूजिता रही होंगी। दुर्गा और पार्वती उमा का संयोग भी पुराणकाल में ही हो गया—ऐसा अनुमान असत्य नहीं होता दीखता।[5]

---

१. रा० श० : भारतीय ईश्वरवाद, पृ० ४३०।
२. दुर्गासप्तशती, ४।११, ५।१२।
३. सप्तशती, ११।४९-५०।
४. खिलहरिवंश (१२०-३५); अन्यत्र भी देवीपुराण (८३।६२, ६३), देवीभागवत (३।२४।५,६)।
५. श० भू० दा० गु० : भा० शा० सा० ओ शा० सा०, पृ० ४९।



देवी के सौम्य एवं रुद्र-रूप को देखकर यह प्रतीत होता है कि शिव के सौम्य रूप के साथ उनका पार्वती उमा का रूप लोकप्रिय रहा, जिसमें वे कुमारी, पत्नी और अन्ततः माँ का रूप धारण करती रहीं और शिव के रौद्र रूप के समकक्ष उनका असुरविनाशिनी करालीका रूप लोकप्रिय हुआ।

### चण्डी या चण्डिका :

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत देवी-माहात्म्य के द्वादश अध्याय में चण्डी का वर्णन आया है। वहाँ वे प्रचण्ड पराक्रमवाली होने के कारण चण्डिका के रूप में वर्णित की गयी हैं।[1] इसमें देवी की अनेक नामों से स्तुति की गयी है। यहाँ इनका वाहन सिंह है।[2] किन्तु एक बात हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है कि वे यहाँ विष्णु की शक्ति के रूप में वर्णित की गयी हैं, शिव के साथ उनका संपर्क नहीं है।[3] इस कथा के मूल में केनोपनिषद् की कथा मानी जाती है जब देवताओं का गर्व दूर करने के निमित्त देवी का प्रादुर्भाव होता है।[4] यह कथा मार्कण्डेयपुराणोक्त देवी-माहात्म्य में अपना पूर्ण स्वरूप-विस्तार कर बाद में इतनी लोकप्रिय हो जाती है कि चण्डी या दुर्गा का महिषमर्दिनी रूप पूजित होने लगा। ऋग्वेद (८।१२।८) की टीका में साधनाचार्य ने महिष का अर्थ महान् असुर ही माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी शब्द का भ्रम आगे चलकर पशु के रूप में साकार हो गया। विद्वानों ने इस देवी की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनुमान लगाये हैं और उनका सम्बन्ध भूमध्यसागर की भर्गो (Virgo) देवी से जोड़ने की चेष्टा की है।[5] किन्तु 'चण्डी' शब्द के उत्स में उनका पराक्रमवाला रूप ही महत्त्वपूर्ण मालूम होता है। विभिन्न नामों का स्मरण करने के भ्रम में उनके लिए प्रयुक्त विशेषणों के आधार पर भी नये-नये नामों की सृष्टि की जाने लगी और देवी का यह रूप भी लोक-भावना की उपज के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

### रात्रि-सूक्त तथा कालीदेवी :

पार्वती, उमा, सती एवं दुर्गा की धाराएँ आकर पुराणों एवं तंत्र-ग्रन्थों में मिलकर एक महादेवी का रूप धारण कर लेती हैं। अनेक देवताओं के भीतर एक

---

१. देवीमाहात्म्य, द्वादश अध्याय, ३२।
२. वही, ११।५ : त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या ।
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।। इत्यादि ।।
३. देवीमाहात्म्य, ११।५ : त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या ।
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।। इत्यादि ।।
४. केनोपनिषद्, खण्ड ३।
५. द्रष्टव्य—'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' पत्रिका (२५-१०-५९) : दुर्गादास-लिखित दुर्गापूजा पर निबन्ध।

तत्त्व की प्रतिष्ठा की चेष्टा देवी के साथ भी घटित हुई है। किन्तु उपरिलिखित प्रवहमाण विभिन्न देवियों की धाराओं के साथ एक धारा काली की भी आकर मिल जाती है। इस प्रसंग में विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि ऋग्वेदोक्त रात्रिसूक्त ही इसका मूल रहा होगा। ऋग्वेद में रात्रि को पराचिच्छक्तिरूपा कहा गया है, जो ब्रह्मविद्यामयी उषादेवी को प्रकट करनेवाली है और इससे अविद्या-रूपी अज्ञानान्धकार का नाश हो जाता है।[1] इस प्रसंग में वैदिक निर्ऋति देवी का भी नाम लिया जा सकता है, जिनका उल्लेख शतपथ एवं ऐतरेय ब्राह्मण में हुआ है।[2] निर्ऋति देवी का स्वरूप भी घोर कृष्ण है। बाद में किन्तु इस देवी का उल्लेख नहीं पाया जाता है।[3] मुण्डकोपनिषद् में, जो अथर्ववेद के मन्त्रभाग के अन्तर्गत है, अग्नि की सप्त जिह्वाओं का उल्लेख है, जिसमें काली नाम का उल्लेख है :

**काली कराली च मनोजवा च**
**सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।**
**स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी**
**लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥[4]**

किन्तु इस वर्णन में काली के मातृ-तत्त्व का आभास नहीं मिलता। महाभारत के शौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा द्वारा पाण्डवपुत्रों की हत्या के प्रसंग में अश्वत्थामा का काली के समान भयंकर रूप में वर्णन हुआ है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि काली रक्तास्तनयना, रक्तानुलेपित, पाशहस्ता एवं भयंकरी थीं। काली का भीषण रूप संहार का प्रतीक माना जाता है और इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत-काल तक काली के इस रूप की जनसाधारण में प्रतिष्ठा हो चली थी। मार्कण्डेयपुराणोक्त देवीमाहात्म्य में ब्रह्मा द्वारा देवी की स्तुति तन्त्रोक्त रात्रि-सूक्त ही है।[5] बाद में तन्त्र-ग्रन्थों में काली का दार्शनिक रूप दिखलायी देता है।

**परापरात्मा कालश्च परः संविदि वर्त्तते ।**
**काली नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥[6]**

१. निरु स्वसारमस्कृतोषसं देवपती ।
अपेदुहासते तमः ॥ (ऋ० मं० १०, अ० १०, स० १२७, मंत्र ३) ।
२. शतपथब्राह्मण, ७।२।७; ऐतरेय ब्राह्मण ४।१७ ।
३. श० भू० दा० गुप्त : भा० शा० सा० ओ शा० सा०; पृ० ६४ ।
४. मुण्डकोपनिषद्, मु० १, खं० २, श० ४ ।
५ देवीमाहात्म्य, प्रथम अध्याय, श्लोक ७१ से ८७ तक ।
६. तन्त्रालोक, बम्बई, १९२०, आह्निक ६, श्लोक ७ ।



काली दस महाविद्याओं में प्रथम महाविद्या हैं, इसलिए इन्हें प्रथमाशक्ति और आद्याशक्ति कहते हैं।[1] देवीमाहात्म्य के सातवें अध्याय में भगवती अम्बिका के मुख का क्रोध से काला हो जाने का उल्लेख है और उसी समय उनसे काली की उत्पत्ति होती है। असुरों का विनाश करने के उपरान्त दशम अध्याय में अन्य देवी-शक्तियों के साथ-साथ काली भी भगवती अम्बिका के शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं। इस उपाख्यान से ऐसा लगता है कि काली के भयंकरी रूप से भय-निवारण करने के निमित्त उनको अन्य देवियों के साथ एक मातृदेवी के साथ संयुक्त कर दिया गया। यह निश्चय ही अनेक देवियों के साथ काली के सम्मिलन की चेष्टा मानी जानी चाहिए। सम्भव है, कालीदेवी की इस काल में प्रसिद्धि रही हो और इसीलिए ब्राह्मण-धर्म ने हिमालयवासिनी देवी के साथ उनका संयोग कराने की दिशा में ऐसा प्रयत्न किया हो।[2]

### रुद्र का देवी से सम्बन्ध :

इन मातृदेवियों की चर्चा के साथ यहाँ रुद्र एवं शिव पर भी किंचित् विचार करना आवश्यक हो जाता है। ऋग्वैदिक रुद्र-भावना तथा श्वेताश्वतर के व्यवस्थित शैवमत की कड़ी के रूप में अथर्ववेद में रुद्र एवं शिव की कल्पना विद्यमान है।[3] रुद्र का धात्वर्थ है—रोदयतीति रुद्रः—जो रुलाता है वही रुद्र है। संकटावस्था का कारण यही रुद्र हैं तथा संकट-समाप्ति पर ये ही शिव अर्थात् कल्याणकारी हो जाते हैं। अतः रुद्र से कष्टकारी भाव तथा शिव से कल्याणकारी भाव समय के साथ-साथ विकसित होते रहे।[4] अथर्ववेद में रुद्र को शुभाकांक्षाओं की स्थापना के अनुरूप नये नाम मिले और इन नये नामों की शक्तियाँ भी स्वतन्त्र देवता के समान वन्दिता हुईं। अथर्ववेद में रुद्र की भावना सर्वनाशक[5] के रूप में मिलती है तथा उनको एक लोकप्रिय देवता के रूप में ही अपनी प्रत्यक्ष शक्ति के कारण एवं अपने प्रकोप के आतंक के कारण उत्कर्ष मिला और महादेव की उपाधि मिली।[6] अपने सौम्य रूप में रुद्र का आह्वान व्याधिनाश के लिए किया

१. द्रष्टव्य—डॉ० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या, काली-प्रकरण, पृ० १८३ ।
२. श० भू० दा० गु० : भा० शा० सा० ओ शा० सा०; पृ० ६७ ।
३. A. D. Pusalkar : The Vedic Age; p. 439.
४. इस रूप में रुद्र का सम्बन्ध पेड़-पौधों से ही है और सन्तान के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है। द्रष्टव्य—ऋग्वेद (१।१४३।६) ।
५. उसका शर विषधर होता है और उससे व्याधियाँ फैलती हैं। प्राणिमात्र को उससे डर लगता है।—अथर्ववेद (६।९०।१) ।
६. डॉ० यदुवंशी : शैवमत (१९५५), पृ० ९-१० ।

गया है तथा उनकी औषधियों को ठंढा एवं रोगनाशक बताया गया है।[1] ब्राह्मण-ग्रन्थों में रुद्र का भयावह रूप समाप्त हो गया और महादेव, पशुपति, ईशान एवं शिव आदि नामों को प्रिय माना गया। किन्तु रुद्र का जो भयावह रूप स्वभावगत्या आ गया था, वह शिव कल्याण भी एकदम न मिटा सका। पारस्कर-गृह्यसूत्र में देखते हैं कि देवी के नामों से इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी नाम भी आये हैं[2] और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में 'देवस्य पत्न्ये स्वाहा' के मंत्र से हवि देने का उल्लेख है।[3] इन गृह्यसूत्रों में रुद्र की पत्नी एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। रुद्र की मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा के साथ-साथ स्त्री-देवता के पूजन की विधियाँ बतायी गयी हैं और पहली बार उनको दुर्गा कहा गया है।[4] इस देवी की आर्या, भगवती, देवसंकीर्त्ति आदि अनेक उपाधियाँ हैं तथा उन्हें महाकाली, महायोगिनी, शैलधारिणी भी कहा गया है। पुनः उन्हें महापृथ्वी की भी संज्ञा दी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि इस देवी को उच्च कोटि का देवता माना जाता था। दूसरी ओर, एक अन्य उपाधि 'मनोगमा' इस तथ्य का संकेत करती है कि देवी के दार्शनिक स्वरूप का भी विकास हो रहा था और इस रूप में देवी के साक्षात्कार के लिए ध्यान और योगाभ्यास आवश्यक थे।[5]

### देवी का शक्तित्व :

संभवतः इस समय तक इस देवी का उपनिषदों की शक्ति से तादात्म्य हो गया था। यहाँ तक ही नहीं, उसकी एक उपाधि 'महावैष्णवी' से पता लगता है कि इस समय तक इस देवी को मात्र रुद्र की ही शक्ति नहीं, अपितु अन्य देवताओं की शक्ति भी माना जाता था। श्वेताश्वतर में रुद्र शिव का माहात्म्य पूर्णरूपेण विकसित हो पूर्ण ईश्वरत्व के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका था। केनोपनिषद् की ब्रह्मशक्ति हेमावती उमा शैव-भागवतों के बीच शिववल्लभा बन गयी।[6] इस प्रकार एक वैयक्तिक देवता की उपासना के साथ-साथ मातृभावना का उद्भव हो जाता है।

---

१. अथर्ववेद, ६।४४।३, ६।५७।१, ९।१०।९
२. पारस्कर-गृह्यसूत्रम् (३।८।१०), बम्बई (१९१७)।
३. द्रष्टव्य—रा० श० : भारतीय ईश्वरवाद, पृ० ४११।
४. बोधायन गृह्यसूत्र (३।३।३)।
५. यदुवंशी : शैवमत, पृ० ४९।
६. रा० श०—भारतीय ईश्वरवाद, पृ० ४१५।



### देवी-पूजा का काल-निर्धारण :

जनमानस की धारा का चित्रण करने में स्वभावतः यह कठिनाई उपस्थित होती है कि वह खण्ड-खण्ड नहीं। एक धारा के समानान्तर अनेक धाराएँ प्रच्छन्न रूप में चलती रहीं, जो समय पाकर उठती-उभरती परम्परा को जीवित रखती गयीं। अथर्ववेद के आधार पर विद्वानों का मत है कि अथर्ववेद में प्रचलित जन-विश्वास, शिक्षा, कला-कौशल, चिकित्सा, जादू-टोना सभी का वर्णन है।[1] यह जन-विश्वास अन्धविश्वास अथवा परम्परा की सूचना देनेवाला है। वैदिक बहुदेववादी भावना और यज्ञोपासना के समानान्तर प्रचलित लोकविश्वास भी, जिसे अनार्य या बहुजाति-मिश्रित विश्वास कहना चाहिए, अपना प्रभाव प्रक्षेपित करता रहा। अनेक देवता, जो ऋग्वेद में अप्रधान थे, कालक्रम से प्रधान बनते गये। विष्णु एवं रुद्र प्रधान हो जाते हैं। रुद्र के लिए शिव, गिरीश, पशुपति, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, भव, शर्व, महादेव आदि नाम प्रयुक्त होते हैं।[2] अम्बिका, जो रुद्र की बहन के रूप में हैं, आगे चलकर पत्नी के रूप में होती हुई महामातृका के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। साथ-साथ अन्य मातृकाएँ भी आकर इसमें समाविष्ट हो जाती हैं।[3] उमा, पार्वती (हेमवती) का उल्लेख भी तैत्तिरीय आरण्यक एवं केनोपनिषद् में मिलने लगता है।[4] हुविष्क के समय के सिक्कों पर उमा की आकृति बनी मिलती है, जिससे यह पुष्ट प्रमाण मिल जाता है कि उमा की पूजा उस काल में प्रचलित थी। गान्धार देश में भी शिव-शक्ति की पूजा का प्रमाण अजेस प्रथम[5] के सिक्कों से मिलता है, जिस पर मुद्रित सिंहासना मूर्त्ति सम्भवतः दुर्गा की ही लगती है। विद्वानों की राय है कि पर्वत से शिव-उमा का सम्बन्ध होने का कारण सम्भवतः यही हो कि वे किरातों इत्यादि के इष्टदेव रहे हों। महाभारत में भी शिव किरात के रूप में अर्जुन के समक्ष आते हैं। बाद में मार्कण्डेय पुराणोक्त दुर्गासप्तशती के फलस्वरूप उनकी प्रसिद्धि बढ़ गयी हो। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ३ ई० पू० के आसपास मातृदेवी की पूजा का पर्याप्त प्रचलन रहा होगा।

### उपनिषदोत्तर काल में धार्मिक लहरें :

उपनिषदोत्तर काल में विभिन्न धाराओं से साक्षात् होता है, जो नयी दिशाओं में प्रवहमाण थीं। एक ओर भक्ति और पूजा की महत्ता ज्ञान एवं ध्यान की अपेक्षा

---

१. धर्मवीर भारती : सिद्ध-साहित्य (१९५५), पृ० ११७।
२. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० ४९३।
३. H. D. Bhattacharya : H. C. O. I. P., Vol. 3, pp. 466-67; Bombay, 1960.
४. कनिष्क का उत्तराधिकारी, नागार्जुन का समकालीन, द्वितीय शताब्दी के लगभग।
५. ५० ई० पू० से ३० ईसवी तक राज्य करनेवाला इण्डो-सीथियन राजा।

जोर पकड़ने लगी, जिनमें दैनिक सदाचार का महत्त्व बढ़ा दीखता है। पशु-जीवन के प्रति संरक्षणात्मक भावना का विकास दिखलाई देता है तथा याज्ञिक जीवन के प्रति अरुचि स्पष्ट हो जाती है। गौतम बुद्ध (५३२—४८७ ई० पू०) तथा वर्द्धमान महावीर (४९७—४६७ ई० पू०) का आविर्भाव एक युगान्तर-व्यापी घटना के रूप में होता है, जिससे पूरे समाज में खलबली उत्पन्न हो जाती है। दोनों के सिद्धान्त क्रान्तिकारी थे, जो प्रचलित विश्वासों से मेल नहीं खाते थे। इसके साथ-साथ भागवत धर्म का भी उदय हुआ, जिसने एक नया स्वर भरने की चेष्टा की।

### भागवत मत :

वैष्णव-धर्म की प्राचीनतम संज्ञा भागवत धर्म तथा पाञ्चरात्र मत है। षट् ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण विष्णु ही 'भगवत्' शब्द से अभिहित किये जाते हैं और उनकी भक्ति करनेवाले साधक 'भागवत' कहलाते हैं।[1] यद्यपि कृष्ण वासुदेव को, जो भागवत धर्म के जन्मदाता हैं, ऐतिहासिकता में पर्याप्त भ्रम है, किन्तु हाल की गवेषणा से यह सिद्ध हो चुका है कि वे ब्राह्मण-काल में क्षत्रियों के सात्वत या वृष्णि-कुल में उत्पन्न हुए थे, जिनका प्राचीनतम प्रमाण छान्दोग्य-उपनिषद्[2] में है और इसके आधार पर कहा जा सकता है कि कृष्ण छठी शताब्दी के पूर्व अवश्य हुए थे।[3]

ये तीन धार्मिक सम्प्रदाय तत्कालीन प्रचलित धर्म-भावना के समक्ष विद्रोही स्वर हैं। यह विचारणीय संयोग है कि ये तीनों विभूतियाँ जनतांत्रिक कुलों या गणों में उत्पन्न हुई थीं—शाक्य, लिच्छवि एवं सात्वत। पुनः ये तीनों कुल भारतवर्ष के ऊपरी भूभाग के ही हैं, जहाँ वैदिक संस्कृति का गढ़ था। अतः यह धारणा अनायास बँधने लगती है कि यह काल मानसिक क्रान्ति का काल था, जिसमें वैदिक यज्ञ-परतन्त्रता की ऊब परिलक्षित होती है। यही कारण है कि इस समय विचार-स्वातंत्र्य एवं जिज्ञासावृत्ति का उदय हुआ। इसे हम बौद्धिक सक्रियता का काल कह सकते हैं। इस काल में नये विचारों एवं स्थापनाओं की बाढ़ के फलस्वरूप नये-नये मत एवं धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित हुए।[4] भागवत धर्म ने यज्ञ के स्थान पर भक्ति को प्रतिष्ठा दी।

### बौद्ध-मत :

बौद्ध-मत ने आचारवादी जीवन-यापन से निर्वाण-प्राप्ति का सन्देश दिया। यह एक नया जीवन था, जिसमें पूर्ण शान्ति थी, निर्भयता थी, मृत्यु-भय पर

१. बलदेव उपाध्याय : भागवत-सम्प्रदाय, १९५३; पृ० ९३।
२. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।६
३. R. C. M. : The Cultural Heritage of India; Calcutta, 1956; p. 37.
४. R. C. M. : H. C. I. P., Vol. 3, p. 373.



विजयोल्लास था, अमृतत्व की दृढ़ धारणा थी और तृष्णा से रहित योग-क्षेम था। इसमें वेदों का ईश्वरीय होना अस्वीकार किया गया तथा प्रचलित जाति-व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया गया।

### जैन-मत :

जैनधर्म ने अहिंसा को प्रधान माना, कृच्छ्र-साधना को महत्त्व दिया और अन्धविश्वासों के त्याग पर जोर दिया। जैनधर्म ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार की अवहेलना की। इन दोनों धर्म-सम्प्रदायों के विषय में एक बात अवश्य महत्त्व की है कि इन्होंने लोकभाषा में अपने उपदेशों का प्रचार किया। बौद्धों का मूल साहित्य पालि में है और जैनों का प्राकृत तथा अपभ्रंश में, किन्तु बाद में संस्कृत में भी ग्रन्थ लिखे गये। जैन-साहित्य की अधिकता के ही कारण प्राकृत को जैन-प्राकृत भी कहा जाता है और बुद्ध-वचन की विशिष्टता के कारण बौद्ध-वाङ्मय की भाषा को पालि अर्थात् बुद्ध-वचन कहा जाता है।[1] किन्तु यह नहीं कि इस प्रबल विरोध के समक्ष ब्राह्मण-धर्म पिस गया हो।

पूर्व-मीमांसा-दर्शन ने वैदिक यज्ञ-पद्धति का नवीन शोधन किया और उसका दार्शनिक पक्ष प्रस्तुत किया। शैवमत भी ब्राह्मण-मत के अन्तर्गत एक आस्तिक दर्शन के रूप में स्वीकृत हो गया। कृष्ण का वैदिक देवता विष्णु के साथ योग कराकर अपने में मिलाने की चेष्टा की गयी। इस पुनर्गठित धर्म को प्रचारित करने के लिए रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की रचना की गयी। किन्तु इसके साथ बौद्ध एवं जैनधर्म को मिलाने की कोई चेष्टा नहीं दिखलाई पड़ती। उसे एक ओर ही छोड़ दिया गया।

इस पृष्ठभूमि में मातृ-भावना भी विकासशील रही। पर उसे ब्राह्मण-धर्म में पूर्ण प्रवेश नहीं मिला था। गृह्यसूत्रों से ज्ञात होता है कि ऋषियों को देवी की उपासना के लिए मंत्र भी उपलब्ध नहीं थे।[2] शिव के साथ-साथ शिव की पत्नी का आप-से-आप ब्राह्मण-धर्म में समावेश तो हो गया, किन्तु उसका स्वरूप अभी उभरा न था।

बौद्ध एवं जैनधर्म की अवनति के साथ-साथ ब्राह्मण-धर्म का अभ्युदय होने लगा। किन्तु यह ब्राह्मण-धर्म कट्टर ब्राह्मण-धर्म नहीं था, जिसे वैदिक मत के अवशेष के रूप में स्वीकृत किया जाय। इसमें अन्यान्य मत (शैव, शाक्त, वैष्णव आदि) आकर मिल गये थे। इन सभी मतों का पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय के रूप में अस्तित्व

१. भरतसिंह उपाध्याय : पालि-साहित्य का इतिहास, पृ० १; सन् १९५३ ई०।
२. डॉ० यदुवंशी : शैवमत, पृ० ४९।

था, किन्तु जैन और बौद्धधर्म से स्पष्ट अन्तर का भाव रखने के फलस्वरूप ये एक बृहद्धर्म की परिधि में आ जाते हैं। इनकी आस्था एवं विश्वास का स्पष्ट रूप पुराणों एवं स्मृतियों में मिलता है।[१] स्मृतिग्रन्थों ने प्राचीन गृह्यसूत्रों से सम्बन्ध बनाये रखा, जिससे वैदिक विधि और आचार का निर्वाह होता रहा। प्रायः प्रत्येक देवता को प्रचारित करने के निमित्त पुराण लिखे गये, जिनमें धर्म की महत्ता स्थापित की गयी और पृष्ठभूमि में दार्शनिक तथ्यों का प्रतिपादन किया गया।

## धार्मिक सम्मिलन की चेष्टा :

इस सम्मिलन की चेष्टा का स्पष्ट रूप त्रिमूर्त्ति में देखा जा सकता है। त्रिमूर्त्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के उपासकों ने पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण इनमें से प्रत्येक के स्वरूप को पुरातन सिद्धान्तों से सम्बद्ध रखने की पूरी चेष्टा की। इस कारण प्राचीनतम धारणाओं के द्योतक पद, विशेषण एवं आख्यान ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के साथ उनके गुण एवं महिमा-गान में यथाप्रसंग प्रयुक्त होते रहे, किन्तु इस यत्न में वैदिक साहित्य की उपमाओं एवं रूपकों को पुराणों के समय तक स्पष्ट अतिशयोक्ति का स्वरूप ग्रहण करना पड़ा।[२] ब्रह्मा को, जो ज्ञान के अधिष्ठाता माने जाते हैं, वह प्रसिद्धि न मिली और पूजा का वह स्थान न मिला, जो शिव एवं विष्णु को, किन्तु निर्गुण परमात्मा के त्रिगुणात्मक रूप धारण करने पर उनकी तीन शक्तियाँ महासरस्वती, महालक्ष्मी एवं महाकाली स्वीकृत हो गयीं।[३] विष्णु एवं शिव दोनों की, अपने-अपने सम्प्रदायों के बल पर प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि होती रही। लोक-पोषक विष्णु की जनप्रियता का कारण लोक-समृद्धि का सामान्य भाव हो सकता है। शिव की संहारिका शक्ति के कारण शिव को प्रसन्न रखना अनिष्ट-निवारणार्थ आवश्यक रहा होगा। लोक-जीवन की निरापदता के लिए विष्णु एवं शिव की प्रधानता इतनी बढ़ गयी कि कालान्तर में स्कन्द-उपनिषद् में दोनों का सम्मिलन 'हरि-हर' के रूप में हो गया।

षड्दर्शन भी परस्पर विरोध-भाव नहीं रखते थे। ये सभी उसी चिरन्तन सत्य को उद्घाटित करने की चेष्टा करते हैं। इनकी ऐक्य-भावना का पता 'प्रबोध-चन्द्रोदय' (संस्कृत नाटक)[४] के एक दृश्य में है, जहाँ बौद्धों एवं जैनियों को एक ओर तथा वैष्णव, शैव, सौर एवं षड्दर्शन-शाखा के पण्डितों को दूसरी ओर रखकर

---

१. द्रष्टव्य : R. C. M. : H. C. I. P., Vol. 3, p. 370.
२. भारतीय ईश्वरवाद : रामावतार शर्मा; १९३६, पृ० ३६१।
३. वही, पृ० ४३०।
४. ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तर-भाग में चन्देल-राजा कीर्त्तिवर्मण के राज्य-काल में लिखित।



शास्त्रार्थ कराया गया है। इस प्रकरण से हिन्दूधर्म की मूलभूत एकता का पता लगता है। पुनः सांख्य-दर्शनकार विज्ञान भिक्षु (१५वीं शताब्दी) भी षड्-दर्शनों की एकता को स्वीकार करते हैं।[१] सांख्य के ज्ञानवाद[२] के साथ तपोविद्या का मेल हो जाने से योग-मार्ग का भी आरम्भ हुआ, जिसके आदिप्रवर्त्तक जैगीषव्य माने जाते हैं।[३] यह ईश्वरवादी तपश्चर्या तथा सदाचरण को महत्त्व देनेवाला मार्ग था। शैवमत में भी इस समय विभिन्न सम्प्रदाय हो गये। इस काल का सिंहावलोकन करते हुए कहा जा सकता है कि इस पुराण-काल में प्राचीन व्यवस्थाओं के संरक्षणार्थ पुराणों की सृष्टि की गयी। शैव-आस्तिकवाद भी आगमों में प्रतिपादित हुआ है। उपासना के भीतर तन्त्रोपचार का समावेश किया गया तथा वैदिक देवताओं के नर-रूपोपम भाव की पुनरावृत्ति होने लगी और पुराने ऐकान्तिक धर्म का भागवत धर्मवाला रूप वैष्णव-धर्म में परिणत हो गया। उन सभी का प्रभाव बहुत कुछ जैन और बौद्धधर्म पर पड़ा और तत्कालीन वातावरण के अनुरूप उन्होंने अपने रूप मर्यादित किये। तीर्थंकरों तथा बोधिसत्त्वों के अनुकरण में भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना की जाने लगी और उनकी लीलाओं का वर्णन हुआ।

## आगम की लहरें :

भारतीय संस्कृति में आगमिक धारा की लहर अनायास उठने लगती है। आगम का अर्थ है—वह शास्त्र, जिसका सगुण ईश्वर की पूजा पर आधारित उपनिषदोत्तर काल में (वैदिक आचार के ह्रास के काल में) सर्वजाति को शरण देने के निमित्त प्रचार हुआ।[४] इसे तर्क पर आधारित नियोजित ज्ञान कहा गया।[५] आगम तंत्र का द्योतक है। तन्त्रों का आगम नाम सर्वथा उपयुक्त है। लोक-प्रचलित, आदिम परम्पराओं पर आधारित अनुष्ठान उच्चवर्गीय चिन्तना में आये। वे शुद्ध वैदिक दृष्टि से बाहरी तत्त्व थे और कालान्तर में विदेशी साधनाएँ भी उनमें समाहित होती रहीं।[६] एक यह भी विचार है कि शिव ने गिरिजा को जिस ज्ञान का रहस्योद्घाटन किया, वह आगम तथा गिरिजा ने शिव को जो उद्घाटित किया, वह निगम कहलाया। तंत्रों की साधना-पद्धति नितान्त रहस्यमयी तथा गूढ़ है और उनके

---

१. R. C. M. : The Cultural Heritage of India, Vol. 4, p. 50.
२. सांख्य में पुरुष-प्रकृति के संयोग से सृष्टि के मूल में आदि मिथुन-भावना को उदात्त बनाने का प्रयास मानना सत्य से अधिक दूर नहीं होना चाहिए।
३. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ० २१।
४. S. J. Woodroffe : Shakti and Shakta (1959), p. 53.
५. बलदेव उपाध्याय : हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास, सं० २०१४ वि०, पृ० ५००।
६. धर्मवीर भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० ११९-२०।

दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्रांजल हैं जितने षड्दर्शनों के तथा उनकी साधना-पद्धति फलतः उतनी ही पवित्र और उपादेय है जितनी वेदों की।[१]

आगम का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वैदिक, अवैदिक, वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन—सभी सम्प्रदायों ने तान्त्रिक सृष्टि-तत्त्व, देवमण्डल, यन्त्र-विधान, मन्त्र-साधना एवं हठयोगी साधनाओं को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रश्रय दिया।[२] जीवन के प्रति तन्त्र की अपनी विशिष्ट दृष्टि रही। तन्त्रों में मुक्ति एवं भुक्ति दोनों की प्राप्ति का यत्न रहा है। इसके साथ उसने जीवन का एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखा, जीवन की समग्रता का पक्ष ग्रहण किया। इसने आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिए नर एवं नारी के सामंजस्य को प्रधान माना। इसके लिए उसने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का आधार लेकर मानव की अनुद्बुद्ध विचारधारा को चेतन स्तर पर लाने की चेष्टा की। उसकी स्थापना थी कि इससे मानव का समग्र रूप में विकास तथा अभीष्ट की भी सहज प्राप्ति संभव है।

## तन्त्र के भेद :

उपास्य देवता के भेद से तन्त्र तीन प्रकार के माने जाते हैं :

(१) वैष्णव-आगम—पाञ्चरात्र, वैखानस या भागवत।[३]
(२) शैव-आगम—पाशुपत, सिद्धान्ती भेद से नाना प्रकार।
(३) शाक्त-आगम—त्रिपुरा तथा कौल।

दार्शनिक सिद्धान्तों में भेद होने से भी आगमों में द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत भेद किये जा सकते हैं। रामानुज पाञ्चरात्र-तन्त्र को विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक मानते हैं। शैव-आगमों में तीनों मतों की उपलब्धि होती है। पाशुपत तथा सिद्धान्ती स्पष्टतः द्वैतवादी हैं; वीर शैव द्वैताद्वैती हैं तथा प्रत्यभिज्ञा पूर्णतः अद्वैतवादी हैं। शाक्त-आगम में केवल अद्वैत मत की ही विस्तृत व्याख्या है।[४]

## पाञ्चरात्र-धर्म एवं सिद्धान्त :

पाञ्चरात्र-संहिताओं की प्राचीन परम्परा मिलती है।[५] नारद-पाञ्चरात्र के अनुसार परमतत्त्व, मुक्ति, युक्ति, योग तथा विषय (संसार)—इन पाँच पदार्थों के ज्ञान

---

१. बलदेव उपाध्याय : हि० सा० का बृहद् इतिहास (सं० २०१४ वि०), पृ० ५००।
२. भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० ११३ (१९५५)।
३. पाञ्चरात्र एवं भागवत आगे चलकर एक हो गये।—गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि, पृ० ४३ (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; १९६३)।
४. बलदेव उपाध्याय : हि० सा० का बृ० इति०, पृ० ५०२-३।
५. पर ये पुराणों से प्राचीन नहीं हैं। द्रष्टव्य—श्रीराधार क्रम-विकास, पृ० २३-२४।



का प्रतिपादक होने के कारण यह नामकरण है।[१] इनकी वैदिक यज्ञ-यागों में पूर्ण आस्था दिखलाई देती है, किन्तु पशु-हिंसा इन्हें अमान्य थी। यह एकायन-विद्या का प्रतिपादक माना गया और एकायन-विद्या का अर्थ भक्तिमार्गीय तन्त्र मानना उचित प्रतीत होता है।[२] यहाँ सगुण एवं निर्गुण दोनों भावों को समान स्थान दिया गया। वह निर्गुण होकर भी सगुण है तथा षाड्गुण्य-विग्रह की संज्ञा से मण्डित है।[३] भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम लक्ष्मी है। भगवान् से इनका अद्वय सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर दोनों में वस्तुतः अद्वैत नहीं है।[४] पाञ्चरात्र का सृष्टिक्रम सांख्या-क्रम से सामान्यतः मिलता है, परन्तु सर्वथा नहीं मिलता। इसमें अपनी विशिष्टता के रक्षार्थ नवीन सिद्धान्तों की कल्पना से क्रम-परिवर्त्तन कर डाला गया है।[५] जीवों की दीन-हीन दशा के साक्षात्कार से भगवान् के हृदय में अनुग्रह-शक्ति का स्वतः आविर्भाव होता है। इसे ही आगम-शास्त्र में शक्तिपात कहा जाता है। साधन-मार्ग में पाञ्चरात्र में भगवान् की ओर अभिमुख होना, पूजा-सामग्री का संग्रह, पूजा, वैष्णव-ग्रन्थों का मनन तथा अष्टांग योग को प्रधान माना जाता है तथा शरणागति साधना का उत्कृष्ट साधन है।[६] साधना-पक्ष के क्षेत्र में हम पाते हैं कि इन संहिताओं में मंत्रों का विशेष वर्णन किया गया है तथा मंत्र-शक्ति का महत्त्व स्थापित किया गया है।[७] वाणी भी नारायण से उत्पन्न मानी जाती है। वह वाणी घण्टे की गूढ़ ध्वनि, बिन्दु या अनुस्वार में परिवर्त्तित हो जाती है। इसके दो रूप हैं—शब्दब्रह्म या तत्त्व का बोधक शब्द और भूति या वह वास्तविक तत्त्व। बिन्दु दो रूप ग्रहण करता है—स्वर तथा व्यंजन। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के सिद्धान्तानुसार ये प्रसुप्त स्वर कुण्डलिनी के साथ ऊर्ध्वगामी होकर चक्रों का भेदन करते हुए कण्ठ तक पहुँचते हैं, जहाँ सबसे पहले ध्वनि उत्पन्न होती है। यही कारण है कि विसर्ग की व्याख्या सर्जना-शक्ति या सृष्टि के रूप में की गयी है और उसी का पूरक अनुस्वार, संहार का प्रतीक माना गया है। अनुस्वार को सूर्य माना गया है तथा अ, इ, ऋ, उ, लृ, ए, ओ को किरण-समूह माना गया है। विसर्ग को चन्द्रमा तथा दीर्घ स्वरों आ, ई, ॠ, ॡ, ऊ, ऐ, औ को चन्द्र-किरण-समूह। इसमें अनुस्वार-

---

१. नारद-पाञ्चरात्र, १।४५।५२ (कलकत्ता)
२. हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० ५०६।
३. अहिर्बुध्न्य संहिता, अ० २, श्लोक ५५—६२ (ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज); मद्रास, १९१६।
४. अहिर्बुध्न्य संहिता, ३।२५।२७
५. भागवत धर्म, १२६-१२७
६. बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय, पृ० ११९—१३५।
७. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४६०।

समूह दिन से और पिंगला नाड़ी से सम्बद्ध है और विसर्ग-समूह रात्रि से तथा इड़ा से सम्बद्ध है।[1]

यन्त्र भी इन्हीं मन्त्रों के अविभाज्य अंग हैं। इन यन्त्रों का स्वरूप रेखागणित के षड्कोणों के रूप में है, जो वास्तव में सुदर्शन पुरुष और उसके अन्तर्गत बारह व्यूहों के रेखा-रूप हैं। जब इनमें से रूप हट जाता है तब ये केवल वाणी-रूप में अधिष्ठित होकर मन्त्र का रूप ग्रहण कर लेते हैं।[1] यन्त्र पूर्वांग तथा मन्त्र अपरांग कहलाते हैं।

**वैखानस-आगम :**

वैखानस कृष्ण यजुर्वेद की एक स्वतन्त्र शाखा थी। दार्शनिक सिद्धान्तों में पाञ्चरात्रियों से इसका कोई स्पष्ट भेद नहीं है। पाञ्चरात्र की व्यापकता के कारण वैखानस आगम दब-सा गया और कालान्तर में नष्ट हो गया। इस तन्त्र का प्रभाव साधारण हिन्दू-समाज पर विशेष रूप से था; क्योंकि वानप्रस्थ का नियमन इसीके द्वारा होता था। इसका महत्त्व इसीसे ज्ञात होता है कि दक्षिण के विख्यात वैष्णव-मन्दिर तिरुपति में श्रीवेंकटेश्वर की पूजा वैखानस-आगम के अनुसार होती है।[2] रामानुज ने वैखानस-संहिताओं का विरोध कर पाञ्चरात्र संहिताओं का प्रचलन किया।[3] पाञ्चरात्र-संहिताएँ न केवल बौद्धधर्म से परिचित थीं, अपितु वे बौद्ध-धर्म को अपना प्रतिरूप ही मानती थीं।[4]

किन्तु एक बात पर विचार करना आवश्यक है कि पाञ्चरात्र पर राधाकृष्ण-भावना का प्रारम्भ से ही प्रभाव है और विष्णुपुराण में ही गोपाल कृष्ण की कथा आती है। भागवत पुराण में भक्ति को असामान्य प्रतिष्ठा मिली तथा वैष्णव-मत के भावनात्मक पदों को पुष्ट करने में इस पुराण का महान् योग माना जाना चाहिए। आगे चलकर मूल भागवत-धर्म पाञ्चरात्र-धर्म के साथ गोपालकृष्ण-मत में समाहित हो गया।[5] भागवत की रचना दक्षिण-भारत में मानी जाती है। यह सुनिश्चित विचार हो या नहीं, पर इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि वैष्णव-धर्म की शुद्ध

१. Schrader : Introduction to Pancharatra and Ahirbudhnya Samhita; Madras, 1916; p. 120.
२. Ibid., p. 127.
३. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५३९-४०
४. J. Furquher : An Outline of Religious Literature in India, London, 1920; p. 181.
५. भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० १२१
६. R. C. M. : The Cultural Heritage of India, p. 53.



भक्ति-भावना का उदय दक्षिण में ही हुआ, जिसका प्रमाण आलवार सन्तों के सुप्रसिद्ध पदों में मिल जाता है। इन्हें हम शैव नायन्मारों का प्रतिरूप मान सकते हैं।

**शैवागम : उसके विभिन्न सम्प्रदाय :**

इन वैष्णव-संहिताओं के समान शैवागमों की भी प्राचीन परम्परा मिलती है। इतना निश्चित है कि इनकी रचना ७वीं शताब्दी के पहले हुई थी।[1] ये शैवागम शिव के पाँच मुखों द्वारा प्रकट किये गये और इनकी संख्या २८ मानी जाती है तथा अनेक उपागम भी हैं, जिनकी संख्या २०० तक आ जाती है।[2] सामान्यत: यह चार सम्प्रदायों में विभक्त है—शैव, पाशुपत, कालमुख तथा कापालिक।

**कालमुख या कापालिक-धर्म एवं सिद्धान्त :**

कालमुख तथा कापालिकों का सम्प्रदाय उच्छिन्नप्राय है। उनकी क्रियाओं की भीषणता तथा रौद्रता इसके ह्रास का कारण प्रतीत होती है। 'मालतीमाधव' तथा 'शंकर-दिग्विजय' के अध्ययन से कापालिकों के जघन्य कर्म तथा शंकराचार्य के हाथों इनकी पराजय का वर्णन मिलता है।[3] इनका कार्य-क्षेत्र दक्षिण में था। भण्डारकर के मतानुसार कालमुख, कापालिकों से अलग सम्प्रदाय था।[4] कालमुखों के मठों को कालान्तर में वीर-शैवों ने उत्तराधिकार से प्राप्त किया और वे मठ वीर शैवों के केन्द्र बन गये।[5] कापालिकों का सम्प्रदाय महेश्वर का उपासक था। इनका महत्त्व इस कारण है कि इनके सम्प्रदाय में गुह्य तान्त्रिक सिद्धान्तों का चरम विकास था और कई कापालिकों का नामोल्लेख वज्रयानी सिद्धों एवं नाथों में भी मिलता है।[6]

**वीर-शैवमत—धर्म एवं सिद्धान्त :**

शैवमत की दूसरी तान्त्रिक साधना का विकास तमिलनाडु में होता है, जिसे **वीर-शैवमत** या **लिंगायत** या **शक्ति-विशिष्टाद्वैत** के नाम से अभिहित किया जाता है। इस मत के मौलिक सिद्धान्त-ग्रन्थ तमिल भाषा में प्राप्त होते हैं। इस मत को सन् ११६० ई० के आसपास वसव के द्वारा प्रतिष्ठा मिली। वसव ने चालुक्य-राजा पर

१. R. C. M. : The Cultural Heritage of India, p. 53.
२. वही, पृ० ५१।
३. सं० राजबली पाण्डेय : हि० सा० का बृ० इति, पृ० ५०९।
४. Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems, p. 183.
५. भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० १२५।
६. हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ-सम्प्रदाय; इलाहाबाद, १९५०; पृ० २७३।

अधिकार प्राप्त किया था।[१] इसके मूल सिद्धान्त शक्ति-आधारित हैं। समस्त संसार के मूल में शिव हैं और इनकी इच्छा से ही समन्वित इस शक्ति के निर्माणकारी रूप को विमर्श कहा जाता है। जीव और ब्रह्म दोनों ही उस शक्ति से समन्वित रहते हैं। इसलिए इस सिद्धान्त को शक्ति-विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। साधनोपरान्त आनन्द को समरस तथा उस अवस्था को सामरस्य कहा जाता है। यह समरस लिंग तथा अंग के ऐक्य से प्राप्त होता है। लिंग तथा अंग इसी परशिव के दो रूप हैं, जिन्हें स्थल कहा जाता है; क्योंकि इसी में चराचर जगत् की स्थिति एवं लय है।[२] इनकी अपनी विशेषताएँ थीं। ये मठों को महत्त्व देते थे और वेदों को अस्वीकार करते थे। ये पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते थे। ये बाल-विवाह का प्रतिवाद करते थे और संभवतः इसलिए ही विधवा-विवाह को स्वीकृति देते थे तथा ब्राह्मणों के विरोधी थे।[३]

## पाशुपत-मत : धर्म एवं सिद्धान्त :

शैवों का पाशुपत-मत अत्यधिक प्रबल था। बाणभट्ट के ग्रन्थों में पाशुपतों की चर्चा है तथा ह्वेनसांग ने भी इनका उल्लेख किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य (२।२।३७) में इस मत का खण्डन किया है। लिंगपुराण के अनुसार पाशुपत-मत की वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र—तीनों शाखाएँ वर्त्तमान थीं।[४] भण्डारकर महोदय ने इनका प्रादुर्भाव-काल ई० पू० दूसरी शताब्दी माना है।[५] सामान्य दृष्टि से पाशुपत, शैव के पर्याय माने जाते हैं, पर दोनों में भेद है।

पाशुपतों की दार्शनिक दृष्टि द्वैतवादी है। ये पाँच पदार्थों को स्वीकार करते हैं – कार्य, कारण, योग, विधि एवं दुःखान्त। कारण शिव ही हैं। वे स्वतन्त्र कर्त्ता हैं। वे अपनी क्रीड़ा या लीला के लिए जगत् का आविर्भाव या तिरोभाव करते हैं। कार्य में स्वातन्त्र्य-शक्ति नहीं होती, यह परतन्त्र होता है। योग से दुःख-निवृत्ति के साथ-साथ परम ऐश्वर्य का लाभ होता है। विधि, व्रत या द्वार को कहते हैं। भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, उपहार एवं प्रदक्षिणा—व्रत हैं तथा द्वार के छह प्रकार हैं। ये प्रधान विधियाँ हैं। दुःखान्त मोक्ष को कहते हैं। इसके दो प्रकार के भेदों में एक अनात्मक अर्थात् वह, जिसमें विविध दुःखों से निवृत्ति होती है,

१. R. C. M. : The Cultural Heritage of India, p. 52.
२. भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० १२४।
३. R. C. M. : The Cultural Heritage of India, p. 52.
४. हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० ३७।
५. R. G. Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Systems, 1923.



दूसरी सात्मक, जिसमें परमैश्वर्य का लाभ होता है तथा ज्ञान-क्रिया-शक्ति का उदय सम्पन्न होता है।[१]

## काश्मीरी शैवमत :

इस शिवाद्वैत सिद्धान्त को प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक्-दर्शन के नाम से अभिहित किया जाता है। शिवसूत्र, स्पन्द-कारिका, शिव-दृष्टि एवं उदयाकर-सूत्रों द्वारा ज्ञात होता है कि काश्मीर में शैवोपासना की दो शाखाएँ प्रचलित थीं। एक शाखा का प्रचार वसुगुप्त और कल्लट द्वारा हुआ और दूसरी का सोमानंद, उदयाकर एवं अभिनव गुप्त द्वारा। कल्लट ने स्पन्द एवं सोमानंद ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन लिखा।[२] सिद्धान्तों के आधार पर कल्लट एवं सोमानंद में कोई अन्तर नहीं है, इन्होंने आगमों के सिद्धान्तों को अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित कर दिया।

## 'त्रिक्' शब्द की व्याख्या :

'त्रिक्' नामकरण के अनेक कारण हैं। ९२ आगमों में सिद्धा. नामक तथा मालिनी – इन तीन आगमों को प्रधान एवं उपजीव्य मानने के कारण अथवा पशु, पति और पाश—इन त्रिविध विषयों की व्याख्या के कारण अथवा शिव, शक्ति एवं अणु के कारण अथवा परा, अपरा एवं परात्परा के कारण अथवा अभेद, भेदाभेद तथा भेद के कारण इन्हें 'त्रिक्' नाम से अभिहित किया जाता है।[३]

## आगमशास्त्र :

इनके शास्त्र को तीन खण्डों में बाँटा जा सकता है—आगमशास्त्र, स्पन्द-शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। आगमशास्त्र में प्रधान मालिनी-विजय, स्वच्छन्द विज्ञान-भैरव, आनन्द-भैरव, रुद्रयामल इत्यादि हैं। ये द्वैतवादी मत के ग्रन्थ माने जाते थे, जिनके प्रचार को अवरुद्ध करने के लिए 'शिवसूत्र' की रचना हुई। इसमें अद्वैतवादी पक्ष को प्रचारित किया गया। इस ग्रन्थ को शिवोपनिषद्-संग्रह और शिवरहस्यागम शास्त्र-संग्रह भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ पर वृत्ति, वार्त्तिक (भास्कराचार्य द्वारा) एवं टीकाएँ (क्षेमराज-कृत विमर्शिनी) लिखी गयीं। इन टीकाओं का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि आगमों ने शिवसूत्रों से पहले ही अद्वैतवादी सिद्धान्त को प्रचारित किया।[४]

१. हि० सा० का बृ० इति० (भाग १), पृ० ५१२—१४
२. रा० शर्मा : भारतीय ईश्वरवाद, पृ० ४२२
३. Arvind Basu : The Cultural Heritage of India, p. 79
४. Ibid., 1956, p. 80

**स्पन्दशास्त्र :**

स्पन्दशास्त्र में शिवसूत्रों के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की गयी है। वसुगुप्त द्वारा रचित स्पन्द-सूत्र या स्पन्द-कारिका प्रामाणिक मानी जाती है। उसके शिष्य कल्लट ने इसपर वृत्ति लिखी। स्पन्द-सूत्र पर क्षेमराज-लिखित 'स्पन्द-निर्णय' एवं 'स्पन्द-सन्दोह', रमाकण्ठ द्वारा विवृति एवं उत्पल वैष्णव-रचित प्रदीपिका है।

**प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र :**

प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र में त्रिक् का दार्शनिक खण्ड है। सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य-कृत 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका', परपक्ष का खण्डन कर अद्वैत का मण्डन करनेवाला सम्प्रदाय का मननशास्त्र है। अभिनव गुप्त (९५०—१००० ई०) इस सम्प्रदाय के शंकराचार्य कहे जाते हैं, जिनके ग्रन्थ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' (उत्पल के ग्रन्थ की व्याख्या) तथा 'तन्त्रालोक' हैं। इनके शिष्य क्षेमराज ने प्राचीन तन्त्रों की व्याख्या की तथा 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' नामक मौलिक ग्रन्थ का निर्माण किया।[1]

विद्वानों की राय है कि काश्मीर-शैवमत की प्रत्यभिज्ञा पर शंकराचार्य के अद्वैत का प्रभाव पड़ा। काश्मीर-शैवदर्शन में परमेश्वर परम सत्य है, जो शिव-शक्ति या कामेश्वर-कामेश्वरी का सामरस्य-रूप है।[2] आत्मा चैतन्य रूप में निर्विकार रूप से जगत् में अनुस्यूत है। परमेश्वर का दो भाव है—विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण। परम शिव स्वयं विश्व का उन्मीलन करते हैं। जगत् की उत्पत्ति नहीं होती, केवल प्रकटीकरण होता है। शिव एक विलक्षण चित्रकार हैं, जो बिना किसी सामग्री के ही, भित्ति एवं आधार के बिना ही इस विशाल जगत्-रूप चित्र की रचना करते हैं।[3] परमेश्वर की पाँच मुख्य शक्तियाँ मानी जाती हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तथा जगत् आभास-मात्र है। शक्ति के बिना शिव को अपने प्रकाश-रूप का ज्ञान नहीं होता। शिव और शक्ति का अनन्त संयोग है तथा चन्द्र एवं चन्द्रिका के समान दोनों में किंचित् अन्तर नहीं है।[4] शिव-शक्ति के अन्तर उन्मेष को सदाशिव एवं बाह्य उन्मेष को ईश्वर कहते हैं। सदाशिव-दशा में प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित किये रहता है। ईश्वर-दशा में अहं, इदं का अनुभव आत्मा के अभिन्न रूप में करता है। सद्विद्या ज्ञान की वह दशा है, जिसमें अहम्-इदम् दोनों की स्थिति

१. J. C. Chatterji : Kashmir-Shaivism, Shrinagar
२. T. M. P. Mahadevan : H. C. I. P., Vol. 4, p. 304
३. तुलनीय : गोस्वामी तुलसीदास : 'शून्यभित्ति पर चित्र रंग नहिं तन बिनु लिखा चितेरे'।
४. सौन्दर्य-लहरी, श्लोक १



समान रहती है। अब माया का कार्य होता है, जो अहं, इदं को पृथक् कर देती है। माया शिव की पुरुष-रूप में परिणति के निमित्त पाँच कंचुकों की सृष्टि करती है। ये पंच कंचुक विद्या, कला, राग, काल एवं नियति हैं।[1] जीव की स्वाभाविक सर्वज्ञता इत्यादि गुणों पर आवरण डालने के कारण इन्हें कंचुक की संज्ञा दी गयी है।

प्रत्यभिज्ञा में भक्ति एवं ज्ञान समन्वित है तथा इसे विशिष्ट उपासना का मार्ग माना गया है।[2] शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद को माना, वह ज्ञान का क्षेत्र है, भक्ति के लिए वहाँ अवकाश नहीं। किन्तु, जीव वस्तुतः शिव है। उसमें ज्ञान एवं भक्ति की सत्ता है। व्यावहारिक रूप में उसपर आवरण रहता है। इसी आवरण के हट जाने से चिदानन्द-लाभ होता है। स्पन्द के अनुसार क्रियोपाय (मंत्र, तंत्रादि क्रिया से), ज्ञानोपाय (द्वैत ज्ञान से अद्वैत ज्ञान में परिणति हो जाने से), शाक्तोपाय (इच्छामात्र से ही परमतत्त्व का ज्ञान)[3]—ये तीन उपाय आनन्द-लाभ के उपाय माने गये हैं। प्रत्यभिज्ञा के अनुसार गुरु द्वारा दी गयी दीक्षा के द्वारा परमतत्त्व की पहचान होती है तथा आत्म चैतन्य का स्फुरण होने पर 'अहं महेश्वरः' यह अद्वैतज्ञान साधक को प्राप्त होता है।

काश्मीरीय शैव-दर्शन का यह संक्षिप्त रूप यहाँ इसी उद्देश्य से दिया गया कि इस मत के दर्शन का गहरा प्रभाव शाक्त-दर्शन पर पड़ा है और पूर्वी देशों के शाक्त-मतों का इस मत से अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध था।[4] इन्होंने आगमों के सिद्धान्तों को ही अद्वैत-मतानुसार व्यवस्थित कर दिया है; क्योंकि इस मत का मूल कई प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों में विद्यमान है।[5]

**रसेश्वर-सम्प्रदाय :**

यह भी एक शैव-सम्प्रदाय था, जिसमें शरीर-साधना पर एवं अमरत्व की उपलब्धि पर विशेष बल दिया जाता था। सर्वदर्शन-संग्रह (१४वीं शती का ग्रन्थ) में इसका उल्लेख मिलता है तथा 'रसो वै सः ध्येयायं लब्धाऽऽनन्दो भवति'[6] के आधार पर इसका दर्शन निर्मित है। अभ्रक एवं पारा के योग से रस-सिद्धि होती है।

१. द्रष्टव्य—Woodroffe : The Garland of Letters, London, 1922, p. 146.
२. द्रष्टव्य—गो० ना० कविराज : भारतीय संस्कृति और साधना (बि० रा० परिषद्, पटना, १९६२), पृ० ७।
३. Leideker : Pratyavijna Hridayam, Madras 1938, p. 120, note 97.
४. भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० १२३।
५. शशिभूषण दासगुप्त : श्रीराधार क्रम-विकास, पृ० ३६।
६ तै० उ० २।७।१।

कहा जाता है कि बौद्ध-आचार्य नागार्जुन को रस सिद्ध था और इसीलिए वे 'सिद्ध नागार्जुन' कहे जाते थे। वैसे इसका आयुर्वेदिक महत्त्व भी है। यह सम्प्रदाय, हो सकता है, प्राचीन हो तथा बौद्धों एवं शैवों ने इसे एक ही स्रोत से ग्रहण किया हो।[1]

### शाक्तागम : त्रिपुरा एवं कौल :

शाक्तागम में त्रिपुरा एवं कौल का प्रधान स्थान है। भारत के उत्तराखण्ड में प्रसिद्धि-प्राप्त एवं प्रचलित तान्त्रिक मत ही था। बाद में तो बौद्धों की महायान-शाखा पर इसका प्रबल प्रभाव पड़ा। कतिपय बौद्ध एवं शाक्त-तन्त्रों के एक ही नाम मिलते हैं। संभव है, यह सांख्यदर्शन का आधार लेकर चला हो, जिसमें पुरुष एवं प्रकृति शिव एवं शक्ति के समान दिखलाई देते हैं। प्रकृति के समान शक्ति को भी श्रेष्ठ एवं सक्रिय स्थान दिया गया है।[2] शाक्त-धर्म का ध्येय जीवात्मा के साथ परमात्मा की अभेदात्मकता है। इस प्रकार यह अद्वैतवादी मत है। शाक्त-मत में शक्ति की विशेषता है। यह शक्ति शिव की अभिन्न संगिनी है। शक्ति की सिद्धि बिना साधना के नहीं हो सकती। साधना में मंत्र-जाप, मुद्रा-धारण और पंचमकार-सेवन करना अनिवार्य माना गया है। ध्यान के लिए निर्गुण-चिन्तन या तप द्वारा शरीर के शोषण का विधान नहीं है, किन्तु इस मत में ध्यान, उपासना, आचरण एवं साधन में सच्चा उतरने पर साधक को शक्तिदेवी त्रिपुर-सुन्दरी की प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिसकी शक्ति से वह अनहोनी को भी होनी कर सकता है।

### तीन भाव एवं सात आचार :

शाक्तमत में तीन भाव और सात आचार हैं। पशुभाव, वीरभाव एवं दिव्यभाव—ये तीन भाव तथा वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार—ये सात आचार हैं। भाव मानसिक अवस्था का द्योतक है तथा आचार बाह्य आचरण है। आचारों एवं भावों का परस्पर सम्बन्ध है; यथा—वेद, वैष्णव तथा दक्षिणाचार के पशुभाव, वाम एवं सिद्धान्ताचार के वीरभाव तथा कौलों का दिव्यभाव। कौल पूर्ण अद्वैतवादी साधक होता है तथा वह भेद-बुद्धिहीन होता है।[3]

### कौलमत तथा उसके सम्प्रदाय :

कौलमत के अनेक सम्प्रदाय हैं। समयाचार के नाम से प्रसिद्ध श्रीविद्या के उपासकों का एक अन्य आचार है। कौलिक और समयाचारियों में भेद है।

१. भारती : सिद्ध-साहित्य, पृ० १२८।
२. R. C. Majumdar : H. C. I. P., p. 53.
३. H. D. Bhattacharya : H. C. I. P., p. 32.



कौल साक्षात् पूजा करते हैं, परन्तु समयाचारी की भाव-पूजा या ध्यान-पूजा होती है। कुलाचार ही वामाचार है। इस आचार में पंच मकारों का विधान है। पंचमकार—'मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन।' इन आधारों पर भैरवी चक्र की नियोजना होती थी। इस चक्र में स्त्री-साधिकाएँ एवं साधक होते थे और मद्यपान के उपरान्त मनोरथ-सुखों की परस्पर पूर्त्ति होती थी। इस प्रकार के चक्रों में वर्ण एवं जाति का भेद नहीं था।[1] किन्तु पंचमकार का सांकेतिक अर्थ होता था। ये भौतिक पदार्थों के द्योतक न होकर आन्तरिक भावों के सूचक हैं।[2] पर कालान्तर में अन्तस्साधना को छोड़कर बहिःसाधना पर ही लोगों का ध्यान केन्द्रित हो गया, जिस कारण वाममार्गियों की बड़ी निन्दा हुई।

समयाचारियों में अन्तर्याग का प्राधान्य है। इसमें हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजा का विधान है। मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से सहस्रार-चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है।[3]

पुनः ये मंत्रों के सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास रखते हैं। मंत्रों की महानता का कारण अक्षरों में कार्य-शक्ति का विद्यमान रहना है। पचासों वर्ण (अ से ह तक) शरीर में विद्यमान हैं, जो शिव-शक्तिमय हैं। चक्र-वर्ण-ब्रह्माण्ड-शक्ति में पारस्परिक अभिन्नता है। इसी कारण मंत्र-जाप द्वारा शक्ति की साधना का विधान है। शाक्त, योग-साधना द्वारा अपने को वर्ण-रूपों से संयुक्त कर शनैः-शनैः त्रिपुर-सुन्दरी परमेश्वरी के पास पहुँचने का विश्वास रखते हैं।

### शाक्तमत तथा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की समानता :

शाक्त-दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में बहुत साम्य मिलता है। दोनों अद्वैत के प्रतिपादक हैं। दोनों ३६ तत्त्वों को मानते हैं। इनसे परे जो भी है, वह तत्त्वातीत है। संसार इन्हीं ३६ तत्त्वों की सृष्टि है। तत्त्वातीत से ही तत्त्वों का उदय होता है। इस प्रकार वह परम वस्तु विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वात्मक भी है। सदाशिव से क्षिति तक ३४ तत्त्व विश्व कहलाते हैं। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेष-मात्र है, वह तत्त्व 'शक्ति' है। इस शक्ति के साथ शिव सदा मीलित रहते हैं। शिव तथा शक्ति—ये अवस्था के सूचक नाम हैं। शक्ति अन्तर्मुख होने पर शिव है, शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति है। ये दोनों भाव सनातन हैं। शक्ति-तत्त्व में

१. कुलार्णवतंत्र ७५, ७६, ७७, ९०—कलकत्ता, १८९७।
२. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय—(पृ० ५२०-२१ में मूल श्लोकों का अर्थ है)।
३. द्रष्टव्य—Kundalini or Serpent-power : S. J. Woodroffe

शक्तिभाव प्रधान और शिव-तत्त्व गौण रहता है। तत्त्वातीत अवस्था में न शिव की प्रधानता है, न शक्ति की। वह दोनों की साम्यावस्था है। यहाँ शिव-शक्ति का सामरस्य है। यही शाक्तों की पराशक्ति है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का शिव तथा शक्ति-तत्त्व ही त्रिपुरा (शाक्त)-सिद्धान्त में कामेश्वर तथा कामेश्वरी हैं। ये दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। इसे ही सुन्दरी या त्रिपुर-सुन्दरी कहा जाता है।[१] उनकी उपासना चन्द्र-रूप में की जाती है। चन्द्रमा की सोलह कलाओं और सम्मिलित रूप से इनका 'नित्या षोडशिका' के नाम से वर्णन मिलता है। पहली पन्द्रह कलाओं का उदय-अस्त, वृद्धि-ह्रास होता है, परन्तु षोडशी कला नित्य होने से 'अमृत-कला' कहलाती है। यही 'षोडशी' महात्रिपुर-सुन्दरी ललिता है, श्रीविद्या है, सौन्दर्य तथा आनन्द का परमधाम है।

शाक्त-सिद्धान्तों के ग्रन्थों में ६४ तन्त्रों का उल्लेख लक्ष्मीधर ने 'सौन्दर्य-लहरी' के भाष्य (पद ३१) में किया है। शाक्तों के प्रधान उपनिषद्, कौल, त्रिपुरा, भावना, वह्‌वृच, अरुण, अद्वैतभावना, कालिका एवं तारोपनिषद् हैं।

तन्त्रकाल की उपलब्धियाँ :

तन्त्रों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि सारा समाज, देश, धर्म, इससे अभिभूत हो गया। यह काल (३री से १२वीं शताब्दी तक)[२] विद्वानों द्वारा मान्य है। पुनः यह काल लोक-धर्म तथा विश्वास के उदय का काल था।[३] तन्त्र वास्तव में अगणित लोकाचारों, लोक में पूजित देवियों तथा लोक-प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानों का परिणत रूप है, जो आदि मानवों में सृष्टि से संग्राम करते समय अपना लिये गये थे और जो सदैव हमारे देश में प्रचलित थे।[४] यही कारण है कि इनका नाम आगम पड़ा जो सर्वथा उपयुक्त ही है। बौद्ध, जैन, हिन्दू, वैष्णव, शाक्त—ये सभी इसी विराट् तान्त्रिक वातावरण से ही उद्भूत थे। सभी सम्प्रदायों ने इसकी अपने-अपने ढंग से व्याख्या की, किन्तु आन्तरिक रूप में सभी में एकसूत्रता तो थी ही और इनमें विनिमय भी हो रहा था। हिन्दू एवं वज्रयान तान्त्रिक साधनाएँ दोनों ही एक साथ विकसित हुईं, ऐसी विद्वानों की राय है।[५] बौद्ध-साधना में शिव का काल

१. सौन्दर्यलहरी : शंकराचार्य (द्रष्टव्य)।
२. R. C. M. : The Cultural Heritage of India, p. 46
३. "दार्शनिक एवं धार्मिक स्तर पर इतने वाद-विवाद थे कि सामान्य जनता की जादू-टोने की भावना (तन्त्र-भाव) विकसित हो गयी हो तो आश्चर्य नहीं।" —Dr. Mathuralal Sharma : Magical beliefs in Buddhism : Journal of the Bengal Research Society, Vol. 17.
४. धर्मवीर भारती : सिद्ध- साहित्य, पृ० ११९ (१९५५)
५. Dasgupta : Obscure Religious Cults; Calcutta, 1946; p. 20



रूप; देशान्तर में कालचक्र में प्रविष्ट हुआ है। कापालिकों की साधना को काण्हपा ने बौद्ध-रूप में अपनाया और नाथ-रूप में बुद्ध की प्रतिष्ठा की गयी। शैव तथा शाक्त-मत बौद्ध तांत्रिकों द्वारा उतने उपेक्षणीय नहीं रहे जितना कि वैष्णव मत और कालान्तर में कौल-सम्प्रदाय तो बौद्ध तथा शैव-तंत्रों के सम्मिश्रण से ही निर्मित हो गया।[१] इसके साथ-साथ साधना-पद्धति में भी आदान-प्रदान चलता ही रहा।

इन सम्प्रदायों में कतिपय समानता निम्नांकित रूपों में दिखलायी देती है। प्रायः सभी में जाति-पाँति का भेद नहीं के बराबर ही था। शक्ति की प्रधानता होने के कारण स्त्री का विशेष महत्त्व था और स्त्री-पुरुष-भाव किसी-न-किसी प्रतीक के ही रूप में स्वीकृत था।[२] दर्शन की अपेक्षा साधना को विशेष महत्त्व प्राप्त था। साधना के लिए गुरु का महत्त्व था। मुक्ति एवं निर्वाण की अपेक्षा जीवन में ही विभिन्न प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना श्रेष्ठ माना जाता था। वेदों का मान नहीं था तथा उनकी एवं ब्राह्मणों की उपेक्षा होती थी। अपने-अपने सम्प्रदाय के देवी-देवताओं को वैदिक देवताओं से महान् सिद्ध करने का प्रयास होता था। मिथुन-साधना तथा योग के कारण प्रतीकात्मक निरूपण-शैली का सहारा लिया जाता था। ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों को एकरूप मानकर देह की महत्ता प्रतिष्ठित कर देह की साधना पर अधिक बल दिया जाता था। कहना न होगा कि तंत्रों का यह व्यापक प्रभाव बौद्धों एवं जैनियों पर भी पड़ चुका था।[३] चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते तंत्रों का शाक्त-रूप ही अवशिष्ट रहा। इसने सभी देवियों को आत्मसात् कर लिया।[४] यामल-ग्रन्थों में तंत्र-संस्कृति का पुनरुद्धार हो गया। आगमिक साधना शाक्त-मत में स्पष्ट भाव से स्वरूप-विकास करने लगी। यहाँ तक आते-आते आगम की दो धाराएँ—एक सार्वजनिक, दूसरी गुह्य—विकसित हो चली थीं। सार्वजनिक रूप, शैवमत में ही सुरक्षित रह पाया, जिसमें शिव—पशुपति का भक्तिपरक पक्ष मुक्ति के लिए आवश्यक समझा गया तथा गुह्याचार-पथ, शाक्त-धर्म में मुक्ति की अपेक्षा अलौकिक सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त विभिन्न देवियों की साधना का अवलंब धारण कर चला। किन्तु तंत्र का शुद्ध स्वरूप शाक्त ही रहा। यह स्थिति प्रायः दसवीं शताब्दी के आसपास देखी

१. भारती : सिद्ध-साहित्य (१९५५); पृ० १३१-३२।
२. शिव-शक्ति, लिंग-अंग, रस-अभ्रक, प्रज्ञा-उपाय।
३. R. C. M. : H.C.I.P., Vol. IV, p.258; H. D. B.—Ibid., p. 326.
४. P. C. Bagchi : T. C. H. of India, p. 222.

जाती है। दूसरी ओर, शैवमत के परवर्त्ती ग्रन्थों को तंत्र की संज्ञा नहीं दी गयी।[१]

### बौद्धों पर तंत्र का प्रभाव :

बौद्धधर्म का निर्वाण-सिद्धान्त उच्चकोटि का था और इसीलिए वह साधारण जनता के लिए कठिन था। यही उसकी घटती हुई लोकप्रियता का कारण बना। दूसरा प्रत्यक्ष कारण हीनयान एवं महायान नामक दो सम्प्रदायों का बनना हुआ। हीनयान मूल मार्ग पर स्थिर रहा तथा महायान ने उसे कहीं भी ठहरने नहीं दिया; क्योंकि उसमें नित नयी बातों का समावेश होता चला गया। फलत: इसने हीनयान को आक्रान्त कर लिया। महायान परम्परा-विरोधी एवं स्वयं स्वतन्त्रवादी होने के कारण वाममार्गी प्रभावों से अभिभूत हो गया। महायान में क्रान्तिकारी एवं विनाशकारी परिवर्त्तन वामाचार के प्रवेश करने के कारण हुआ। इसी प्रभाव से बौद्धधर्म का तान्त्रिक रूप बना।[२] बुद्ध के पत्नी-भाव से महायान की गुह्यता बढ़ी। वामाचारियों की तरह इसमें भी मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, आसन, चक्र, मण्डल, स्त्री, मदिरा एवं मांसादि वाममार्गी पद्धतियों को आगमन हो गया। किन्तु बौद्धों ने गुह्य साधना में भिन्न प्रतीकों का प्रयोग किया।[३] बौद्धों के तीन रूप—वज्रयान, सहजयान एवं कालचक्रयान—दिखलाई देते हैं, यद्यपि इनकी सम्मिलित संज्ञा मन्त्रयान थी। बौद्धों का वज्रयान तो शाक्तों से भी आगे निकल गया। स्वयं भगवान् बुद्ध का जीवन ही इतना चमत्कारपूर्ण था कि बाद में चमत्कार के साधनों की खोज में लग जाना अनुयायियों के लिए सहज था। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य का विचार है कि बुद्ध भी इस जादू-टोने की महत्ता जानते थे और उन्होंने ही इसे स्थान दिया, जिससे उनके मत का प्रचार हो सके।[४] कुछ भी हो, तंत्र के प्रभाव से बौद्ध-धर्म अपना स्वरूप खो बैठा। इन यानों को दार्शनिक पृष्ठभूमि माध्यमिक एवं योगाचार-दर्शन से मिली। वज्रयान में रहस्यवादी आचार सार्वजनिक रूप से प्रचारित था ही, पर सहजयान में यह गुह्य ही रहा। वज्रयान में मन्त्र, मुद्रा एवं मण्डल की प्रधानता थी

१. "The later literature of pure Jainism ceases to be called a Tantra. Tantra proper became more Satkic in character. This character of Tantra became definitely established by the tenth century."—The Cultural Heritage of India, p. 219
२. "जगन्नाथ के मन्दिर में सुभद्रा, कृष्ण एवं बलराम त्रिक के ही प्रतीक हैं—त्रिक अर्थात् संघ, बुद्ध एवं धर्म अथवा क्रिया, ज्ञान एवं इच्छा अथवा स्त्री, पुरुष एवं प्रकृति।—डॉ० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या (बि० रा० परिषद्, पटना)
३. P. C. Bagchi : The Cultural Heritage of India, p. 220
४. Vinayatosh Bhattacharya : Buddhist Estorism, p. 18; London, 1932



तथा शक्ति जाग्रत् करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता थी। इस साधना में शक्ति को प्रज्ञा की संज्ञा दी गयी तथा उसके साथ पुरुष-तत्त्व को वज्र कहा गया। सहज-यानियों में रहस्यवादी ८४ सिद्ध हुए, जिनका आविर्भाव दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। इन्होंने हर प्रकार के बाह्याचार का परित्याग किया और सहजता का आश्रय लिया। तिब्बती ग्रन्थों के अनुसार कालचक्रयान का विकास भारत के बाहर 'सम्भल' नामक देश में हुआ। बंगाल में पाल राजाओं के समय इसका प्रवेश हुआ। इस मत में मुहूर्त, तिथि इत्यादि का महत्त्व है। इसमें ज्योतिष तथा नक्षत्र-विद्या का योग से भी संबंध स्थापित हो गया है।[१] शिव की शक्ति की शाक्तमत में प्रतिष्ठा थी ही और इसीके आधार पर 'तारा' भी बुद्ध की शक्ति मानी गयी। महायान की तारादेवी के समान हीनयान की मणिमेखला देवी है। खुदाई में प्राप्त तारा एवं अवलोकितेश्वर की अनेक मूर्त्तियों से उसकी लोक-प्रियता एवं महत्ता का पता चलता है। जैनधर्म ने अपने को वामाचार से सुरक्षित रखा। इसमें जैनधर्म का शुद्ध स्वरूप तो रह गया, पर शाक्त-प्रभाव से देवमण्डल में देवियों का आगमन हो गया, जिसके प्रमाण मूर्तिकला में मिलते हैं।[२]

### धार्मिक संहितिवाद : पंचायतन-पूजा, शंकर :

पुराण और तंत्रकाल के अन्तिम चरण में हम संहिति की चेष्टा देखते हैं। शक्तिवाद ने दक्षिण से आये वैष्णव धर्म एवं दर्शन में भी प्रवेश पा लिया एवं उसी के प्रभाव से वैष्णव-धर्म में देवी या शक्ति की महत्ता बढ़ी।[३] संहिति की यह चेष्टा ग्यारहवीं शताब्दी के पहले से ही देखी जाती है। इसके फलस्वरूप बाद की शताब्दी में दो प्रभावशाली सम्प्रदायों का जन्म हुआ—एक नाथपंथ, जिसमें शैवमत का अंश था तथा दूसरा, सहजिया, जिसपर वैष्णव-प्रभाव था।[४]

शंकराचार्य ने पंचायतन-पूजा प्रचारित की। इसे शंकर ने या कुमारिल ने ही प्रचारित किया हो, पर यह उन लोगों के लिए आकर्षण का बिन्दु बना, जो इन सम्प्रदायों के पारस्परिक प्रचार से बचने के लिए मार्ग चाहते थे।[५] स्मार्त्तों ने पंच-देवोपासना ही नहीं प्रारम्भ कर दी, वरन् एक पौराणिक गुटका भी तैयार कर दी,

१. P. C. Bagchi : C. H. I., Vol. 4, p. 220.
२. जैन शासन देवता युग्म में मिलते हैं।—(सी० एच० आई० टी०, वॉल्यूम ४), पृ० ३४१
३. श० भू० दासगुप्त : श्रीराधार क्रम-विकास, पृ० १३ (१९५६)।
४. P. C. Bagchi : T. C. H. I., Vol. IV, p. 223.
५. H. D. Bhattacharya : H. C. I. P. (Vol. IV), p. 329.

जिसमें सभी देवों को स्थान मिला था। और एक अथर्वशिरस् उपनिषद् की रचना कर इसको प्राचीनता भी देने की चेष्टा की।[१]

कालान्तर में सभी देवताओं को प्रतिष्ठा मिलने लगी। गणेश, कार्त्तिकेय, ब्रह्मा, काली, सरस्वती और लक्ष्मी को भी स्थान मिला। शिव के साथ-साथ उनके वाहन नन्दी को भी प्रतिष्ठा मिली। शिव-मन्दिर में विष्णु, विष्णु-मन्दिर में शिव या उनके गण विराजने लगे। ब्रह्मा के साथ विष्णु तथा दुर्गा के साथ गणेश, कार्त्तिकेय एवं सप्तमातृका की भी मूर्त्तियाँ दिखाई देती हैं। 'अर्द्धनारीश्वर' की मूर्त्ति में शाक्त एवं शैवमत के सम्मिलन के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। 'हरि-हर' में वैष्णव एवं शैव का संयोग हुआ तथा बुद्ध को भी हिन्दू-देवताओं के अवतार में प्रतिष्ठा मिल गयी। यह प्रायः धार्मिक प्रदर्शनी के समान भारतीय मूर्त्तिकला में दिखलाई देता है, जिसके प्रमाण-स्वरूप बादामी की गुफाओं में वैष्णव एवं शैव मूर्त्तियाँ, एलोरा में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन मूर्त्तियाँ तथा खजुराहो में वैष्णव, शैव, सौर, बौद्ध एवं जैन-मन्दिर हैं।[२]

### दाम्पत्य-भावना का विकास :

दाम्पत्य-भाव का प्रभाव देवी-देवताओं पर बढ़ता चला गया और लक्ष्मी-नारायण, ब्रह्मा-सरस्वती, शिव-पार्वती की मूर्त्तियाँ मन्दिरों में स्थान पाती रहीं। देवताओं की इस प्रतियोगिता में शिव-शक्ति-सम्बन्धी धार्मिक विश्वास को प्रथम स्थान मिल गया, जिसे उत्तर में काश्मीरीय शैवमत एवं दक्षिण के तमिल-आगम से बल मिल रहा था।[३] मार्कण्डेय-पुराण के प्रमाण ने नयी-नयी मूर्त्तियों की स्थापना के लिए मार्ग खोल दिया और देवी विविध रूपों में पूजित होने लगीं। इन रूपों को सर्वमान्य स्वीकृति मिलने का कारण था; क्योंकि, महाभारत में वह नारायण-पत्नी के रूप में भी आती हैं तथा देवीमाहात्म्य में तो स्पष्टतः वैष्णवी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्रधान देवियों के साथ अनेक अन्य देवियों की प्रतिष्ठा होती

---

१. "The Smartas not only followed the practice of worshipping the five gods but also compiled...............even an Upanishad.—The Atharvasiras—turned up to give the new method a holy and hoary antiquity."

—H. D. Bhattacharya : H. C. I. P., Vol. IV. p. 39.

२. "खजुराहो की हनुमान्-मूर्त्ति इसकी सूचना देती है कि रामभक्ति के प्रचार के साथ हनुमान् की भी प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही थी।" द्रष्टव्य—वही पृ० ३२१।

३. H. D. Bhattacharya : H. C. I. P., Vol. IV; p. 338.



चली गयी। सामान्य लोक-विश्वास ने इनकी संख्या-वृद्धि में बड़ा ही योग दिया तथा विष्णु के दशावतार के आधार पर दस महाविद्याओं (काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी एवं गजलक्ष्मी) की प्रतिष्ठा हो गयी।[१]

### उपसंहार :

मातृदेवी की पूजा एवं लोकप्रियता, ऐसा नहीं कि किसी काल में अवरुद्ध हो गयी हो। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका आधार जनमानस ही रहा है। अपनी लोकप्रियता से ही मातृदेवियों ने समय-समय पर ब्राह्मण-धर्म में प्रवेश पा लिया। रुद्र के साथ उनका सम्बन्ध अथवा इन्द्र के साथ सम्बन्ध इसी लोकप्रियता का प्रमाण है। उपनिषदकारों ने केवल वैदिक यज्ञ-याग के प्रति ही विरोध का स्वर नहीं फूँका, उन्होंने जनमानस की धार्मिक चिन्ता का भी आध्यात्मिक समाधान ढूँढ़ लिया। यही कारण है कि उपनिषदों में मातृदेवी के भी दार्शनिक स्वरूप का निर्धारण हो गया। लौकिक पूजा में देवी के असंख्य रूपों की नित्यप्रति नयी कल्पना सामने आती गयी, पर उनका दार्शनिक शक्तिमय रूप सदा एक ही रहा।

यहाँ एक प्रश्न पर विचार करना अपेक्षित जान पड़ता है कि मार्कण्डेय-पुराण के देवीमाहात्म्य में, जहाँ देवी के विविध रूपों की वर्णना है, वहाँ वे प्रायः विष्णुमाया या विष्णु-शक्ति के रूप में वर्णित की गयी हैं। शिवमाया या शिव-शक्ति के रूप में नहीं।

एकादश अध्याय में—

**त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या ।।-११।५।।**

**शरण्ये त्र्यम्बिके गौरि नारायणि नमोऽस्तुते ।।११।६।।**

तथा पंचम अध्याय में—

**या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता ।।५।१४।।**

पुनः, त्रयोदश अध्याय में—

**विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया ।।१३।३।।**

यहीं पर यह धारणा होने लगती है कि भारतीय शक्ति-भावना का विकास संभवतः शिव को आधार मानकर नहीं हुआ है। इसकी, जैसी पहले भी चर्चा की जा चुकी है, उत्पत्ति तथा पालन-पोषण जनमानस में ही हुआ है। स्फुट

---

१. वही, पृ० ३४४।

रूपों में वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख भी जनमानस के प्रभाव के फलस्वरूप ही हुआ रहा होगा और उपनिषदों में इसे दार्शनिकता का रूप प्राप्त हुआ। किन्तु, शक्तिवाद के सम्बन्ध में खूब स्पष्ट एवं सुष्ठु आलोचना सर्वप्रथम पाञ्चरात्र-संहिताओं में ही उपलब्ध होती है।[१]

विष्णु को देवताओं में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया था और यही एक कारण हो सकता है कि देवी को विष्णु की शक्ति के रूप में चरम बिन्दु पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी है। मार्कण्डेय-पुराण को, विद्वान् पाञ्चरात्र से प्राचीन स्वीकार करते हैं[२], और उस समय विष्णु का अवलम्ब धारण कर शक्ति का प्रसार हुआ हो, ऐसा सम्भव है। बाद में पाञ्चरात्र पर भी इसी शक्ति-भावना का प्रभाव पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उपासना के क्रम में इन्हें ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश से भी वन्दिता दिखलाया गया है ही और ये सभी देवताओं की शक्ति के रूप में अपने विस्तृत स्वरूप में स्वीकृत कर ली गयीं।

यहाँ संक्षेप में देवी के विभिन्न स्वरूपों को लेकर उद्गम का अन्वेषण करते हुए उन समस्त परिस्थितियों का निर्देशन कर दिया गया, जिनकी पृष्ठभूमि में भारतीय शक्तिवाद अपना स्वरूप-विस्तार करता आ रहा है। यह जन-विश्वास की भूमि पर अवतरित होकर दर्शन की सीमा को स्पर्श कर, एक साथ ही, दार्शनिक एवं लौकिक दोनों रूपों में वर्त्तमान रहा है। जहाँ तक अश्लीलता का या अनाचार का प्रश्न है, कोई भी धर्म अपने शुद्ध सात्त्विक रूप में अश्लील नहीं होता। धर्म के वास्तविक स्वरूप की आड़ में प्रत्येक देश एवं प्रत्येक काल में अनाचार हुआ है और संभवतः होता भी रहेगा।

अगले अध्याय में शाक्त-मत के दार्शनिक स्वरूप का परिचय दिया गया है। अन्त में, हमारा विचार है कि शक्ति-भावना को किसी विशिष्ट धर्म की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता; क्योंकि यह जीवन्त मानव-सृष्टि का लोकधर्म है और यह आदियुगल विश्वास शैव नहीं है, शाक्त नहीं है, वैष्णव नहीं है और गाणपत्य नहीं है—यह वेदान्त नहीं है, सांख्य नहीं है, तन्त्र नहीं है—यह हिन्दू भी नहीं है, बौद्ध-जैन भी नहीं है—यह भारतवर्ष में सर्वत्र है, प्रायः सभी मतों में है। इसलिए यह धर्म-सम्प्रदाय-निरपेक्ष रूप में भारतवर्ष का है।[३]

---

१. श० भू० दासगुप्त : भा० शा० सा० ओ शा० सा०, पृ० ५९।
२. वही, पृ० ६०।
३. श० भू० दासगुप्त : श्रीराधा का क्रम-विकास, पृ० ७२।

## द्वितीय अध्याय

# शाक्त-दर्शन के मूल सिद्धान्त

**अनालोचित होने के कारण :**

शाक्त-दर्शन के सिद्धान्तों की चर्चा करने के क्रम में एक बात सहज ही ध्यान में आती है कि दर्शन-विशेष के रूप में शाक्त-दर्शन की आलोचना नहीं प्रस्तुत की गयी है। पिछले अध्याय में षड्दर्शनों की चर्चा हुई है तथा शैवागमों का भी उल्लेख हुआ है, पर शाक्त-दर्शन नामक किसी पृथक् दर्शन की कहीं भी चर्चा नहीं है। ऐसा नहीं कि शाक्त-दृष्टि-प्रतिपादक ग्रन्थ न हों और विशाल साहित्य उपलब्ध होते हुए भी सर्वदर्शन-संग्रह के सदृश बृहत् तथा प्रामाणिक ग्रन्थ में भी इसकी प्रायः उपेक्षा ही की गयी है।[१] इसके कतिपय कारण हो सकते हैं : पहला, यह कि जिस प्रकार अन्य दर्शनों का सम्यक् प्रचार रहा, वैसी सुविधा इसे न मिल सकी। दूसरा 'परोक्षप्रिया ही देवाः'—ब्रह्मविद्या गोपनीय ही रहती है और शाक्त-दर्शन साधना एवं कर्म-प्रधान है। अतः चर्चा से अधिक इसकी साधना में रत रहने का फल अधिक है।। परन्तु, इसका दार्शनिक पक्ष साधना की पृष्ठभूमि में दब-सा गया।[२] शाक्त-दर्शन एक आचारशास्त्र के रूप में अपने मौलिक रूप में रहा। कोई भी धार्मिक मतवाद पहले आचारशास्त्र के रूप में प्रचलित होता है और दर्शन की प्रतिष्ठा बाद में होती है। बौद्धों का भी धर्म पहले आचारशास्त्र के ही रूप में प्रचारित हुआ, बाद में उसके दार्शनिक स्वरूप का निर्माण हुआ। शाक्तों की साधना में, सर्वसम्मत आचारवादी परम्परा के अभाव में, संभव है, इसकी दार्शनिक मान्यताओं को प्रचार न मिला हो। एक बात और, पिछले अध्याय में

---

१. डॉ० गोपीनाथ कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि, पृ० १।
2. "The conceptual and other difficulties of such a philosophical position, the Tantra had not to face, for it was not a system of philosophy. It was essentially a religious form of worship the Tantra had to teach and the philosophical conception was only in the background."
—S. N. Dasgupta : Philosophical Studies; Calcutta, 1941, p. 156.

हम देख चुके हैं कि शक्ति-भावना का विकास लोकभूमि पर ही हुआ और लोकभूमि पर दर्शन की प्रतिष्ठा नहीं होती। पठन-पाठन के सौकर्य से ही विद्वत्समाज में किसी धर्म का प्रवेश होता है और तभी दर्शन का जन्म संभव है।

## स्रोत एवं सम्बन्ध :

शाक्त-वाङ्मय का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शाक्तों की दार्शनिक भावना पर काश्मीर-शैव-दर्शन, योग, मीमांसा एवं सांख्य—इन सभी का प्रभाव पड़ा है। काश्मीर-शैव से स्पन्द, मीमांसा से नाद, सांख्य से पुरुष-प्रकृति-भाव तथा योग से तत्त्व लेकर इसकी दार्शनिक भित्ति का निर्माण किया गया लगता है।[1] काश्मीर-शैवमत के दोनों मार्गों—स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा—के मूल सिद्धान्तों एवं आलोचना-प्रणाली में, एक-दो विषयों में किंचित् अन्तर के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है।[2] वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा-दर्शन से स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों का निर्देश होता है।

भारतवर्ष में पूर्णत्व के अन्वेषण के क्रम में द्वैत-भावना के साथ अद्वैत का भी विकास हुआ। यह अद्वैत बहुसंख्यक दार्शनिक चिन्तकों में मुखर हुआ। शैव तथा शाक्त-आगमों में भी अद्वैत की महिमा गायी गयी। शैव तथा शाक्त अद्वैत-वाद में घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनमें से एक को दूसरे से पृथक् भी नहीं किया जा सकता।

वेद एवं तन्त्र दोनों में अद्वैतवादी परम्परा थी। आगमों में शैव, वैष्णव एवं शाक्त भी अद्वैतवादी ही हैं। त्रिपुरा-सिद्धान्त शाक्तागम-मूलक है तथा प्रत्य-भिज्ञा के साथ त्रिपुरा-सिद्धान्त अथवा श्रीविद्या का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।[3] उपासना की पृथक्ता को बनाये रखने के लिए पृथक् प्रस्थान रचे गये, पर यह पद्धति-भेद ही है। त्रिपुरा-सिद्धान्त के विषय में लिखते समय प्रमाण शैव-ग्रन्थों से लिये गये और शैवाचार्यों ने भी 'योगिनी-हृदय', 'कामकला-विलास' आदि ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकार की है।[4] अतः तात्त्विक दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं

१. द्रष्टव्य—एस० एन० दासगुप्त : फिलोसोफिकल स्टडीज
२. गो० ना० कविराज : कल्याण, शिवांक, पृ० ८१।
३. वही, पृ० ८८।
४. "परशुराम-कल्पसूत्र, बिन्दुसूत्र, तन्त्रराज, त्रिपुरा-रहस्य, नित्याहृदय, वामकेश्वर-तन्त्र, परमानन्द-तन्त्र, सौभाग्य-रत्नाकर आदि त्रिपुरा-मत के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं तथा भास्कर राय, कवि रामेश्वर, लक्ष्मीधर, उमानन्दनाथ, अमृतानन्द आदि इस मत के उत्कृष्ट व्याख्याता हैं।"—वही, कल्याण, शिवांक, पृ० ९१।



दीखता। जिस प्रकार सांख्य एवं योग में सम्बन्ध है, उसी प्रकार त्रिक-मत एवं त्रिपुरा में भी है। अतः यह सिद्ध है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के साथ त्रिपुरा-सिद्धान्त के दार्शनिक अंश की, अर्थात् ज्ञानकाण्ड की वैसी कोई पृथक्ता नहीं है।[1]

शाक्तों के अनुसार वह परमसत्ता अखण्ड प्रकाश-रूप है। वह सत्ता स्वातन्त्र्य-मय है। स्वातन्त्र्य का अर्थ है—अन्य निरपेक्षता। इसका नामान्तर है—आनन्द, 'सर्वमात्मवशं सुखम्'। जहाँ द्वितीय नहीं है और द्वितीय की अपेक्षा नहीं है, वहाँ स्वरूप स्वभावतः आनन्दमय है, यही सच्चिदानन्द है, यही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् है। तात्पर्य यह कि परमात्मा अखण्ड प्रकाश-रूप निज स्वरूप में रहकर भी स्वातन्त्र्य के बल से अनन्त रूप तथा भावों में स्फुरित होते हैं।

## पराशक्ति :

प्राचीन ऋषियों ने ध्यानावस्थित होकर यह अनुभव किया कि ब्रह्म की निज शक्ति ही, जो उनके स्वरूप में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है, वही सृष्टि का आदि कारण भी है। ब्रह्म ही समस्त कारणों का संचालक है और इसी में काल एवं अहं भी सम्मिलित हैं।[2] वह शक्ति ही पराशक्ति है। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर की परमशोभा है, वह सत्-चित्-आनन्द की लहरी है। वह भीतर-बाहर व्याप्त होती हुई स्वयं प्रकाशित हो रही है।[3] वह समस्त पदार्थों में प्रच्छन्न सत्ता है। वही वह आत्मा है और इसके अतिरिक्त सभी कुछ असत् एवं अनात्म है।[4] वही परमात्मा की परमदिव्य चेतना की आदि-अभिव्यक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार[5] आत्मा और मूल प्रकृति दोनों अनादि हैं। आत्मा प्रकृति के द्वारा प्रकृति-जन्य गुणों को माँगती है।[6] और प्रकृति का पुरुष से भिन्न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह पुरुष के अन्दर स्थित है। यह पुरुष की ही प्रकृति है [ब्रह्मवैवर्त-

१. गो० ना० क० : भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० १६।
२. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढम्।
य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥
(श्वेताश्वतर, ।१।३)
३. सैषा पराशक्तिः।—बह्वृचोपनिषद् ॥३॥
सैवात्मा ततोऽन्यसदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विधाऽद्वितीया ब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव विभाति ॥५॥
४. बह्वृचोपनिषद् : सैवात्मा ततोऽन्यसदसत्यमनात्मा।—पृ० ६४; अड्यार, १९२५।
५. गीता, १३।१९ : प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
६. गीता, १३।२१ : पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

पुराण, प्रकृति-खण्ड २।६६ (७)] और सदा आत्मा के साथ रहती है। आत्मा की ये दो प्रकृतियाँ परा और अपरा हैं।[1] पराशक्ति विश्व को धारण करनेवाली है, अपराशक्ति अष्टधा—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार है।[2] प्रकृति के इन दो विभागों में अपरा इन्द्रियगोचर एवं बाह्य है, परा इन्द्रियातीत एवं बुद्धिगोचर है। ब्रह्म के इन्हीं दो रूपों के अन्दर समस्त सृष्टि का अन्तर्भाव हो जाता है। ब्रह्म के दो रूप जड़ और चेतन, जिनमें जड़ परिवर्त्तनशील एवं असत् है तथा चेतन ही सत् है, वही ब्रह्म है, वही प्रकाश है।[4]

शाक्तों ने उपर्युक्त दोनों रूपों को एकत्र कर शक्ति के नाम से संबोधित किया। सभी धर्मों में एक ही दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है। यही अनन्त परा-शक्ति विश्व का चेतन कारण है, जो वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म से अभिन्न है। मोक्ष भी उनके अनुसार इस परमशक्ति के वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाने का ही नाम है। सच्चा ज्ञान एवं सच्ची भक्ति से ही यह स्थिति प्राप्त होती है। ज्ञान से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है तथा भक्ति से अनन्य प्रेम जाग्रत् होता है।[5] उपनिषदों में शक्ति-तत्त्व प्रतिपादित हुआ है और वे तन्त्र के परब्रह्म शाक्त-दर्शन में पराशक्ति हो गये हैं।[6]

### सच्छक्ति के विविध रूप :

यह पराशक्ति सत्-चित्-आनन्द-रूपा है। अपनी सर्वव्यापकता से सर्वत्र विद्यमान रहनेवाली है। श्रीशंकराचार्य सौन्दर्य-लहरी में इस शक्ति के विषय में कहते हैं कि वही शक्ति मन है, आकाश है, और वायु जिसका सारथी है, वह अग्नि

१. गीता, ७।५ : अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
२. गीता, ७।४ : भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
३. गीता, ७।६ : एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
४. मैत्र्युपनिषद् (५।३)
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्चाथ यन्मूर्त्तं तदसत्यं,
यदमूर्त्तं तत्सत्यं, तद्ब्रह्म, यद्ब्रह्म तज्ज्योतिः ।
५. द्रष्टव्य : महानिर्वाणतन्त्र ।
उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः ।
स्तुतिजपोऽधमो भावो बाह्यपूजाऽधमाधमा ॥
६. द्रष्टव्य : श्वेताश्वतर ।



भी तू ही है। तू जल है एवं भूमि है तथा तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं है। यह सारा विश्व ही तेरे लिए परिणाम का ही रूप है। तूने अपने-आपको परिणत करने के लिए चिदानन्दाकार को विराट् देह के भाव द्वारा व्यक्त किया है।[1] उसके अनेक नाम हैं, जो एक-दूसरे के पर्याय हैं—चिति-शक्ति, चिच्छक्ति, चेतन-शक्ति, देवी-शक्ति, परा-शक्ति, ब्रह्म, आत्मा इत्यादि। वही समस्त स्थावर-जंगम सृष्टि को उत्पन्न करनेवाली है। भुवनेश्वरी, प्रत्यंगिरा, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्मानन्द-कला, त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि उसके सहस्र नाम हैं।[2] बीज में जिस प्रकार महा-वृक्ष सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है एवं उत्पन्न होकर एक महावृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही यह ब्रह्माण्ड चिच्छक्ति से उत्पन्न होता है।[3] वही आदिशक्ति है, जिसका स्वरूप ऋग्वेद के देवीसूक्त में वर्णित है।[4] किन्तु इस शक्ति की स्त्री या पुं संज्ञा नहीं है।[5] वह सनातनी शक्ति नित्य एवं ब्रह्मरूपा है।[6] वह स्वतंत्रा है।[7] किन्तु वह शक्ति विविध नामरूपा होकर इसी सृष्टि में व्यापती है। 'यत्किञ्च जगत्यां जगत्' में वही 'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते' है।[8] वह शक्ति किसी की शक्ति होने के कारण शक्तिमान् के साथ संयुक्त की जाती है और शक्ति किसी शक्तिमान् की ही होती है। अतएव ईश्वर भी जिससे शक्तिमान् की संज्ञा धारण करता है वही भगवती शक्ति है।[9] वह शक्ति सर्वदा शक्तिरूपिणी है। वह सृष्टि एवं संहार में नित्या है तथा शिव या चित् से कभी भी विलग नहीं

१. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ३५ ।
२. बह्वृचोपनिषद्–सैषा पराशक्तिः ।३। :
सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती—
देशकालवस्त्वन्तरासङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥४॥
—अड्यार, १९२५ ॥
३. रामपूर्वतापिन्यां द्वितीयोपनिषद् :
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमोगुणैः ।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥२॥
[पुनः 'प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः'—तन्त्रसार (आ० १) ।]
४. ऋग्वेद, १०।१०।१२५।१ :
अहं रुद्रेभिर्वसुः इत्यादि
५. श्वेताश्वतर :
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।—अ० ५, श्लो० १०
६. देवीभागवत ९।१।१०-११
७. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, मद्रास, १९३८, पृ० २०-२१ ।
८. श्वेताश्वतर ६।८ :
पुनः तन्त्रसार : आह्निक ४, 'शक्तयश्च असंख्येयाः' ।
९. सौरपुराण ५५।८

रहती।[1] दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि सभी शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन पाँच शक्तियों के अन्तर्गत हैं। स्वतन्त्र प्रकाश-आत्मा काल, देश तथा आकाश से परिच्छिन्न नहीं होते। इसीलिए वे नित्य, विभु, सर्वाकार और निराकार हैं।[2] उनका जो प्रकाश भासमान है, वही चित्-शक्ति है, स्वातन्त्र्य आनन्द-शक्ति है, चमत्कार या खेल इच्छा-शक्ति है, आमर्षरूपता-ज्ञानशक्ति है, तथा स्वीकारयोगिता क्रियाशक्ति है। ये ही उनकी प्रसिद्ध पाँच शक्तियाँ हैं। शिव की पंचमुख-कल्पना का आधार यही पंचशक्तिवाद है।[2]

### शक्तिमान् के साथ उसका अभेद :

इस विश्व में जो कुछ भी है सभी शक्ति है। किन्तु वह शक्तिमान् से विलग नहीं है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद है। योगी जो तत्त्वों का चिंतन करने-वाले हैं, इस अभेद को जानते हैं।[3] वह शक्ति पावक में उष्णता की भाँति एवं चन्द्र में चन्द्रिका की भाँति शिव में वर्त्तमान रहती है।[4] शक्ति से युक्त होकर ही वह शक्तिमान् संज्ञा ग्रहण करता है।[5] उसके बिना परमेश्वर सृष्टि करने में समर्थ भी नहीं है।[6] शिव शक्ति के बिना शव है और वह शक्तियुक्त होकर ही स्पन्दित होता है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ शव-मात्र हैं। प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्मप्रकाश में भी असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण अभिन्न हैं, तथा एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता।[7]

---

१. सर जॉन उडरफ : महामाया—मद्रास, १९५४, पृ० ८२।
तथा शिवदृष्टि, III, २३, 'न शिवः शक्तिरहितो, न शक्तिर्व्यतिरेकिनी'।
२. गो० ना० कविराज—तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि, पृ० १२।
३. ललितासहस्रनाम : बम्बई, १९३५, भास्करराय-टीका—
शक्ति-शक्तिमतोर्भेदं वदन्त्यपरमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥
४. वही, पृष्ठ ३९—भास्करराय की टीका :
पावकस्योष्णतेवेयं भास्करस्येव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा शिवे॥
शक्तिशक्तिमतोर्यद्वद् अभेदः सर्वदा स्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः॥
न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते॥
—विज्ञानभैरव (का० सं० ग्र०), १७।२०॥
५. शंकराचार्य : सौन्दर्यलहरी, १।
६. शंकराचार्य : ब्रह्मसूत्र-भाष्य, १।४।३ : न हि तया विना परमेश्वरस्य सृष्टत्वं सिद्ध्यति।
७. शक्ति का स्वभाव सक्रिय है, इसलिए उसी में स्पन्द होता है।



यद्यपि शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं, फिर भी जागतिक दृष्टिकोण से इसका शिव-अंश निष्क्रिय है और साक्षी है तथा शक्ति-अंश सर्वदा पंचकृत्यकारी है।[1] यही शक्ति-अंश कहीं महेश्वर और कहीं महेश्वरी है। यह सर्वदा पूर्ण है और सर्वदा रिक्त है। इस पूर्णता एवं रिक्तता में कोई अन्तर नहीं है। यह एक रहकर भी अनन्त है तथा अनन्त रहकर भी एक है।[2] वही सगुण भी है, निर्गुण भी है।[3]

### शाक्त-दर्शन की अद्वैतवादी भावना :

भारतीय दर्शन के लिए उपरिचर्चित सिद्धान्त नये नहीं हैं। शाक्त-दर्शन में एक ओर शक्ति को प्रधानता दी जाती है, दूसरी ओर शक्ति और शक्तिमान् का अभेदत्व सिद्ध किया जाता है। भारतवर्ष की बहुदेववादी भावना में अद्वैतवादी तत्त्व प्राचीन है। ब्रह्म का पुरुष, स्त्री या नपुंसक न होना इस तथ्य की सिद्धि है कि वह सांसारिक लिंगभेद में नहीं बाँधा जा सकता, किन्तु दर्शन से ही किसी धर्म-मत की तुष्टि नहीं होती। आचार या उपासना के क्षेत्र में वह सर्वशक्तिमती मातृका के रूप में प्रकट होती है। माँ से प्रत्यक्ष जगत् में समस्त विश्व उत्पन्न होता है। प्रधानता माता की ही है, अस्तु माँ शक्ति का प्रत्यक्ष एवं शक्तिमान् अप्रत्यक्ष कारण है।

### पराशक्ति-स्फुरण : स्पन्द, प्रकाश, विमर्श-तत्त्व :

शिव स्वयं प्रकाश-तत्त्व है। उसका सक्रिय स्वरूप है शक्ति, जिसे विमर्श कहा जाता है। प्रकाश विमर्श-रूप में प्रतिबिम्बित होता है तथा प्रकाश का अपना प्रतिबिम्ब विमर्श-रूप में देखकर स्वरूप का ज्ञान होता है।[4] प्रकाश ही वह श्वेत

---

१. काली की मूर्त्तियों में शिव को शव-रूप में तथा काली को उसपर विराजमान दिखाया गया है। यही शक्ति सदाशिव के ऊपर रहकर क्षोभ-रूप ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है—सदाशिवोपरि स्थित्वा ब्रह्माण्डं क्षोभमानयेत्।
—काली-विलासतन्त्रम्—लन्दन, १९१७; पटल २४, श्लो० २३
२. म० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि : बि० रा० प० पटना, १९६३; पृ० ४।
३. देवीभागवत, १।८।४० : सगुणा निर्गुणा सा तु द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥
४. प्रकाशतत्त्व अपने से बाहर जिसका विसर्जन करे वही विमर्श या विसर्जन है विसर्जन एक चमत्कार-मात्र है। प्रकाश का स्वभाव ही विमर्श है।—वही, पृ० १२
पुनः कामकलाविलास, प्रथम श्लोक की टीका में—मद्रास, १९५३ :
विमृश्यते परामृश्यते इदमिति विमर्शः प्रपञ्चः।
५. म० गो० ना० कविराज :
"वह प्रकाशात्मक शिव के स्वरूप-ज्ञान का उद्बोधक दर्पण-स्वरूप है। आद्या शक्ति का आश्रय लिये बिना इस आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता।"
— तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि, पृ० ७६; बि० रा० प०, पटना, १९६३

बिन्दु है, जिसे हम पुंतत्त्व कह सकते हैं। विमर्श रक्त-बिन्दु-रूप स्त्री तत्त्व है। इन दोनों का वाक् एवं अर्थ की तरह मिलन हो जाता है, जो कृष्ण बिन्दु-रूप में माना जाता है।[१] प्रकाश विमर्श-रूप में प्रत्यावर्त्तित हो अहं-रूप में भासमान होता है। शाक्तों की दृष्टि में यही महाबिन्दु है।[२] तान्त्रिक भाषा में निर्गुण ब्रह्म ही निष्कल शिव हैं, जो शक्ति के साथ संयुक्त हो सकल शिव की संज्ञा धारण करते हैं। शक्ति और शिव का एकाकार रहना ही पराबिन्दु या कारण-बिन्दु है। इस कारण-बिन्दु के अनन्तर क्रिया-बिन्दु है, जिसमें कार्य-शिव तथा कार्य-शक्ति का संयोग है। इनका मिथुन पिण्ड ही अहम् है। इन्हीं तीन व्यापारों को ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा जाता है। गन्धर्वतन्त्र के अनुसार[३] शक्ति, महेश्वर और ब्रह्म का वही अर्थ है तथा स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक भेदमात्र शाब्दिक है।[४] अभिनवगुप्त इसी ईश्वर-तत्त्व को क्रिया-शक्ति कहते हैं, जो सभी तत्त्वों को शरीर एवं विश्व को रूप प्रदान करती है।[५] शिव तटस्थ एवं उदासीन रहकर निरपेक्ष साक्षी-रूप में आत्म-शक्ति की यह लीला देखा करते हैं।[६]

**कामकला :**

शाक्ताचार्यों के अनुसार विश्व-सृष्टि तथा व्यक्तिगत देह की सृष्टि के मूल में एक ही व्यापार है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'—यही इनका आधार-सूत्र है। पिण्ड में शब्द के द्वारा नाड़ी-चक्रों के माध्यम से मानसिक सृष्टि होती है। यही क्रिया ब्रह्माण्ड में भी होती रहती है। ब्रह्माण्ड में इसी क्रिया से पंचभूत-युक्त बाह्य विश्व की रचना होती है। ब्रह्म एक सर्वव्यापिनी शक्ति या तत्त्व है। शुद्ध चेतन-स्वरूप होने के कारण उसमें आनन्द का स्पन्दन स्वाभाविक रूप से होता रहता है। ब्रह्म में जब इच्छा होती है तो उसमें क्रिया अथवा स्पन्दन आरम्भ होता है और नाद (शब्द, नाम) तथा बिन्दु (रूप, साकार सृष्टि) रूप ग्रहण करते

---

१. सितशोषबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसङ्कुचत्प्रसरम् ।
वागर्थसृष्टिहेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम् ॥६॥
—कामकला-विलास; मद्रास, १९५३।

२. S. N. Dasgupta : Philosophical Essays; Calcutta, 1941.

३. Ibid., Op. cit., p. 166.
इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वला ॥५३॥

४. द्रष्टव्य : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ३६; मद्रास, १९३८।

५. क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः ।
एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते ॥३९॥
—तन्त्रालोक, काश्मीर-ग्रन्थावली; श्रीनगर, १९२२।

६. म० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि, पृ० ७६।



हैं। चिदानन्द के महानन्द से प्रसूत यह क्रियाशक्ति स्वयं आनन्दमयी है और सृष्टि का कारण है। ब्रह्म का अपने स्पन्दन के साथ यह खेल, लीला तथा अलंकृत भाषा में मिथुन कर्म है। यही कामकला है। कला का वास्तविक अर्थ सृष्टि ही है। वाक् और अर्थ भी नित्य रूप से संयुक्त हैं। उन्हें भी शिव और शक्ति कहा गया है, जो त्रिधा रूप में सृष्टि, स्थिति एवं लय तथा तीन बीजों के रूप में स्थित हैं।[१] इसे ही नाद-बिन्दु, त्रिकोण, त्रिशूल, त्रितत्त्व, त्रिशक्ति, योनि या कामकला कहा गया है। अस्तु कामकला का अर्थ है—शिव-शक्ति-संयोग। इसे ही शाक्त कामकला कहते हैं[२] तथा वैष्णव महारास की संज्ञा देते हैं। कामकला के श्वेत बिन्दु और रक्त बिन्दु दोनों में परस्पर विहार करनेवाले शिव और शक्ति का निरन्तर संकोच (जगत् का सिकुड़ना) और प्रसार (जगत् की सृष्टि) चल रहा है। ये दो बिन्दु परस्पर अनुप्रविष्ट और पृथग्भूत हैं। ये दो बिन्दु ही कामेश्वर-कामेश्वरी-रूप नित्यमिथुन हैं।[३] यह बिन्दु अकार-वाचक प्रकाश और हकार-वाचक विमर्श, दिव्य दम्पति या मिथुन का समरसाकार है।[४]

**त्रितत्व : त्रिशक्ति के विभिन्न रूप :**

ऊपर नाद एवं बिन्दु की चर्चा आयी है। नाद और बिन्दु में नाद ही घनीभूत होकर बिन्दु बन जाता है—**'आसीच्छक्तिस्ततोनादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः'**[५]—वाक् ही नाद है, जिसका प्रतीक वर्णमाला है। चेतना के विस्तार में जब स्पन्दन होता है तो वह नाद-बिन्दु के रूप में त्रिकोण का रूप ग्रहण करता है। इन तीनों बिन्दुओं में शक्ति-बिन्दु ऊपर तथा नाद एवं बिन्दु नीचे रहते हैं। इन तीनों बिन्दुओं को मिला देने से त्रिकोण बनता है। त्रिकोण के भीतर जो स्पन्दन होता है, वही सृष्टि का रूप लेकर प्रकट होता है। यही महात्रिकोण समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के मूल में है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ—पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी—तीन प्रकार के शब्द; सृष्टि, स्थिति एवं संहार— तीन प्रकार के व्यापार; वामा, ज्येष्ठा और रौद्री—

---

१. वागर्थौ नित्ययुतौ परस्परं शिवशक्तिमयावेतौ ।
सृष्टिस्थितिलयभेदौ त्रिधा विभक्तौ त्रिबीजरूपेण ॥—कामकला-विलास, ९२।

२. कामकलेति विज्ञायते ।
शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥१॥—बह्वृचोपनिषद्; अड्यार, १९२५।

३. म० गो० ना० कविराज : ता० वा० में शा० दृ०, पृ० १६८।

४. स्फुटशिवशक्तिसमागमबीजाङ्कुररूपिणी पराशक्तिः ।
अनुतररूपानुतरविमर्शलिपिलक्ष्यविग्रहा भाति ॥—का० क० वि०, ३।

५. शारदातिलकम्, १।७।

ये तीन प्रकार की क्रियाएँ[1]; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—ये तीन प्रकार के शिवांश[2] अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं।[3] यही शब्द की पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी—तीन अवस्थाएँ हैं। वही प्रणव के अ-कार, उ-कार और म-कार हैं अथवा ऋक्, यजु एवं साम—वेदत्रय के रूप में ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिभात होते हैं। त्रिकोण का मध्य-बिन्दु, परावाक् अथवा अम्बिका और शान्ता—इन दो शिव-शक्त्यंश का साम्यभावापन्न रूप हैं।[4] वही त्रिलोक और त्रिमूर्त्ति है और उसका विशिष्ट रूप त्रिरेखा है तथा वही त्रिपुरा है एवं त्रिकोण-रूपी अमृतमयी कुण्डलिनी है।[5] सुविधा के लिए इसे निम्नांकित रूप में रखा जा सकता है :

**१. इच्छा—रजस्—वामा—ब्रह्मा—पश्यन्ती।**
**२. ज्ञान—सत्त्व—ज्येष्ठा—विष्णु—मध्यमा।**
**३. क्रिया—तमस्—रौद्री—रुद्र—वैखरी।**

पुनः ये ही त्रिबिन्दु के रूप में—

**शिव शक्ति एवं शिव-शक्ति।**
**प्रकाश विमर्श एवं प्रकाश-विमर्श।**
**श्वेत रक्त एवं कृष्ण।**
**बिन्दु नाद एवं बीज।**

त्रितत्त्वों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि समस्त विश्व में तीन की संख्या महान् मानी जाती है। 'तीन टिकट महाविकट' मुहावरे में शाक्तों के इसी प्रतीक की अगम्यता, दुर्बोधता एवं किसी अज्ञ का चमत्कार दिखलायी देता है। भगवान् शिव का त्रिशूल, शैवों का त्रिपुण्ड्र, वैष्णवों के ऊर्ध्वपुण्ड्र की तीन रेखाएँ भी उसी त्रितत्त्व के प्रतीक हैं।

---

१. विश्व को वमन करनेवाली है, इसीलिए वामा, शिवमयी होने के कारण ज्येष्ठा एवं कर्मदा तथा रोगनाशिनी होने के कारण रौद्री है।
—कामकला-विलास, पृ० २० (कलकत्ता, १९२२)।

२. ब्रह्मा, विष्णु, महेश का क्रम कामधेनुतन्त्र में वर्णित है :
इच्छाशक्तिर्भवेद् ब्रह्मा विष्णुश्च ज्ञानशक्तिमान्।
क्रियाशक्तिर्भवेद् रुद्रः सर्वं प्रकृतिमूर्त्तिमान्॥
(शब्दकल्पद्रुम : कलकत्ता, शकाब्द १८११; खण्ड २, पृ० १)

३. तन्त्रसार, आह्निक १ : तच्च सत्कार इच्छाशक्तिः, आमर्षात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं कार्यशक्तिः।

४. म० गो० ना० कविराज : ता० वा० में शा० दृ०, पृ० ७६।

५. त्रिपुरातापिन्युपनिषत् २।४।५।



ऊपर जिस त्रिशक्ति की चर्चा हुई है, वही त्रिकोण बनती है। इसी त्रिकोण के भीतर स्पन्दन (क्रिया) होता है, वही आकार ग्रहण कर त्रिगुणात्मक जगत् के रूप में प्रकट होता है। यह स्पन्दन निरन्तर होता रहता[1] है, जो सृष्टि का कारण है। इस बिन्दु में अनादिकाल से दिव्यमिथुन शिव-शक्ति का अथवा परमपुरुष और पराप्रकृति के श्रृंगारादि अनन्त भावों का विलास चलता रहता[2] है। स्पन्दन के शान्त होते ही आनन्दोल्लास-रूप ब्रह्म अर्थात् सृष्टि-रूपधारिणी देवी क्रियाशक्ति अपने स्थिर (कूटस्थ) रूप में विलीन होकर स्थिर हो जाती है।[3]

**आनन्दमयी शक्ति :**

चिदानन्द के महानन्द से उत्पन्न यह क्रिया-शक्ति आनन्दमयी है। परम शिव का जो कुछ प्रमातृत्व या ज्ञातृत्व या भोक्तृत्व है उस सभी का आधार शक्ति ही है। इसीलिए, यह शक्ति केवल ज्ञानरूपिणी या क्रियारूपिणी नहीं है, यह आनन्दरूपिणी भी है। यह शक्ति ही आनन्द-शक्ति है। तन्त्रालोक का वचन है :

**आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥३।६७॥**

यही आनन्द सभी सृष्टियों का मूल है। इस मिलन-प्रक्रिया में शक्ति ही आनन्द-रूपा बनकर अपने-आपको उत्पन्न करती रहती है।

**आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना ॥**[4]

यहाँ तक कि संसार में जो भी आनन्द हमें ज्ञात होता है या हृदय को जो भी आनन्दानुभूति है वह आनन्दरस विभ्रम-मात्र है तथा मूलतः वही आनन्दशक्ति है, जो समस्त ब्रह्माण्ड को व्याप्य-व्यापक रूप में परिव्याप्त किये हुई है।[5] अस्तु परम-शिव की ही पराशक्ति आनन्दमयी है।

**स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः।** (तं० सा० आ० १)

**नाद :**

यह उल्लेख हो चुका है कि वह निष्कल ब्रह्म अपने-आपको स्वभावतः देखता है। इस ईक्षण से इसमें अहम् का प्रकाश होता है। साथ-ही-साथ अस्मि का विमर्श भी स्वयमेव हो जाता है। यही प्रकाश शिवतत्त्व तथा विमर्श-शक्ति-तत्त्व है। ईक्षण के द्वारा आविर्भूत होने के कारण दोनों ही शक्ति के प्रसार हैं। ईक्षण

---

१. द्रष्टव्य—शंकराचार्य : सौन्दर्यलहरी १९; त्रिपुरोपनिषत् ११।

२. डॉ० गो० ना० कविराज : ता० वा० शा०, पृ० ७९।

३. डॉ० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या—बि० रा० प०, पटना, १९५९; पृ० १९७।

४. विज्ञानभैरव : श्लोक ६१, क्षेमराजकृत टीका से उद्धृत।

५. तन्त्रालोक (का० सं० ग्र०), ३।२०९-१०।

के पश्चात् निष्क्रिय से सक्रिय अवस्था में आने के निमित्त शिव एवं शक्ति का संयोग होता है। यह संयोग तथा इनका पारस्परिक सम्बन्ध ही नाद कहलाता है।[1]

शाक्त-दर्शन में इस नाद की बड़ी महत्ता है। नाद सभी ध्वनियों के उद्गम का कारण है। यही ब्रह्म है, जिसे नाद-ब्रह्म कहते हैं। यही अंकुर है। यही उत्पादक है। यही सभी वर्णों में बँटा है। चूँकि यह कभी नष्ट नहीं होता, इसी से इसे अनाहत (शाश्वत शक्ति) के रूप में कहा जाता है।[2]

## सृष्टि-विस्तार : सृष्टि-रचना की प्रथमावस्था :

सच्चिदानन्द विभव अर्थात् सकल परमेश्वर से शक्ति हुई, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न हुआ।[3] यह बिन्दु शक्ति की वह विशेष अवस्था है, जहाँ उसकी सृष्टि-क्रिया प्रारम्भ होती है। यह बिन्दु-तत्त्व ईश्वर-तत्त्व भी कहा जाता है। इस अवस्था में ईश्वर (अहम्) अपनी चेतना में अखिल विश्व (इदम्) को देखता है। यह ईश्वर-तत्त्व या बिन्दु-तत्त्व अनादि एवं अनन्त है। इसका स्थान-निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस बिन्दु-तत्त्व में अहं (चित्) इदं (विश्व) को ईश्वर-उन्मीलित मात्र चित्रकल्प के रूप में देखता है। नाद में जो क्रिया-शक्ति होती है, बिन्दु में अहं उसका निमेष-स्वरूप है और इदं उन्मेष-स्वरूप। यह अहं महाप्रलय की अन्तिम अवस्था है, जो सृष्टि-रचना के पूर्व होती है, और इदं महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि-रचना की सर्वप्रथम अवस्था है।

## शक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ : नाद और बिन्दु :

नाद और बिन्दु दोनों शक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इसी में क्रिया-शक्ति का बीज अंकुरित हो जाता है और सृष्टि-रचना के लिए क्षेत्र तैयार करता है। फलतः बिन्दु की शक्ति को उच्छून्नावस्था अथवा घनीभूत अवस्था के नाम से अभिहित किया जाता है।[4] 'जिस प्रकार दुग्ध दधि के रूप में परिणत होने के लिए घनीभूत होता है, उसी प्रकार शक्ति भी सृष्टि-रचना की इच्छा से घनीभूत होती

१. The Garland of Letters, Madras, 1932 :
'This Union and mutual Relation is called Nada.'—p. 108.

२. कामकलाविलास : मद्रास, १९५३; श्लोक ९ की व्याख्या में—
एको नादात्मको वर्णः सर्वनादविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इतीरितः ॥

३. शारदातिलकम् : सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥
—प्रथम पटल, श्लोक ७ ।

४. वही, १-७ की टीका : राघवभट्ट; बनारस, १९३४ ।



है।'[1] इस बिन्दु का अन्य अवस्थाओं से भेद करने के लिए पराबिन्दु भी कहते हैं।[2] अतः शक्ति की त्रिगुणात्मिका स्थिति सकल ब्रह्म में चित् रूप में ज्ञान अथवा सत्त्व-प्रधान रहती है। नाद-तत्त्व में क्रिया-रूप में रजःप्रधान रहती है तथा बिन्दु-तत्त्व में घनीभूत हो जाने के फलस्वरूप तमःप्रधान हो जाती है। इन तीनों अवस्थाओं में शक्ति के त्रिगुण विभक्त नहीं होते, एक साथ रहते हुए वे विशिष्ट गुण-प्रधान हो जाते हैं।

## चित् एवं माया-शक्ति :

अतः यह सिद्ध है कि सृष्टि के विकास के मूल में शक्ति ही मूलतत्त्व है। वह दो शक्तियों – चित्-शक्ति[2] एवं माया-शक्ति के रूप में कार्य करती है। चैतन्य रूप में वह द्रष्टा या विश्वोत्तीर्णा तथा मायिक रूप में दृश्या या विश्वरूपिणी बन जाती है।[3] जिस क्रिया के द्वारा असीम निराकार ब्रह्म आकार ग्रहण कर अपने को सीमाबद्ध कर लेता है वही माया है। ब्रह्म के आत्मस्फुरण अथवा स्पन्दन को ही माया-शक्ति कहते हैं। इस तरह शाक्त माया एवं ब्रह्म में भेद नहीं मानते। वह स्वयं बोध-रूप होते हुए भी कर्त्ता के भावों में भेद-बुद्धि-रूप है। वही माया-शक्ति है। विद्येश्वरों के साथ उसे ही दूसरे लोग विद्या नाम की संज्ञा से अभिहित करते हैं।[4] यही माया अपने अंश से उत्पन्न समस्त जीवों में भेद-बुद्धिरूपा है। जिस प्रकार समुद्र का तट निरन्तर लहर के द्वारा अवरुन्धित होता रहता है, माया भी उसी

१. S. J. Woodroffee : The Garland of Letters; Madras, 1922; p. 125.

२. Leidecker : Pratyabhijnāhridayam; Madras, 1938 :
"Citi-Sakti (a synonym for Siva-Sakti or preferably simply Sakti) is of an absolute nature and appears as jnāna, kriya and Māya-Sakti."—page 36.
प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः । (तं० सा०), आ० १ ।
पुनः वही, पृ० १२०, नोट ९७ ।
S. J. Woodroffee : Sakti and Sakta; London, 1920, p. 247 :
"All is chit, clothing itself in forms by its own power of Chit-Sakti and Maya-Sakti and that power is not different from itself."

३. S. J. Woodroffee : Sakti and Sakta; Madras, 1959:
Manifest Maya-Sakti in the universe in which Cit-Sakti is the changeless spirit, unmanifest Maya-sakti is consciousness."—p. 311.

४. भेदधीरेव भावेषु कर्त्तृबोधात्मनोऽपि वा ।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यदा ॥—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (३।२।९)

प्रकार आत्मा के निरंकुश विभव को सदा अवरुन्धित करती रहती है।[1] माया भेद-बुद्धि है, अतः निषेध व्यापार-रूपिणी है।[1] वही महामाया है।

**बिन्दु :**

पहले ही बिन्दु-तत्त्व का उल्लेख किया जा चुका है। वह बिन्दु-तत्त्व पर-बिन्दु के रूप में तीन रूपों में विभक्त हो जाता है। बिन्दु से कार्य-बिन्दु, कार्य-बिन्दु से नाद तथा नाद से बीज—ये तीन रूप हो जाते हैं। इन तीनों को क्रमशः परबिन्दु, सूक्ष्म बिन्दु तथा स्थूल बिन्दु कहते हैं। सूक्ष्म बिन्दु हिरण्यगर्भ एवं स्थूल बिन्दु विराट् संज्ञा को प्राप्त होता है। कारण, बिन्दु-तत्त्व में ईश्वर के साथ शक्ति समष्टि-कारण-शरीर के रूप में अर्थतः आभासित होती है। इस समष्टि-कारण में आनन्द-ईश्वर का प्रत्यय होता है। कार्य-बिन्दु में हिरण्यगर्भ के साथ शक्ति समष्टि-सूक्ष्म-शरीर के रूप में अर्थतः आभासित होती है। उसमें सृष्टि-कल्पना-हिरण्यमय गर्भ का प्रत्यय होता है। स्थूल बिन्दु में विराट् के साथ शक्ति-समष्टि स्थूल शरीर के रूप में आभासित होती है। इसमें सृष्टि-कल्पना-विराट् का प्रत्यय होता है।[3] इस प्रकार माया-शक्ति सकल ब्रह्म में ज्ञान या सत्त्व-प्रधाना रहती है। वही माया-शक्ति नाद-तत्त्व से लेकर बिन्दु के तीनों रूपों तक क्रिया या रजःप्रधाना रहती है। माया-शक्ति के इस सत्त्व-प्रधान एवं रजःप्रधान रूप को ही विद्या नाम की संज्ञा दी गयी है। माया-शक्ति जब रजःप्रधाना होकर ईश्वरादि रूप में सृष्टि-कल्पना की घनीभूत अवस्था में आती है तो तमःप्रधाना या अविद्या नाम की संज्ञा ग्रहण करती है। शाक्तों की यही सृष्टि-विकास की रूपरेखा कही जाती है।

**कला :**

ब्रह्म के निष्कल और सकल रूप की चर्चा आने पर स्वतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि **कला** किसे कहते हैं। चित्स्वरूपा शक्ति जब ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्ममयी हो जाती है तो ब्रह्म निष्कल अथवा तत्त्वातीत हो जाता है। ब्रह्ममयी शक्ति जब चैतन्य हो जाती है तो ब्रह्म सकल कहलाता है।

शक्ति की उन्मनी एवं समनी—दो अवस्थाएँ कही गयी हैं। उन्मनी अवस्था में यह निष्कल होकर ब्रह्म में लीन रहती है। समनी में कलायुक्त होकर सकल ब्रह्ममयी होती है।

---

१. माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निङ्कुशविभवंवेलेव वारिधे रुन्धे ॥—तत्त्वसन्दोह (५।५)

२. S J. Woodroffee : The Garland of Letters; Madras, 1922; P. 91.

३. S. J. Woodroffee : The Garland of Letters, p. 90.

4678



शक्ति प्रधानतः सोलह कलाओं से युक्त मानी जाती है और पूर्ण कलामूर्त्ति है। शिव निष्कल हैं। उनमें कला नहीं है। शक्ति कला-अंश से युक्त है। शक्ति के १।१६ अथवा अन्य अंश की कलामूर्त्ति संज्ञा है। कलामूर्त्ति के अंश अंश-मूर्ति के नाम से तथा अंशमूर्त्ति के अंश अंशांशमूर्त्ति के नाम से कहे जाते हैं। हम मायिक जगत् में जिसे अंश कहते हैं, वह प्रकृति में आविर्भूत विश्व में ही दृष्ट होता है। अतः प्रकृति के पश्चात् जो समनी शक्ति या अन्य शक्तियाँ दीख पड़ती हैं, वे सब शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं। कला को हम पारिभाषिक रूप में एक विशेष विभूति या शक्ति की लीला कह सकते हैं। कला उस अवस्था में कंचुक का एक अंश बनती है जब वह परमशक्ति और कला से उत्पन्न हुए पुरुष की चेतना का निर्माण करती है।

**कंचुक :**

कंचुक अथवा आच्छादनी शक्ति प्रकृत पूर्णता को भेदकर 'अस्मि' से आच्छादित 'अहं' के रूप में प्रकट होती है। कंचुक कोष या संकोच को कहते हैं। वह इसलिए कि सृष्टि अनन्तशक्ति का संकुचित रूप है। कंचुक के छह प्रकार माने गये हैं— माया, काल, नियति, राग, विद्या और कला।

काल—शिव की वह नित्यता-शक्ति, जो उतरकर प्रलय और सृष्टि तत्त्व को अभिव्यक्त करती हुई परिच्छेद-क्रिया का सम्पादन करती है, काल-तत्त्व कहलाती है।[1] यही भिन्न-भिन्न वस्तुओं के अतीत, वर्त्तमान एवं भविष्य-भेद का नियामक है।

नियति—इसकी स्वतन्त्रा शक्ति, जो संकोचशालिनी है तथा इस अपरा आत्मा का विभिन्न कर्मों में नियमन करती है, नियति है।[2] यही भिन्न-भिन्न जीवों के शरीर, इन्द्रियादि भिन्नता का परिचायक है।

राग—इसकी नित्यपरिपूर्ण तृप्ति-शक्ति परिमित होते हुए जब आत्मा को भोग में अनुरक्त करती है तो राग कहलाती है।[3] राग-तत्त्व ही वह इच्छा है, जिस पर सारा अनुभव निर्भर करता है।

---

१. सा नित्यतास्य शक्तिर्निष्कृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण ॥
—तत्त्वसन्दोह (५।११)

२. यास्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ॥
—तत्त्वसन्दोह (५।१२)

३. नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्येव परिमिता नु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वमाख्याता ॥
—तत्त्वसन्दोह (५।१०)

**विद्या**—जब सर्वज्ञता-शक्ति परिमित होकर अल्पज्ञान रखती हुई ज्ञान का उत्पादन करती है तब उसे **विद्या** कहते हैं।[1] कला, इसकी सर्वकर्त्तृता-शक्ति संकुचित होकर कतिपय अर्थों से युक्त होकर इस (आत्मा) को किंचित् कर्त्ता बनाते हुए **कला** संज्ञा को प्राप्त होती है।[2]

| तत्त्व | शक्ति | विश्वानुभव | कंचुक | सीमित अनुभव |
|---|---|---|---|---|
| शिव | चित् | नित्यत्व | काल | कब अब |
| शक्ति | आनन्द | व्यापकत्व | नियति | कहाँ, वहाँ, जहाँ |
| सदाशिव | इच्छा | पूर्णत्व | राग | यह, वह |
| ईश्वर | ज्ञान | सर्वज्ञत्व | विद्या | यही, वही, ऐसा |
| सद्विद्या | क्रिया | सर्वकर्त्तृत्व | कला | इतना, उतना, कितना |

यह कला अन्तः एवं बाह्य भेदों से दो प्रकार की कही जाती है। बाह्य कला के सोलह भेद कहे गये हैं। ये शक्ति के विभिन्न नाम हैं, जो साधना में उपयोगी हैं। यह कला-विभाग सांकेतिक मात्र कहा गया है।[3]

कुछ नामों की चर्चा निम्न रूपों में मिलती है। ज्ञानरूपा होने के कारण कला इन्धिका, निरोधरूपा होने पर रोधिनी कही जाती है। पुनः नादरूप ऊंकार (अ उ म्) की कलाएँ निम्नांकित हैं :

सिद्धि, ऋद्धि इत्यादि अकार-ब्रह्मा की कलाएँ; रजा, रक्षा, रति आदि उकार-विष्णु की, तथा क्षुधा, निद्रा, मृत्यु आदि मकार-रुद्र की कलाएँ कही गयी हैं।

---

१ सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमित तनुरल्पवेधमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधेराद्यैः ॥
—तत्त्वसन्दोह (५।६)

२. सर्वकर्त्तृता शक्तिः सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्त्तारममुं कलयन्ती कीर्यते कला नाम ॥
—तत्त्वसन्दोह (५।८)

३. द्रष्टव्य—डॉ० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि; बि० रा० प०, पटना, १९६३; पृ० १५४।



शक्ति की सोलहवीं कला को अमा-कला कहा जाता है। चन्द्र-पूर्णिमा में पूर्णता अक्षुण्ण रहती है। वहाँ कृष्णपक्ष नहीं रहता। कृष्णपक्ष को काल-ग्रास कहा जाता है। साधना के क्षेत्र में विन्दु-स्थान पर पहुँचकर साधक इसी पूर्णिमा-कला का साक्षात् करता है। पर सोलहवीं कला तो अमृत-तत्त्व है। ये पन्द्रह कलाएँ काल-स्पृष्ट हैं और इनका कभी भी क्षय हो जा सकता है; क्योंकि ये पन्द्रह कलाएँ काल-राज्य में संक्रमण करती हैं। किन्तु, शक्ति की सोलहवीं कला, जो अमा-कला है, बन्धन-स्वरूपा है। सत्रहवीं निर्वाण-कला में इस पाश से मुक्ति हो जाती है। पुरुष भी षोडश कलाओं से युक्त अमृता कला के नाम से प्रसिद्ध है। ये षोडश कलाएँ—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्राएँ और सोलहवाँ मन हैं।[1]

नाद आदि तत्त्वों की अन्तःशक्ति के रूप में कला इन नादादि तत्त्वों का चार अण्डों में विभाजन करती हैं—ब्रह्माण्ड, मूलाण्ड, मायाण्ड एवं शक्त्यण्ड। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड, जो पृथ्वी तथा अन्यान्य तत्त्वों से युक्त है, आकाश द्वारा आवृत होता है उसी प्रकार मूलाण्ड प्रकृति द्वारा, मायाण्ड माया द्वारा तथा शक्त्यण्ड शक्ति द्वारा आवृत होते हैं। इस शक्त्यण्ड में शान्ता-कला विद्यमान रहती है। इसका प्रसार शक्ति-तत्त्व से लेकर सद्‌विद्या-तत्त्व तक होता है। एक अण्ड की व्याप्ति एक कला-व्याप्ति के बराबर मानी गयी है। अण्डों की समाप्ति के बाद भी कला-विभाग की समाप्ति नहीं होती। शक्ति के ऊपर शिव-तत्त्व में भी कला है—शान्त्यतीताकला। किन्तु, परमशिव में कला नहीं है। वह निष्कल अथवा परमपद हैं।[2]

काल :

शाक्त-दर्शन में काल शब्द का भी व्यवहार होता है। काल परमात्मा की इच्छा और क्रिया-शक्ति का सम्मिलित रूप है। इच्छा होना ही क्रिया का प्रवर्त्तन है। इसलिए परमात्मा की गति-शक्ति, जिसका नाम काल है, वह उसकी इच्छा और क्रिया-शक्ति है।[3] काल को एक शक्ति के रूप में माना गया है। यह काल अनन्त है तथा सर्वव्यापी, और शक्तिशाली, सबको गतिशील रखनेवाला है। इसीलिए चक्र या नाग के प्रतीक के रूप में इसकी कल्पना की जाती है।[4]

---

१. डॉ० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि—बि० रा० प०; पटना, १९६३; पृ० ३०९।

२. द्रष्टव्य—वही, पृ० १५३-५४। तथा S. J. Woodroffee : Garland of Letters; Madras, 1922, p. 146—154.

३. डॉ० ज० मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या—बि० रा० प०, पटना, १९५९; पृ० १४।
४. डॉ० ज० मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या—बि० रा० प०, पटना, १९५९; पृ० १७।

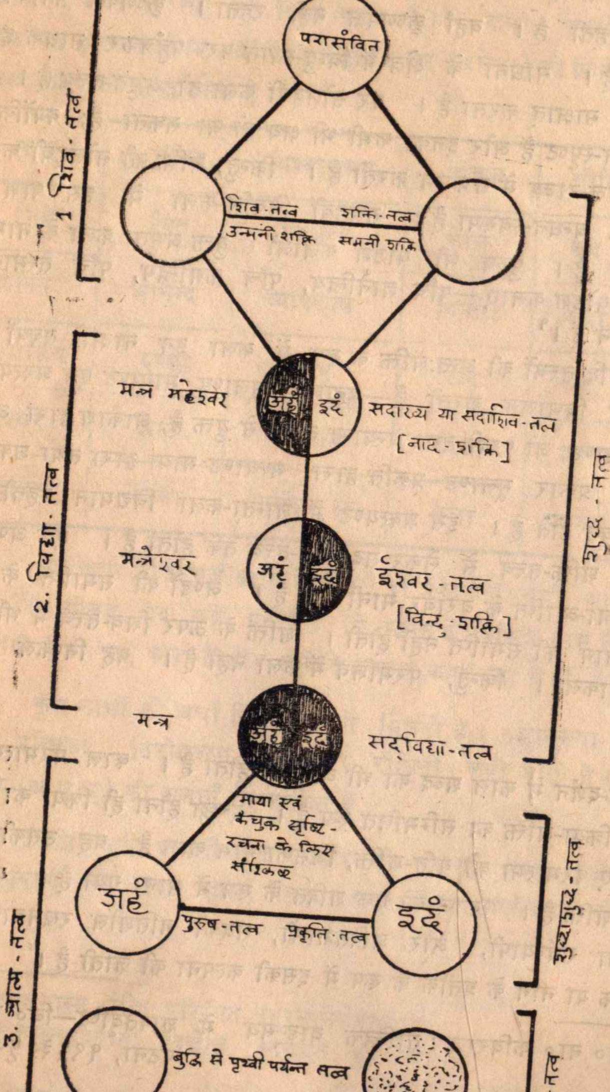


[ सर जॉन उडरफ कृत 'दी गारलैण्ड ऑफ लेटर्स' के आधार पर ]



## दिक् :

दिक् का प्रयोग वस्तुओं को एकत्र रखनेवाली शक्ति के रूप में हुआ है।[१] सृष्टि-कार्य के लिए गति के साथ स्थिति आवश्यक है। दिक् सभी को स्थिरता देती है। जिस प्रकार काल सबको चलाता है, दिक् उसी प्रकार अवरोध करती रहती है। यह सृष्टि काल-दिक् (गति-स्थिति) में निवास करती है।[२]

## परासंवित् :

शाक्त-दर्शन में विभिन्न तत्त्वों की भी चर्चा हुई है। शक्ति तत्त्व के अन्दर शक्ति, सदाख्य-तत्त्व में नाद तथा ईश्वर-तत्त्व में बिन्दु की चर्चा हो चुकी है। ज्ञान के दो अंश अहमांश एवं इदमांश अथवा शिव और पराशक्ति का अखण्ड ऐक्य ही परम ज्ञान है, जिसे परासंवित् कहते हैं। यह तत्त्वातीत अवस्था है, जिसमें न शिव की प्रधानता है, न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव परमशिव की संज्ञा देते हैं तथा शाक्त पराशक्ति या परासंवित् की।

## शिव-शक्ति-तत्त्व :

शिवतत्त्व में सम्बद्ध शक्ति-तत्त्व के व्यापार से ज्ञान का इदमांश निकल जाता है तथा अहं विमर्श ही शेष रह जाता है। इस अहं विमर्श के साथ इदम् अथवा जगत् फिर सम्पर्क में आता है। एकात्म्य नहीं रहता है और दोनों अलग-अलग आत्मा के अंश-रूप में रहते हैं। अन्ततोगत्वा अहम् एवं इदम् अलग-अलग हो जाते हैं। यह शिव एवं शक्ति-तत्त्व सृष्टि एवं प्रलय में सदा एकरस रहनेवाला है। यहाँ तत्त्व कार्यरूप नहीं। यही अखिल ब्रह्माण्ड का बीज या योनि माना जाता है। (दे० चित्र)।

## सदाख्य-तत्त्व :

ज्ञान का प्रथम आभास सदाशिव या सदाख्य-तत्त्व कहा जाता है। यहाँ कारण, कार्य-रूप में विभासित रहकर भी सदा एकरस रहता है तथा संकल्पों की

---

१. "Kāla, general principle of movement and Dik, a principle which holds things together."—S. J. W. : Power of Mind; Madras, 1922; p. 62.
२. See : S. J. W. : The Garland of Letters; Madras.

आदिम अन्तर्मुखी रचना प्रारम्भ होती है। सृष्टि अथवा विकास की यह पहली सीढ़ी है। प्रलय अथवा संकोच का अन्तिम सोपान भी यही है। जगत् के बाह्यतत्त्व को उन्मेष कहते हैं। इसमें विमर्श के अहमंश की प्रधानता रहती है। यही सदाशिव है, जिसे वैष्णव विष्णु के नाम से अभिहित करते हैं तथा बौद्ध अवलोकितेश्वर कहते हैं।[1] इसी में अवतारों का बीज छिपा है तथा मंत्रशास्त्र में इसे ही नाद-शक्ति कहते हैं। (दे० चित्र)

ईश्वर-तत्त्व :

विकास को प्राप्त होते हुए ज्ञान की तीसरी अवस्था को ईश्वर-तत्त्व कहा जाता है। यहाँ अहम् के स्थान पर इदम् की प्रधानता है। ज्ञान का अव्यक्त इदम् के रूप में संसार या जगत् के साथ पूर्ण अभेदत्व प्राप्त कर लेता है। मन्त्रशास्त्र में यह बिन्दु-तत्त्व कहा जाता है। (दे० चित्र)

शुद्ध विद्या-तत्त्व :

चतुर्थ क्रम में सद्विद्या, विद्या या शुद्ध विद्या-तत्त्व है। ज्ञान की यह ऐसी अवस्था है, जिसमें अहम् और इदम् की समान रूप में स्थिति रहती है। अहम्-इदम् की समानता हो जाने पर आगे चलकर दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। यह भेदाभेद विमर्शात्मक मंत्र-रूप है। भेद-विमर्श अर्थात् अहम् से इदम् का अलग हो जाना और अभेद-विमर्श अर्थात् अलग-अलग होने पर भी एक ही आत्मा का अंश माना जाना। इसकी तुलना द्वैतवादियों के ईश्वर से की जाती है, जो जगत् को अपने से भिन्न रूप में देखता हुआ भी उसे अपनी ही विभूति मानता है। यह विमर्श मन्त्र-रूप इसलिए कथित है कि यहाँ शुद्ध आध्यात्मिक भाव-राज्य है। (दे० चित्र)

माया का व्यापार :

इसी अवसर पर माया-शक्ति[2] प्रादुर्भूत होकर अहम् और इदम् में भेद उत्पन्न कर देती है और कंचुक उसे देश-काल, जन्म-मरण, विषय-वासना के वशीभूत कर देती है। यही पुरुष-प्रकृति-तत्त्व है। शाक्त-दर्शन में कंचुकों के वश में पड़ी आत्मा अथवा शिव को ही पुरुष कहते हैं। जगत् की प्रत्येक वस्तु पुरुष है। प्रकृति शिव की शान्त शक्ति है, जिसमें गुणों की साम्य अवस्था है। ये गुण इच्छा, ज्ञान और क्रिया के स्थूल रूप हैं। सभी पदार्थ पुंजीभूत अथवा भावमय होकर उसीके

---

१. द्र०—'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० ६६

२. 'माया-शक्ति ही महामाया है।' द्र० महामाया : S. J. Woodroffee; Madras, 1954, p. 11
'Maya is Divine Mother Power or Mahamaya.'



भीतर समाहित हैं। पुरुष भोगनेवाला है तथा प्रकृति भोग्या है। यह (पुरुष-रूप) आत्मा से भिन्न रूप से दृष्टिगत होती है। इसके उपरान्त वह अन्तःकरण इन्द्रिय एवं भूतों (जागतिक उपादानों) में विभक्त हो जाती है।[1] इसी के साथ अन्य कलाएँ भी हैं, जिनकी ऊपर चर्चा हो चुकी है।

छत्तीस तत्त्व :

शक्ति के उपासक इस जगत् को छत्तीस तत्त्वों से बना स्वीकार करते हैं। इसके तीन विभाग—(१) शिव-तत्त्व, (२) विद्या-तत्त्व एवं (३) आत्मा-तत्त्व हैं। शिव-तत्त्व दो तत्त्वों का विभाग है—शिव-तत्त्व एवं शक्ति-तत्त्व। विद्या-तत्त्व में सदाख्य या सदाशिव ईश्वर एवं शुद्ध विद्या या सद्विद्या—ये तीन तत्त्व गृहीत हैं। आत्म-तत्त्व में इकतीस तत्त्व हैं—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) तथा पाँच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर)।

प्रस्तुत चित्र में इन तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है। प्रस्तुत चित्र से स्पष्ट है कि शक्ति का विजृम्भण इसी रूप में होता है। आविर्भाव-क्रम के विपरीत ही तिरोभाव होता है। आविर्भाव सृष्टि-विज्ञान की व्याख्या करता है तथा तिरोभाव में साधना की व्याख्या है।

मातृका या मंत्र-शक्ति :

शाक्त-दर्शन में मातृका-शक्ति का भी महत्त्व है। यह अक्षर, बीजाक्षर, शब्द, वाक्य तथा यथार्थ गान-विद्या की भी शक्ति है।[2] इसी शक्ति के कारण मंत्र-शास्त्र के मंत्र जाग्रत् होते हैं। कुण्डलिनी-शक्ति के मूल में यही शक्ति है। मंत्र के निरन्तर जप एवं ध्यान से मंत्र की सिद्धि होती है। जितने भी बीज-मन्त्र हैं, वे पृथ्वी पर इसी शक्ति के व्यक्त रूप माने जाते हैं।[3] यही मंत्रशक्ति सारी शक्तियों का मूल कही जाती है।

षट्चक्र-भेद :

जीव की आत्मा शिव-स्वरूप है। मोह एवं अज्ञान से आच्छादित होने के फलस्वरूप वह आत्मा विशुद्ध चक्र में शव-रूप में अवस्थित रहती है। इस प्रसुप्त आत्मा को, शव-रूप शिव को, जगाये बिना आत्मज्ञान के पथ पर अग्रसर होना कठिन

---

१. See—Theos Bernard : Philosophical Foundations of India, London; p. 107—113.

२. श्रीभवानी शंकर : शक्ति-अंक, पृष्ठ ६९।

३. S. J. Woodroffee : The Garland of Letters, p. 243.

ही नहीं, असम्भव है। इस प्रसुप्ति का भेदन करने में समर्थ है शक्ति। शक्ति के बिना शिव को जगाया नहीं जा सकता। अस्तु साधक इस सुप्त शक्ति को जाग्रत् कर उसकी सहायता से शव-रूपी शिव को प्रबुद्ध करता है। **मूलाधार** से विशुद्ध चक्र तक के पाँच चक्र पाँच भौतिक तत्त्वों के केन्द्र हैं। शक्ति व्यापक भाव से सर्वत्र ही सुप्त रहती है। शक्ति एक है और अभिन्न है तथापि चक्र-भेद से उसकी स्थिति पृथक्-पृथक् है। मूलाधार में शक्ति जाग्रत् होने से उसके प्रभाव से स्वाधिष्ठान में भी शक्ति जाग्रत् हो जाती है। चरमावस्था में शक्ति के पूर्ण जाग्रत् हो जाने पर पाँचों चक्र खुल जाते हैं और तब लेश-मात्र भी जड़त्व नहीं रहता। शक्ति के पूर्ण जागरण का फल यह होता है कि शव-रूपी शिव जाग्रत् हो जाते हैं, आत्मा की अनादि निद्रा भंग हो जाती है और तभी शिव-शक्ति-सामरस्य सिद्ध हो जाता है।

शाक्त-दर्शन में षट्चक्र मतानुसार योग का अर्थ है जीवात्मा और परमात्मा या परम शिव का मिलन। ध्यान के द्वारा साधक षड्चक्रों का भेदन करने में समर्थ होता है। जीव कुण्डलिनी में जाग्रत् हो ऊर्ध्व में चक्रों का भेद कर सहस्रार तक पहुँच जाता है। ये विभिन्न चक्र मातृका-शक्तियों के अधिष्ठान हैं। शिव की शक्ति चिद्रूपा होने पर भी जीव-देह में (रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले भाग में) मूलाधार में अचिद् रूप में सोयी पड़ी रहती है तथा जीव को अपने शिव-रूप का अनुभव नहीं होने देती। इसी **मूलाधार** को कुण्डलिनी कहते हैं। शाक्त-दर्शन में प्रतीक-रूप में इसे समस्त विश्व को बाँधनेवाला कहा जाता है।[1] विश्व के भीतर कुण्डलाकार प्रत्यक्ष रूप में वर्त्तमान, वही देवी पराशक्ति है। सभी तत्त्व तथा उनकी देवियाँ इसी विश्व में विराजमान हैं।[2] इसके ऊपर छह चक्र हैं। प्रत्येक चक्र की वर्णरूपा देवी शक्ति है। मूलाधार से सम्बन्धित वर्ण, वँ, शँ, षँ तथा सँ हैं। प्राणायाम से जाग्रत् होकर यह शक्ति विद्युल्लता के रूप में मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्म-नाड़ी में प्रवेश कर ऊपर की ओर चलती है।

(२) **स्वाधिष्ठान-चक्र** : स्थिति लिंग-स्थान के सामने है। यह छह दलों का कमल है। दलों पर वर्ण वँ, मँ, भँ, पँ, रँ, लँ की स्थिति मानी गयी है। इस चक्र का यंत्र जलतत्त्व का द्योतक है एवं अर्द्ध-चंद्राकार है। बीज है तथा बीज का वाहन मकर है।

---

१. डॉ० ज० मिश्र : भारतीय प्रतीक-विद्या - बि० रा० प०, पटना, १९५७; पृ० २४३।

२. या सा देवी पराशक्तिः प्राणवाहा व्यवस्थिता ॥४३॥
विश्वान्तः कुण्डलाकारा सा साक्षादग्रवर्त्तिता।
तत्त्वानि तत्त्वदेव्यश्च विश्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥४.॥
—तन्त्रालोक - श्रीनगर, १७३७, आह्निक ३०।



(३) **मणिपूरक चक्र** : नाभि-प्रदेश के सामने मेरुदण्ड-स्थित इस चक्र का कमल दस पटलों का है, जिसपर डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, नँ, पँ, फँ, वर्णों की स्थिति मानी गयी है। यंत्र त्रिकोण है तथा अग्नि-तत्त्व का द्योतक है। यंत्र का बीज रँ है, वाहन मेष है।

(४) **अनाहत चक्र** : हृदय-प्रदेश के सामने यह चक्र अरुण वर्ण के द्वादश दलों से युक्त कमल का बना है। इसमें कँ से लेकर ठँ तक के वर्णों की स्थिति मानी गयी है। चक्र का यंत्र धूम्र वर्ण, षट्कोण तथा वायु-तत्त्व का सूचक है। इस चक्र के मध्य में शक्ति-त्रिकोण है, जिसमें विद्युत्-सा प्रकाश है। इस त्रिकोण से सम्बद्ध 'बाण' नामक स्वर्ण-कांतिवाला शिवलिंग है, जिसके ऊपर एक छिद्र है। इस छिद्र से लगा अष्टदलवाला हृत्पुण्डरीक नाम का कमल है। इसीमें उपास्य देव का ध्यान किया जाता है। मन्त्र का बीज यँ है तथा बीज का वाहन मृग है।

(५) **विशुद्ध चक्र** : कण्ठ-प्रदेश-स्थित इस चक्र में धूम्र-वर्ण सोलह दल-वाला कमल है, जिसपर अँ से अः तक सोलह स्वरों की स्थिति मानी गयी है। इसका यंत्र पूर्ण चन्द्राकार है और आकाश-तत्त्व का द्योतक है। यंत्र का बीज हँ है और बीज का वाहन हस्ती है।

(६) **आज्ञा-चक्र** : यह चक्र भ्रूमध्य के सामने मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में स्थित है। इसका कमल श्वेत वर्ण के दो पटलोंवाला है। इसपर हँ, शँ अक्षरों की स्थिति मानी जाती है। यह यंत्र महत्-तत्त्व का स्थान है। चक्र का यंत्र विद्युत्प्रभा-युक्त 'इतर' नामक अर्द्धनारीश्वर का लिंग है। यंत्र का बीज प्रणव है। बीज का वाहन नाद है और उसके ऊपर बिन्दु भी स्थित है।

इन छह चक्रों के भेदनोपरान्त मेरुदण्ड के ऊपरी हिस्से पर सहस्रदलवाला सहस्रार-चक्र है, जहाँ परम शिव विराजमान हैं। हजार पटलों पर बीस बार प्रत्येक स्वर तथा व्यंजनों की स्थिति मानी गयी है। परमशिव से कुण्डलिनी-शक्ति का योग लययोग है।

'षट्चक्र-निरूपण' में इन चक्रों के देव-देवियों के नाम आये हैं। योगी के लिए मन, प्राण एवं कुण्डलिनी एक ही वस्तु है। मन ही चन्द्र है, प्राण सूर्य है तथा कुण्डलिनी वाक्शक्ति अग्नि का स्वरूप है।[1]

इसके प्रभाव में मूलाधार-स्थित चार वर्ण-मातृकाएँ विगलित हो नाद-रूप धारण कर एक हो, ऊपर अन्य चक्रों को निनादित करती हैं। अन्त में षड्-

---

१. डॉ० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० ९९; बि० रा० प०, पटना, १९६३।

चक्रों की पचास वर्ण-मातृकाएँ नाद-रूप में परिणत हो पहले छह बिन्दुओं में परिणत हो, अन्त में एक बिन्दु में स्थित हो जाती हैं। यही बिन्दु भ्रू-मध्य स्थित तृतीय रूप-बिन्दु है। बिन्दु के उन्मीलित होने पर अर्थात् तृतीय नेत्र या आज्ञा-चक्र के खुल जाने पर जीव फिर जीव नहीं रहता, शुद्ध शिव-रूप हो जाता है।[1]

## हंस एवं हंसोच्चारण :

निष्कल ब्रह्म में लीन शक्ति को सरस्वती भी कहते हैं। सरस्वती का वाहन हंस है। यही आदिहंस का रूप है, जिसे निस्पन्द और स्पन्दन-तत्त्व का सन्धि-स्थान माना जाता है। 'हं' ही पुरुष या शिवतत्त्व है तथा 'सः' प्रकृति या शक्ति-तत्त्व। हं से सः की ओर संसरण करने से शक्ति प्रपंचाभिमुखी होती है। यह हं अहम् का तथा सः इदम् का पर्याय है। इसको उलट देने पर सोऽहं बनता है, जो प्रपंच से पर-ब्रह्म (परावाक्) की ओर ले जानेवाला है। सोऽहं-साधना अथवा अजपा जाप की यही महत्ता है। इसका आधार लेकर सांसारिक प्रापंचिक संसरण से वाक् अथवा शक्ति के प्रवाह को मोड़कर उसके अखण्ड, उद्गम-स्थान निष्कल ब्रह्म की ओर ले जाना, विपरीत दिशा में जाना है, जो श्रमसाध्य है। इस क्रिया में जहाँ द्रष्टा-दृश्य या शिव-शक्ति या अहम्-इदम् का एकीकरण होता है, वहाँ साधक को नाद की अनुभूति होती है और यह नाद-रूपी हंस का स्वाभाविक उच्चार ही परिस्फुट वर्ण का उच्चार है। यह वर्णोच्चार योगियों को भ्रू-मध्य-स्थान में बिन्दु-रूप में अनुभूत होता है।[2]

शाक्त-दर्शन के मूल दार्शनिक सिद्धान्तों को देखने पर एक ही बात बार-बार स्पष्ट दिखायी देती है और वह है शिव-शक्ति-मिलन। वह षड्चक्र-भेदन से, जप एवं साधना से प्राप्त हो सकता है। सृष्टि की सर्वोपरि सत्ता महाशक्ति ही है। उसी में सारे वर्ण (अक्षर) अक्षर-रूप में समाहित हैं। वही सभी अवतारों का मूल कारण है। उसीसे दस महाविद्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं।[3] इन दस विद्याओं का दशावतारों से भी सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है।[4] सगुण-रूप की प्रतिष्ठा कर भक्ति को भी महत्त्व दिया गया है। यह शक्ति ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया का समन्वय

---

१. डॉ० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १००; बि० रा० प०, पटना, १९६३।
२. वही, पृ० २९५।
३. काली, तारा, महाविद्या, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता···आदि।
४. द्रष्टव्य : 'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० ४३२।



ही नहीं, किन्तु आनन्द भी है। इसीलिए शक्ति को 'निजसुखमय नित्य निरुपमाकारा' कहा गया है।[1]

यंत्र-प्रतीक :

इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यंत्र-प्रतीक के रूप में है। ऊपर जो कुछ निवेदित हो चुका है, उसका प्रतीक ही श्रीयंत्र है। पराशक्ति की कलाविद्या (सृष्टि-रचना) श्रीचक्र के आकार में है। उसके मध्य में बिन्दु-स्थान है। वही परमेश्वरी का निवास-स्थान है। वहीं वे सभी तत्त्वों से परे सदाशिव के साथ अभिन्न रूप में विराजमान रहती हैं। भैरवयामल में इसी का वर्णन है :

कलाविद्या पराशक्तेः श्रीचक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बिन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी॥
सदा शिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि॥[2]

इस श्रीयंत्र के मध्य में जो त्रिकोण है, उसे ही योनि की संज्ञा दी गयी है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया—उसके तीनों कोण हैं और उसके बीच में चिचिनी शक्ति का निरन्तर स्पन्दन होता रहता है :

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियद्‌यं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम्॥[3]

ऊपर जिस बिन्दु की चर्चा की गयी है, वहीं से सृष्टि का आरम्भ होता है। यह शिवलिंग का लिंग-स्थान, विष्णु की नाभि, जहाँ से सृष्टि-पद्म निकलता है, शिव की नाभि, जिसके पद्म पर शक्ति का विलास होता है और बुद्ध के मस्तक का बिन्दु है।[4] बिन्दु के विस्तार में जब शक्तिमान्-शक्ति की कल्पना की जाती है तब बिन्दु के बाहर दो त्रिकोण रहते हैं। ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण शिव एवं अधःशीर्ष शक्ति का प्रतीक है। यह शिव-शक्तिमय बिन्दु फैलकर वृत्त का रूप ग्रहण करता है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति है, जिसका निरन्तर प्रसार होता रहता है। इस कुण्डल (वृत्त) के भीतर सब कुछ है, इसलिए इसे कुण्डली और हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है।

---

१. The reality is not the unity of iccha, jnana and kriya only, but also of bliss. It is therefore that she is spoken as Nijasukhanaya—nityanirupamakara.— S. N. Das Gupta: Philosophical Essays, p. 178, Calcutta 1941.
२. कामकला-विलास : २७वें श्लोक की टीका से उद्धृत।
३. तन्त्रालोक : बम्बई, १९२०, श्लोक ६४ की टीका से उद्धृत।
४. डॉ० जनार्दन मिश्र : भा० प्र० वि०, पृ० २२३।

बिन्दु का विस्तार चतुष्कोण के रूप में होता है। चतुष्कोण स्थिरता का प्रतीक है। फैलती हुई शक्ति केन्द्र-बिन्दु से निकलकर वृत्त-रूप धारण करती हुई चतुष्कोण के रूप में स्थिरता प्राप्त करती है।

श्रीयंत्र का विवरण श्रीमद्शंकराचार्य-रचित सौन्दर्य-लहरी में संक्षिप्त रूप से दिया गया है। चार श्रीकण्ठ (शिव-ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण) पाँच शिवयुवति (शक्ति-अधः-शीर्ष त्रिकोण), सभी शंभु (मध्य बिन्दु) से पृथक्, मूल प्रकृति-रूपी नौ त्रिकोण, सब मिलाकर तैंतालीस, अष्टदल-कमल, षोडश दल-कमल, तीन वलय, तीन रेखाओं वाला चतुष्कोण अथवा भूपुर—इनसे ही श्रीचक्र बनता है।[1] (देखिए चित्र) समय-मतवाले सृष्टि-क्रमवाले श्रीयंत्र की तथा कौलमतानुयायी संहार-क्रम-वाले श्रीयंत्र की पूजा करते हैं।[2]

**शक्तिपात :**

शाक्तों की दृष्टि में समस्त विश्व ही शक्तिमय है तथा सृष्टि में प्रतिक्षण शक्ति का व्यापार देखा जा सकता है। शाक्तों में इसी कारण उपासना तथा जप आदि का महत्त्व है तथा इसी कारण इनमें शक्तिपात की महिमा है। शक्तिपात अनुग्रह को कहते हैं। भगवती-शक्ति का यह अनुग्रह विरलों को ही प्राप्त होता है। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और साधना' में शक्तिपात के रहस्यों का उद्घाटन किया है।[3]

**बीजमंत्र :**

प्रासंगिक रूप से यहाँ एक और विशेषता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है और वह है बीजमंत्र। योगीजन का चरम लक्ष्य होता है विकल्पमयी सृष्टि का उल्लंघन करके शुद्ध बोधात्मक स्वात्मस्थिति में प्रवेश पाना, जिसका सरल उपाय नादानुसन्धान माना जाता है। मंत्रशास्त्र में जिसे मंत्र-चैतन्य कहते हैं, वह वस्तुतः इस प्राणमय नाद-शक्ति का ही आविर्भाव है। जप के द्वारा, भावना के द्वारा या किसी योग-क्रिया के द्वारा इस उन्मना-पद तक आरोहण आवश्यक है। उन्मना में न मन है, न मात्रा है, न काल है, न देश है, न देवता। वहाँ प्रपंच का भी कोई अंश नहीं है। यही चरम लक्ष्य है, जिसे शुद्ध चिदानन्द-भूमि कहा जाता है।[4] यही नाद-साधना है, जिसे ऊँकार-साधना की संज्ञा दी गयी है। ऊँ ह्रीं महाबीज

---

१. शंकराचार्य : सौन्दर्य-लहरी, श्लोक ११।
२. भ० प्र० सिंह : 'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० ३७९।
३. द्र०—डॉ० गोपीनाथ कविराज : भारतीय संस्कृति और साधना; बि० रा० प०, पटना (१९६२), पृ० २२०—२३७।
४. डॉ० गो० ना० कविराज : भा० सं० और सा०, पृ० ४१५।

॥ श्री रामार्चा यन्त्रम् ॥

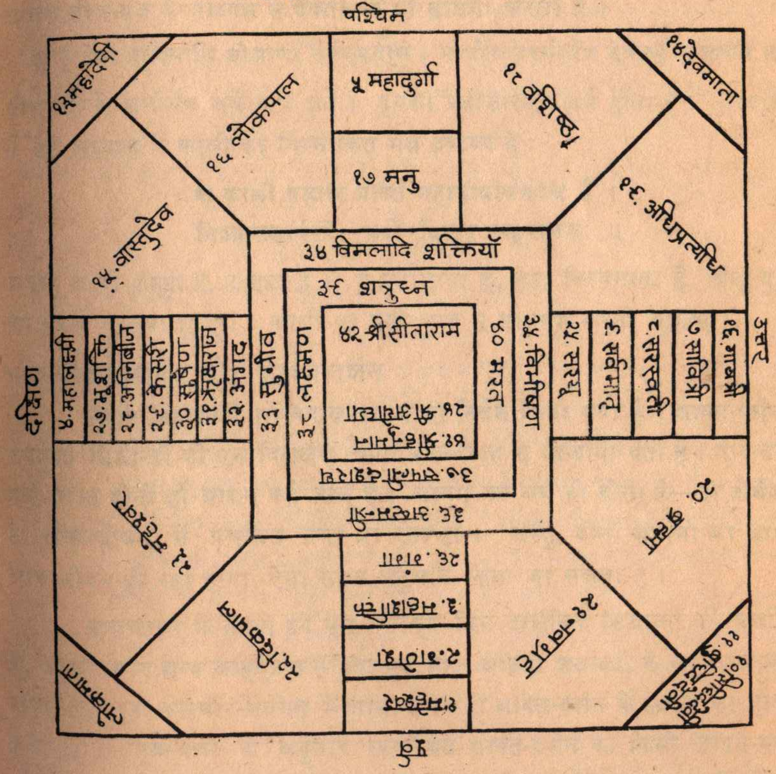

है। ॐ जैसे सामान्य नाद है वैसे अन्य बीजमंत्र भी विशिष्ट नाद हैं। **प्रणव या** ॐ नादब्रह्म का वाचक है तथा बीजमंत्र विभिन्न देवताओं के सगुण रूप-वाचक हैं। बीजमंत्र प्रायः एकाक्षर होता है, यथा—कँ। किन्तु कँ में एक अक्षर नहीं है। मकार का वर्ण भी संयुक्त है। चन्द्रबिन्दु का चन्द्र ही नाद है तथा बिन्दु, बिन्दुरूप है। प्रत्येक देवता या देवी का अपना बीज होता है। उदाहरणार्थ क्रीँ, ह्लीँ, और रँ के देवता क्रमशः काली, माया एवं अग्नि हैं। इस प्रकार प्रत्येक नाद-शक्ति के रूप में शक्ति के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार किसी देवता का मंत्र स्वयं ही देवता है। साधक बीज-मंत्र के माध्यम से देवता की ही साधना करता है।

**शृणु देवी प्रवक्ष्यामि बीजाणां देवरूपताम्। मन्त्रोच्चारमात्रेण देवरूपं प्रजायते ॥**[1]

बीजमंत्रों के शाब्दिक अर्थ नहीं होते। इनका प्रतीकात्मक अर्थ होता है। वरदातंत्र के छठे अध्याय में काली का निम्नांकित मंत्र द्रष्टव्य है :

**क काली ब्रह्मार प्रोक्तं महामायार्थकश्च ई।**
**विश्वमातार्थको नादो बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ॥**

अर्थात् क ही काली है, र ब्रह्म हैं। ई महामाया है, नाद विश्वमाता है, बिन्दु दुःखों का हरण करनेवाला है। काली की इसी भाव से साधना करनी चाहिए।

## पाञ्चरात्र-आगम और शाक्त-दर्शन :

पिछले अध्याय में पाञ्चरात्र-आगम का निर्देश किया गया है। शाक्त-दर्शन के उपर्युक्त सिद्धान्तों की एक विलक्षण समता पाञ्चरात्र से दिखायी देती है। पाञ्चरात्र एवं शाक्त दोनों ही आगम कहे जाते हैं। आगम का अर्थ ही होता है—जो दीर्घकाल से लोक-जीवन में प्रचलित चला आ रहा हो। अस्तु, दोनों आगमों का आधार लोक-जीवन ही रहा होगा, ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है।

पाञ्चरात्र में लक्ष्मी को मूल मानकर जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा हुई है, उनके प्रधान ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य संहिता का काल आठवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। पुनः काश्मीर-शैवमत के आधार पर ही शाक्त-दर्शन के स्वरूप का विकास हुआ है। पूर्व-चर्चा के अनुसार व्यवस्थित शाक्त-दर्शन का किसी खण्डन-मण्डन की पद्धति से व्यवस्थित विकास नहीं हुआ और इसके दार्शनिक स्वरूप-निर्माण में शैवागमों का ही योग माना जाता है तथा काश्मीर-शैवमत के आचार्य श्रीकण्ठ (नवीं शताब्दी) का आधार लेकर पाञ्चरात्र का परवर्त्ती मानते हैं।[2] पाञ्चरात्र की

---

१. बृहद्गन्धर्वतन्त्र, अ० ५
(गारलैण्ड ऑफ लेटर्स, पृ० २४३ से उद्धृत)
२. श० भू० दासगुप्त : श्रीराधार क्रम-विकास, पृ० ३७।

लक्ष्मी इस प्रकार शैवागम की शक्ति की पूर्ववर्त्ती जान पड़ती हैं। यह कहना कि लक्ष्मी को ही आधार मानकर शक्तिवाद का विकास हुआ, पर्याप्त विवाद का विषय है। पिछले अध्याय में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जनमानस में जो शक्ति-भावना थी, वही व्यवस्थित होकर शक्तिवाद के रूप में प्रकट होती है। जनमानस में रुद्र की प्राचीनता सिद्ध है। सुरों-असुरों और देवों-राक्षसों के संघर्ष की कथाओं को एकत्र कर देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि पहले शिव का ही दौरदौरा था। फिर शिव और शैवों को परास्त कर विष्णु की प्रधानता हुई। दोनों में प्रतिद्वन्द्विता और विरोध बहुत समय तक चला और बाद में दोनों के समन्वय की चेष्टा हुई, जो हरि-हर की मूर्त्तियों से स्पष्ट है।[1] ऋग्वेद की देवी अदिति एवं पृथ्वी तथा शिव का विकास भी, विद्वानों के अनुसार आर्य एवं अनार्य सम्मिलन-काल में हुआ था।[2] अतः यह कहना असंगत न होगा कि द्रविड़ों की मातृ-देवियों का जन-समाज में बढ़ते हुए प्रभाव को देख, तथा शिव पर आधिपत्य स्थापित करने के निमित्त पाञ्चरात्र की रचना हुई होगी। पुनः कालक्रम में पाञ्चरात्र की स्पर्द्धा में शैव-दर्शन की रचना हो गयी होगी। पं० बलदेव उपाध्याय यह मानने को तैयार नहीं हैं कि पाञ्चरात्र-संहिताओं में प्रतिपादित शक्ति-तत्त्व शैव-दर्शन या शाक्त-दर्शन के द्वारा प्रभावित या अनुप्राणित है।[3]

जो भी हो, जब हम लोक-मानस की चर्चा करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि लौकिक संस्कार, आचार-विचार और प्रथा-पद्धति पहले सामाजिक जीवन में ही प्रकट होते हैं। अध्यात्म की चिन्ता में रत मनीषियों को यही आधार मिलता है, जिसकी नींव पर वे तत्त्व या दर्शन का महल-निर्माण करते हैं। शक्तिवाद की लोक-प्रसिद्ध भावना ही अपने दार्शनिक स्वरूप में पाञ्चरात्र एवं काश्मीर-शैवमत में विकसित हुई और यह समानान्तर ही हुई रही होगी। विष्णु की प्रतिष्ठा बढ़ जाने का ही संभवतः यह परिणाम है कि मार्कण्डेय पुराणोक्त देवी-माहात्म्य में शक्तियों का वैष्णवी शक्ति के रूप में कथन हुआ है।

### पाञ्चरात्र-परिचय :

यहाँ संक्षेप में पाञ्चरात्र-मतानुसार शक्ति-तत्त्व की भी चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। पाञ्चरात्र की लगभग दो सौ संहिताओं का उल्लेख किया जाता

---

१ डॉ० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन (१९६०), पृ० ३६९-७०।

२. A. D. Pusalkar : The Vedic Age, p. 194

३. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृ० १८३



है।[1] पाञ्चरात्रानुसार विश्व के प्रारम्भ में आदिपुरुष था। वह सद्रूप तथा असद्रूप दोनों रूपों में विद्यमान था। सद्रूप अर्थात् जिसमें सत्ता, चैतन्य, आनंद आदि सभी गुण हों तथा असद्रूप अर्थात् जिसमें कार्य का कोई रूप या सृष्टि-प्रपंच विद्यमान न हो। उसकी इच्छा से शक्ति का स्फुरण हुआ। उसकी यही इच्छा अर्थात् विश्व को उत्पन्न करने की इच्छा का संकल्प, शक्ति की इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक रूप का जागरण है। यह शक्ति अपने शक्तिमान् से अलग नहीं थी। उसके अलग होने की कल्पना भी अचिंत्य है। शक्ति का कोई स्वरूप नहीं, उसे केवल कार्यों में ही देखा जाना संभव है।

> **शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक् स्थिताः।**
> **स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः॥**[2]

शक्ति के दो भेद स्वीकृत हैं—(१) परा या समवायिनी शक्ति तथा (२) माया या प्राकृत शक्ति। इनके द्वारा उत्पन्न सृष्टि भी दो प्रकार की—शुद्ध एवं शुद्धेतर सृष्टि—होती है। प्रशांत महासागर में बुद्बुद होने से क्षोभ की तरह निर्गुण ब्रह्म में स्वातन्त्र्य-शक्ति के उन्मेष से षड्गुणों का प्रथम आविर्भाव होता है। लक्ष्मी के प्राथमिक उदय का नाम है—गुणोन्मेष या शुद्ध सृष्टि। प्रद्युम्न से स्थूल भूतों तक की सृष्टि शुद्धेतर सृष्टि कहलाती है। प्रथम सृष्टि में पराशक्ति या योगमाया ही कारण है तथा द्वितीय सृष्टि में प्राकृत शक्ति या माया। सांख्य में जहाँ प्रकृति को जड़ माना गया है, वहाँ पाञ्चरात्र में यह प्रकृति चिद्रूप आत्मतत्त्व द्वारा छुरित होने पर चैतन्यमयी प्रतीत होती है और सृष्टि-कार्य में संलग्न होती है।[3] जगत् का प्रकृत रूप में सर्जन करने के कारण वह प्रकृति है, वह सब कुछ में व्याप्त रहती है तथा सभी वस्तुओं का अलग-अलग रूपों में परिमाण करती है, इसीलिए उसको माता कहा जाता है :

> **प्रकुर्वन्ति जगत्स्वेन प्रकृतिः परिगीयते।**
> **निमीते च तता चेति सा माता परिकीर्त्तिता॥**[4]

शुद्ध सृष्टि में चार क्रम-परिणतियाँ दिखलायी देती हैं। यही पाञ्चरात्र का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह तत्त्व है। एक-एक व्यूह भगवान् का प्रकाश-स्तर कहा जा सकता है। ये व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध हैं। शक्ति एवं शक्तिमान् की

---

१. Dr. Schrader : An Introduction to the Panchratra Samhita (Adyar)

२. अहिर्बुध्न्य-संहिता, ३।२

३. जयाख्य-संहिता, पृ० २७

४. अहिर्बुध्न्य-संहिता, ३।१६-१७

प्रथम अभेदावस्था को ही वासुदेव-तत्त्व कहा जाता है।[१] सर्वशक्तिमान् वासुदेव जब सृष्टि की इच्छा से अपना विभाजन करते हैं तो यह विभक्त रूप ही संकर्षण है।[२] संकर्षण-व्यूह में ही शुद्ध सृष्टि से अशुद्ध सृष्टि प्रकट होती है। अभी चित्-अचित् में कोई भेद नहीं है और शुद्धाशुद्ध विश्व प्रच्छन्न रूप से संकर्षण के ज्ञानमय देह के अन्दर है। संकर्षण-व्यूह से प्रद्युम्न-व्यूह की उत्पत्ति होती है। इसी स्तर पर पुरुष प्रकृति से विलग होकर सत्त्व, रज, तमोमय त्रिगुणात्मिका प्रकृति की उत्पत्ति होती है। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है। अनिरुद्ध सुसम्पन्नता का कार्य करते हैं। वे काल की सहायता से जड़ एवं चेतन की सृष्टि कर जगत्-ब्रह्माण्ड के अधिपति के रूप में विराजते हैं।

पाञ्चरात्र में भी लक्ष्मी को जगत् की योनि कहा गया है—'या च सा जगतां योनिर्लक्ष्मीस्तद्धर्मधर्मिणी।' यह 'परमात्मलीना' शक्ति 'तारा' एवं 'ह्रीं' के नाम से कथिता हैं। विष्णु की भूति-शक्ति और क्रिया-शक्ति के भीतर क्रिया-शक्ति की एक मंत्रमयी स्थिति है। यही जाग्रत् होने पर नाद का स्वरूप धारण करती है, जिसका योगी साक्षात् किया करते हैं। उन्मेषहीन दशा में इसे ही बिन्दु कहा जाता है। यह बिन्दु नाम और नामी भेद से पहले शब्द-ब्रह्म के रूप में उदित होता है। पुनः भूति का प्रवर्त्तन होता है। शब्द-सृष्टिमयी शक्ति, लक्ष्मी, कुण्डलिनी-रूपा मूलाधार में निवास करती है। यही शब्दार्थ का विवर्त्तन करती हुई नाभिपद्म में पश्यन्ती नाम से अभिहित की जाती है। हृदय-पद्म में प्रवेश कर वाच्य-वाचक-भाव से क्रियामयी होती है। इसके अनन्तर यह शक्ति कण्ठ में प्रवेश कर व्यंजनादि के रूप में प्रकट होती है। यही नाद का रूप है, जिसे तंत्र एवं स्फोटवाद में 'वैखरी' कहा जाता है। इसीसे वर्णों को विष्णु-शक्तिमय तथा विष्णु-संकल्पजृम्भित कहा जाता है।[३] विष्णु की इसी नादरूपा शक्ति को सोम-सूर्यात्मिका कहा गया है। इसी सोमसूर्य से स्वर-व्यंजनादि वर्णमाला की सृष्टि हुई है।[४]

### समाहार :

पूर्वचर्चित षड्दर्शनों में आस्तिक दर्शनों का एक-दूसरे पर पर्याप्त प्रभाव है, यह प्रायः विद्वानों की राय है।[५] पुनः इनमें वैदिक कर्मकाण्ड का आधार ले

१. अहिर्बुध्न्य-संहिता, वही, ५।६
२. वही, ५।२९-३०
३. 'विष्णुशक्तिमया वर्णा विष्णुसङ्कल्पजृम्भिताः।'—अ० सं० १७।३
४. तुलनीय : सोम, सूर्य, अग्नि—गारलैण्ड ऑफ लेटर्स; पृ० २३५
५. चटर्जी, दत्त : भारतीय दर्शन—पटना, पृ० ११



मीमांसा तथा वैदिक ज्ञानकाल का अवलम्ब ग्रहण कर वेदान्त आया। आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय एवं वैशेषिक लौकिक विचारों से उत्पन्न माने जाते हैं।[१] शाक्त-दर्शन में वेदों का कर्मकाण्ड, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग—सभी की झलक मिलती है। वेदान्त की अद्वैतवादी भावना का रूप भी यहाँ स्पष्ट है और ब्रह्म एकमात्र सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित है।[२] वैष्णवों के परमेश्वर की तरह अपने ईश्वर या ईश्वरी रूप में इसमें ब्रह्म की उद्भावना है, जैसा शंकराचार्य के वेदान्त में नहीं है।[३] पुनः अ से ह तक के वर्णों को शाक्त-दर्शन ने प्रतीक के रूप में उपनिषदों एवं आरण्यकों की प्रतीकोपासना का आधार लेकर स्वीकार किया।[४] **मंत्र साधना** में योग की समाधि एवं आरण्यकों के प्रतीक का आधार लिया गया है तथा मंत्र का महत्त्व इतना है कि मरणकाल में भी मंत्र-दीक्षा से प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता है।

भक्ति की आवश्यकता समझी गयी और शाक्त साधक साधनावस्था में बड़े ही भावविह्वल होकर माँ शब्द का उच्चारण करते हैं। उत्पलाचार्य ने भी भक्ति की महत्ता को बताया है।[५] शाक्त-दृष्टिकोण से शक्ति को **लीलामयी** कहा गया है तथा त्रिपुरारहस्य-माहात्म्य-खण्ड एवं ब्रह्मपुराणोत्तर खण्ड में लीला-विग्रहों की चर्चा है।[६] **युगल-तत्त्व** को प्राप्त हो जाने पर लीला का अवसान हो जाता है। यह लीला वैष्णवों की निकुंज-लीला से मिलती-जुलती है। वैष्णवों का लीला-क्षेत्र आगम-साहित्य में विशुद्ध अध्वा है।[७] शिव और शक्ति का **दिव्य मिथुन-भाव**, राधा-कृष्ण का युगल-रूप और भगवान् बुद्ध तथा प्रज्ञापारमिता का साम्य स्पष्ट ही है। **गुरु की महत्ता** शाक्त-दर्शन में सर्वाधिक है, जो **दीक्षा** से शिष्य के पाशों का नाश कर देते हैं तथा शिवत्व की योजना करते हैं। सुन्दरी-तापनीय के अनुसार घट, कलश एवं कुंभवत् मन्त्र, देवता एवं गुरु एक ही शब्द के वाचक हैं।[८] दीक्षा के लिए **श्रद्धा** की अपेक्षा है। पुनः **अनुग्रह** या **शक्तिपात** होने

१. वही, पृ० ९।
२. महानिर्वाणतंत्र (३।६—९)।
सत्तामात्रम् निर्विशेषम् अवाङ्मनसागोचरम्—इत्यादि।
३. S. N. Dasgupta : Philosophical Essays :
"Thus we find that there is a form of Brahma Upasana such as we do not set in the Samker Vedanta."—p. 154.
४. म० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १७३।
५. वही, पृ० १७७।
६. पं० श्रीनारायण शास्त्री : 'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० ११८।
७. म० गो० ना० कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १०७।
८. पं० श्रीनारायण शास्त्री : 'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० ११६।

पर ही भगवत्-भक्ति का उदय होता है, ऐसा शाक्तों का मत है। फलाकांक्षा रखनेवाला उच्च साधक नहीं हुआ करता। शक्तिपात से प्रारब्ध-कर्मों का नाश हो जाता है। **बाह्य पूजा** तो आधार-मात्र है और **आन्तरिक पूजा** पर विशेष बल दिया जाता है। सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को शाक्त-धर्म स्वीकार करता है। जब मायाशक्ति क्रियाशीला रहती है तब उसका अधिष्ठान—महाशक्ति सगुण कहलाती है और जब महाशक्ति में मिली रहती है तब महाशक्ति निर्गुण कहलाती है। वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के कारण निर्गुण है तथा गुणमयी मायाशक्ति की अधीश्वरी होने के कारण सगुण है।[1]

शाक्त-दर्शन के मूल सिद्धान्तों के परिचय में हमें कतिपय विचार-बिन्दु आकर्षित करते हैं। संसार का मैथुनी-सृष्टि होना तथा शाक्त-दर्शन के विभिन्न प्रतीकों में त्रिकोण का होना यह सिद्ध करता है कि शाक्त-दर्शन ने सृष्टि का मूल कारण, व्यावहारिक पक्ष की भाँति दार्शनिक पक्ष में भी, कामकला को ही माना है।[2] यह कामकला सुनने में ग्लानिजनक भले ही साधारण जनों को लगे, पर इसकी ध्रुव सत्यता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जयशंकर प्रसाद जी ने 'काव्य और कला' तथा अन्य निबन्ध में रहस्यवाद के प्रसंग में काम पर प्रकाश डाला है :

'यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है। ………काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेता है। इसी वैदिक काम की, आगम-शास्त्रों में, कामकला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी।'

यह कामकला एक शक्ति है, जो पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में प्रतिपल-प्रतिक्षण कालचक्र में निनादित हो रही है। यह शक्ति स्त्रीरूपा बनकर विश्व को धारण करती है तथा उत्पन्न करती है। वह पालती भी है तथा संहार भी काली के रूप में करती है। अर्थात् सृष्टि में जो भी है वह शक्ति है। वही मातृ-शक्ति है। वह लीलामयी स्वतंत्र विविधरूपा अनुग्रहकारिणी है। अन्य दर्शनों से

---

१. 'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० ७३। अन्यत्र, देवीभागवत (१।८।४०)
　　सगुणा निर्गुणा सा तु द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
　　सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

२ "यही यामलतत्त्व, युगल-तत्त्व या मिथुन-तत्त्व है। यही शिव-शक्ति-सम्मिलन है; क्योंकि पुरुष शिवतत्त्व का तथा नारी शक्ति-तत्त्व का प्रतीक है। दोनों का मिलन ही सामरस्य-जनित असीम-अनन्त आनन्दानुभूति है। बौद्धों की भाषा में यही महासुख, तंत्रों की भाषा में सामरस्य-सुख तथा वैष्णवों की भाषा में महाभाव-सुख है।"—श० भू० दासगुप्त : श्रीराधार क्रम-विकास, पृ० २५३।



इसका मात्र इसी पक्ष में अन्तर है कि इसमें शक्ति की प्रतिष्ठा है। सांख्य की प्रकृति या शाक्तों की शक्ति, उसे हम जिस नाम से सम्बोधित करें, वह मूलतः एक शक्ति ही है।

इस दर्शन के आधार पर शिव-शक्ति-तत्त्व को निम्नांकित तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

एक – शाक्त-दर्शन के अनुसार परमतत्त्व एक अद्वय-तत्त्व है। समरसता उसका धर्म है तथा शिव एवं शक्ति उस परमतत्त्व के दो अंश हैं; जैसे एक चणक के दो अंश।

दो—शिव ही शक्तिमान् हैं और वे शक्ति के मूल आश्रय हैं। यह भावना ही सर्वाधिक प्रचार पा चुकी है।

तीन—त्रिभुवन में व्याप्त शक्ति ही परमतत्त्व है। यह परमशक्ति, जिसके भीतर आधारीभूता है वही शिव हैं। शक्ति का आधार होने के कारण ही वे शक्तिमान् हैं।

## दर्शन एवं साहित्य का सम्बन्ध :

दर्शन और साहित्य में अटूट सम्बन्ध है। दोनों का लक्ष्य समान है, केवल साधना का अन्तर है। दर्शन में ज्ञान की प्रधानता है और साहित्य में भाव की। दर्शनशास्त्र अपने तर्क-वितर्क के द्वारा जो निष्कर्ष निकालता है, साहित्य उसी निष्कर्ष को काव्यमयी भावना का जामा पहनाकर साहित्य का विषय बना लेता है। अतः यह कहा जा सकता है कि दर्शन साहित्य के लिए पथ का निर्माण करता है।[1]

साहित्य की चेतना में जीवन-सत्य मुखर होता है। भक्त कवियों की रचनाएँ हों अथवा रीतिकालीन शृंगारिक कविता हो अथवा छायावादी या रहस्यवादी काव्य हो—सभी स्थलों पर जीवन-सत्य ही मुखर होता है। हाँ, यह बात अलग है कि दर्शन के रंग उसमें यत्र-तत्र छींटे दे मारते हैं। किन्तु दर्शन की खोज अथवा शाक्त-दर्शन की दार्शनिक स्थापनाओं का प्रभाव दर्शन के रूप में ढूंढना हमारा आलोच्य नहीं बन सकता। साहित्य में **भाव प्रधान** होता है। उसकी अभिव्यक्ति ही कला की संज्ञा धारण करती है और कलाओं की संख्या अनगिनत है। हमारा मन्तव्य यह है कि दर्शन ने मातृ-शक्ति को सर्वोपरि सत्ता की भाव-प्रतिष्ठा दे दी। उसे एक सर्वोपरि स्थिर रूप दे दिया। वही शक्ति विविध

---

१. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : हिन्दी-साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० १६

नाम-रूप धारण कर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में प्रतिष्ठा पाती रही है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि शक्ति से शिव-पत्नी का अभिप्राय सर्वत्र नहीं होता।

भारतीय चिन्ता ने सदा बहुत्व में एकत्व का अन्वेषण किया है। यही 'एकोऽहं बहुस्याम' हमें विविधताओं के जम्बाल—जाल से उबार कर एकत्व के धरातल पर लाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि उसी एकमात्र शक्ति का विविध रूप हमें हिन्दी-साहित्य में प्राप्त होता है। कहीं वह सीता है, कहीं राधा तथा कहीं पर वह उमा है। वही चैतन्य की राधा है, सहजयानी सिद्धों की प्रज्ञा है, कबीर की विरहिणी है (आत्मा नहीं), सूर की राधा तथा गोपिकांगना है, तुलसी की रामवल्लभा सीता है। बिहारी आदि रीति-कवियों की राधा नागरी तथा प्रसाद की कामायनी है। सर्वत्र ही वही शक्ति विभिन्न विभाओं से उद्भासित रही है।[1]

शक्ति की साहित्य में व्यापकता :

पूर्वचर्चित त्रिमूर्ति में हम जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव की समष्टि पाते हैं, उस प्रकार की मूर्ति हमें शक्ति की प्राप्त नहीं, पर विभिन्न शक्तियों का एकरूपा होना अथवा एक ही विभा की अनेक किरणें होना सिद्ध है। इस दिशा के प्रयास में दुर्गासप्तशती का उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ समस्त देवियाँ आकर पुनः एक देवी में समाहित हो जाती हैं।[2] विचारने पर वहाँ देवी एक दैवी शक्ति के रूप में आसुरी शक्तियों का नाश करती पायी जाती है। यह तो समस्त भारतीय अभिव्यक्ति पर पुराण-शैली का प्रभाव मानना चाहिए, जिसका आधार ले हम सदा प्रतीकों एवं अतिशयोक्ति में अभिव्यक्ति करते आ रहे हैं। प्रतीक अथवा अतिशयोक्ति का आवरण हटाकर रूप एवं आकार की सीमाओं के पार हम उसी मूल शक्ति के अन्वेषण के क्रम में तीन प्रकार की शक्तियों का उल्लेख करना चाहते हैं :

प्रथमतः शक्ति का उल्लेख जहाँ विकृत रूप में हुआ है, वह विकार इसलिए कहा गया कि उसे एक जुगुप्सित प्रतीक के रूप में वर्णित किया गया। सिद्धों के साहित्य में वह डोमिनी, डाकिनी। इत्यादि के रूप में वर्णित होती है। उसके साथ संभोग करना प्रतीकात्मक है, किन्तु वह स्वयं एक शक्ति का प्रतीक है। यहाँ शक्ति का स्वरूप उदात्त नहीं है, भोग्या है। इसीलिए उसे विकृत की संज्ञा दी गयी है।

द्वितीय रूप, जहाँ वह देवी के रूप में वर्णित है। देवी का अर्थ देवता की पत्नी ही नहीं। उदात्त रूप से जहाँ उसका स्वरूप आया है, वही देवी (दिव्य के अर्थ में) कहा जाना चाहिए। इस कोटि में भक्ति-काल के कवियों द्वारा उल्लिखित शक्तियों की चर्चा की जानी चाहिए। यहाँ शक्ति परमात्मा की सखी, पत्नी या प्रेमिका के रूप में अवतरित होती है।

तृतीय रूप में हम नायिका को ले सकते हैं। नायिका अर्थात् जहाँ उसका शुद्ध सम्बन्ध नायक के साथ हो। यहाँ उसका न तो विकार-ग्रस्त रूप, न दिव्य रूप ही मिलता है, किन्तु वह मात्र रसमयी, हावभाव-कुशला नायिका के रूप में अवतरित होती है। इस कोटि में रीतिकालीन कवियों की नायिकाओं की चर्चा की जानी चाहिए, जिनकी नायिकाएँ राधा तो हैं, पर नाममात्र की हैं। उनका नायिकात्व ही मुखर है।

वर्णन की सुविधा के लिए नाम का आधार तो रखना अनिवार्य हो जाता है। अस्तु, मूल शक्ति के उल्लेख के क्रम में उनके रूप, व्यापार और आकार के वर्णन की भी अपेक्षा रहेगी।

१. तुलनीय : भिद्यते सा कतिविधा सूर्यो दर्पणसन्निधौ।
आकाशो भिद्यते यादृक् घटस्थादिस्तथा च सा।
एकैव हि महाविद्या नाममात्रं पृथक् पृथक् ॥—ब्रह्माण्डतन्त्र (उद्धृत), पृ० २७३ (श्रीराधा र क्रम-विकास)

२. दुर्गासप्तशती : १०।६-८ : एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ॥५॥

## तृतीय अध्याय

# उत्तर-भारत में भक्ति की लहर तथा शाक्त-भावना के साथ उसका संयोग

### भक्ति का उत्तर-भारत में आगमन—एक घटना :

उत्तर-भारत में भक्ति का आगमन एक महान् सांस्कृतिक घटना थी। सांस्कृतिक इसलिए कि इसने जनमानस की विचारधारा में चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न कर दिया। साहित्य, समाज एवं राजनीति तक इस लहर से अस्पृष्ट नहीं रह सकी। भारत के इस काल के इतिहास में, एक सजग प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है और वह प्रभाव अन्य सभी संस्कारों को मलिन कर देनेवाला सिद्ध हुआ। यह नहीं कि भारत की भूमि के लिए यह (भक्ति) सर्वथा नवीन एवं मौलिक वस्तु बनकर आयी थी। यह तो भारतभूमि में प्राचीन काल से ही वर्त्तमान थी, पर इसका अस्तित्व मात्र अस्तित्व ही था। इसमें वह ललक नहीं थी। इसमें वह उद्घोष नहीं था।

भारत की भूमि में धार्मिक साधना ने सभी दिशाओं में अन्वेषण किया है। इस अन्वेषण के क्रम में उसने ऐसी-ऐसी नयी दिशाएँ दी हैं कि कालविशेष में जन-मानस को झुमा दिया है। उपनिषदों के आविर्भाव ने वैदिक परम्परा को निष्प्रभ कर डाला, बौद्ध एवं जैनधर्म ने भी इसी प्रकार अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना बिखेर दी, तन्त्रों ने अपने व्यापक प्रसार से सारे उत्तर-भारत को आत्मसात् कर लिया तथा भक्ति ने भी इसी प्रकार दसों दिशाओं को रसाप्लावित कर दिया। पर कहने का तात्पर्य यह नहीं कि ये धाराएँ अचानक ही एक दिन में या काल-विशेष में जन्म लेकर फलने-फूलने लगती हैं। भारत की भूमि में ही सारी साधनाओं के तत्त्व लोक-मानस में परम्परा से चले आ रहे थे, जिनकी छिटफुट डालियों एवं पत्तियों के दर्शन हमें वेदों में ही उपलब्ध होते हैं। संहिताओं के ऋषियों की निष्ठा पर हमें विश्वास करना ही होगा; क्योंकि उन्होंने अपने समय के जनमानस की सारी भाव-नाओं का संकलन कर दिया। वे ही मूल भावनाएँ कालक्रम से कभी-कभी उभर-कर एक धारा का रूप धारण कर लेती हैं। भक्ति की धारा भी एक ऐसी ही धारा कही जानी चाहिए।



भक्ति की धारा का उल्लेख करते समय यह ध्यान रखने की चेष्टा की गयी है कि देवियों की पूजा-भावना अतिप्राचीन काल से ही विद्यमान थी और उसके साथ-साथ अन्य रूपों की भी पूजा-भावना समानान्तर चल रही थी। भारतीय जनमानस में वह संकीर्णता ही नहीं रही है कि वह सह-अस्तित्व से दूर जा पड़े। भारत में विभिन्न जातियों एवं संस्कृतियों का मिल-खप जाना इस सहिष्णुता का प्रमाण है।[1] उत्तर-भारत की भूमि में निरन्तर संस्कृतियों का संगम होता रहा और धार्मिक मतवाद जब उभरा तब उभरा, किन्तु वह मतवाद कुछ लोगों का ही गुट माना जाना चाहिए, जिन्हें प्रचार का तथा स्थापना का सुअवसर मिल गया। जन-साधारण ने सभी को स्वीकार किया। सभी को आत्मसात् कर लिया। इसका प्रमाण आज भी हमारे द्रविड़ कुलदेवताओं, शाक्त (तांत्रिक) ग्रामदेवताओं तथा वैष्णव या शैव तीर्थों में प्राप्त हो जाता है।

भक्ति के सम्बन्ध में भी ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भक्ति भी जनमानस में आदि युग से प्रचलित थी। विद्वानों ने भक्ति का वैदिक उत्स ढूँढ़ने की चेष्टा की है और उसके प्रमाण भी वेदों से दिये गये हैं। प्रमाण की तो वेदों में कभी कमी नहीं। भक्ति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वद्वर्ग दक्षिण में भक्ति की उत्पत्ति स्वीकार करते आये हैं।

उत्तर-भारत में भक्ति की लहर दक्षिण से आयी, इसका यह तात्पर्य नहीं कि भक्ति नाम की वस्तु से उत्तर-भारत अपरिचित था और उसने इसको हाथों-हाथ ले लिया। इसका यही तात्पर्य होना चाहिए कि एक धार्मिक मतवाद के रूप में दार्शनिक सिद्धान्तों पर आसीन हो यह दक्षिण से आयी। किन्तु उत्तर-भारत की भूमि को अनजान वस्तु की प्राप्ति का सुख नहीं मिला, उसे ज्ञात का महत्त्व मालूम हुआ और प्रचलित अनेक पंथों के वात्याचक्र से, तथा दार्शनिकता के पचड़े से त्राण पाने के निमित्त उसने भक्ति को भुजभर भेंट लिया। सम्प्रदाय तो दर्शन के खण्डन-मण्डन पर ही फैलता है और दार्शनिकता का वैसा बोलबाला हम भक्तिकाल के कवियों में नहीं पाते। सम्प्रदाय की रक्षा में सचेष्ट होकर भले ही इन्होंने दर्शन के छींटे दे मारे हैं, पर इनका मूल ध्यान जन-मानस को रस से आप्यायित करना था, जिसका आधार इन्हें पाञ्चरात्र एवं शाक्त-मत की शक्ति-भावना से मिला।

उत्तर-भारत की भक्ति में शक्ति की महत्ता स्थापित करने का सुअवसर मिल गया और एक बार फिर लोक-परलोक के रूप में शक्ति की धारा जनजीवन को रसमग्न करने लगी। शक्ति ही मानों स्वर्ग से उतरकर माँ, प्रिया एवं सहचरी

---

१. डॉ० सत्येन्द्र : म० हिं० सा० का लो० अ०, पृ० ३७० ।

के रूप में साकार हो गयी। पर यहाँ यह न भूलना होगा कि इसका प्राण भक्ति ही थी, वह चाहे जिस रूप में, जैसा भी आधार लेकर उद्भासित हुई हो। भक्ति, कीर्त्तन एवं गेय काव्य की भारतवर्ष में प्राचीन परम्परा रही है। वही विकसित होकर सात्त्वतों के माध्यम से मथुरा, मध्यभारत, राजस्थान, अवन्ति, महाराष्ट्र एवं कर्नाटक होते हुए द्रविड़ देश में पहुँची। हम आगे चलकर देखेंगे कि उत्तर-भारत में मुसलमानों के आक्रमण के समय भक्ति दक्षिण में आलवार एवं आचार्यों से संगठित होकर, उत्तर में इस्लाम का वेग कम हो जाने पर आयी। किन्तु वह सगुणमार्गी धारा थी और उस समय उत्तर में अनेक निर्गुणमार्गी धाराएँ वर्त्तमान थीं, जिनसे इस्लाम का कोई विरोध नहीं था और इसीलिए यह सगुणवाद से पहले मुस्लिम-काल में प्रकट हो गयी। भक्ति जीवन के पुनरुद्धार का मंत्र लेकर आयी थी और इसने वह सिद्ध भी कर दिया।[१]

भक्तिवाद एवं विष्णु-भावना का वैदिक मूल एवं क्रम-विकास :

भारतवर्ष में भक्तिवाद बीजरूप में वैदिक भावनाओं को ही स्वीकार कर आगे बढ़ा था। भक्ति की भावना का स्रोत भी हम ऋग्वेद में पाते हैं[२], जिसमें अग्नि को माता तथा पिता के रूप में स्वीकृति दी गयी है। वरुण के सूक्तों में भी प्रार्थना का भाव विद्यमान है।[३] विष्णु के प्रति श्रद्धा[४]-भावना उनकी सबसे प्राचीन तथा नित्यनूतन, जगत् के सृष्टा के रूप में प्रतिष्ठित करती दिखायी देती है। उपनिषदों में, कठोपनिषद् स्पष्ट शब्दों में आत्मा के वरण से आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का स्पष्ट निर्देश देती है[५] और श्वेताश्वतर में भी देवता की भक्ति की महिमा गायी गयी है।[६] गीता में तो स्पष्टतः उपनिषदों के तथ्यों का अपार संकलन पाया जाता है। अतः स्वीकार करना ही होगा कि वेदों में ही भक्तिवाद के बीज उपलब्ध हैं।[७] यद्यपि डॉ० सत्येन्द्र आर्यों से भी पूर्व द्रविड़ों में भक्ति का जन्म मानते हैं।[८]

---

१. डॉ० राजबली पाण्डेय : आलोचना, पृ० २१

२. ऋग्वेद, ६।१।५ : त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां
त्वां राय उभयोसो जनानाम्
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः
पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ।

३. ऋग्वेद, ७।८८।६

४. वही, १।१५६।२

५. कठोपनिषद्, १।२।२३ : नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमे............इत्यादि ।

६. श्वेताश्वतर, ६।२३

७. भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ७४

८. डॉ० सत्येन्द्र : म० हिं० सा० का लो० अ०, पृ० ३६९



विष्णु का तीन पग में समग्र संसार को माप लेना विष्णु की सर्वोपरि सत्ता की सूचना है।[१] पुनः उनका गायों से सम्बन्ध बताना ही[२] आगे चलकर गोपाल कृष्ण या गोब्राह्मण-प्रतिपालक हिन्दू-धर्म का आधार बन गया है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर विष्णु की महत्ता प्रतिष्ठित है, जो आगे चलकर—'यज्ञाहवे विष्णुः' अथवा 'विष्णुः परमः'—शतपथ-ब्राह्मण में, सर्वशक्तिमत्ता अर्जित करनेवाले हो जाते हैं।[३] पुराण-काल में अवतारवाद, जिसका वैदिक आधार है, विष्णु को आधार मानकर विस्तार प्राप्त करता है। यही अवतारवाद आगे चलकर विष्णु को महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा देने में कृतकार्य होता है। **यहीं पर हमें विचार करना होगा कि संहिता-काल में ही पोषक एव शोषक शक्तियों के दोनों रूपों का केन्द्रीकरण विष्णु एवं रूद्र में हो जाता है।** रुद्र अग्नि के एवं विष्णु सोम के प्रतिनिधि-स्वरूप माने जाते हैं। यही सोमतत्त्व पुराण-काल में विष्णु के सोम पिलाने की कथा में विकसित हो गया होगा—ऐसा विद्वानों का अनुमान है।[४] परमात्म देव के पद पर पहुँचते-पहुँचते विष्णु को कालान्तर में कई अन्य देवताओं से भी बढ़कर प्रतिष्ठा-सूचक शब्द 'चक्रपाणि' तथा 'कृष्ण' जैसे मिल जाते हैं।[५] नारायण एवं विष्णु, जो वैदिक काल में भिन्न थे, तैत्तिरीय आरण्यक तक आकर अंतिम रूप में[६] एक हो जाते हैं। वासुदेव एवं कृष्ण पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखने पर भी एक-दूसरे के पर्याय बनकर रह जाते हैं। भगवद्गीता तक आते-आते वासुदेव कृष्ण विष्णु के साथ एकाकार हो जाते हैं[७] तथा वे प्रमुख उपास्य देव रहते हुए भी विष्णु के अवतार-मात्र रह जाते हैं।[८]

पाञ्चरात्र-धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की कतिपय रूढ़ियों के सुधार के प्रयत्न के रूप में माना जाता है, जिसमें भक्ति का समर्थन अनेक तन्त्रों या संहिताओं के आधार पर किया गया।[९] हिंसा का विरोध संभवतः बौद्धों एवं जैनियों की लोक-

---

१. ऋग्वेद, १।१५४।२

२. वही, १।२२।१८

३. शतपथब्राह्मण, १।९।३।९

४. भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ८४-८५ ।

५. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५; इलाहाबाद, १९५३

६. RoyChoudhary : Early History of Vaishnava Sect., pp. 18-19; Calcutta, 1920

७. D. C. Sarkar : H. C. I. P., p. 435; Bombay, 1960

८. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव धर्म, पृ० ४५, इलाहाबाद, १९५३

९. डॉ० सत्येन्द्र शक्ति का स्रोत शिव के साथ आया मानते हैं। "शिव के हट जाने से विष्णु प्रधान हो आए तथा शिव से जो शक्ति संलग्न थी, वह विष्णु के साथ रह गयी।"—डॉ० सत्येद्र : म० हिं० सा० का लो० अ०, पृ० ३७५

प्रियता के कारण किया गया तथा कर्मयोग की प्रतिष्ठा ध्यान-योगियों की अकर्मण्यता को दूर करने के निमित्त की गयी।[1] पाञ्चरात्र की उत्पत्ति उत्तर-भारत या व्रज-मण्डल में हुई और यह सात्त्वतों के साथ द्रविड़ देश में प्रचारित हुआ।[2] इस प्रकार पाञ्चरात्र-भावना दक्षिण-भारत में पूर्णरूपेण प्रचारित थी।

**विष्णु-कृष्ण ऐक्य की चेष्टा :**

गुप्तकाल तक आते-आते सात्त्वतों या भागवतों ने विष्णु के साथ कृष्ण का ऐक्य, प्रकट रूप में स्वीकार कर लिया था। अवतारों की पूजादि अधिक होने लगी थी एवं पाञ्चरात्रिक व्यूहवाद का प्रभाव भी कम पर पड़ गया था।[3] उल्लेखनीय है कि इस समय में विष्णु या नारायण के साथ-साथ लक्ष्मी की पूजा प्रारम्भ हो गयी थी, जिसके प्रमाण मुद्राओं में मिलते हैं। विद्वानों ने इसके लिए सांख्य-भावना को ही कारण माना है, जिसमें प्रकृति एवं पुरुष की भावना बलवती है। वही प्रकृति-पुरुष-भाव, लक्ष्मी को विष्णु एवं देवी को शिव के साथ संयुक्त कर देने में सफल हुआ।[4]

गुप्तकाल में विष्णु का काफी महत्त्व रहा। गुप्तों ने अपने को भी भागवत नाम से घोषित किया तथा गरुड़ को स्तंभ पर, कली को सिक्के पर एवं कई चिह्नों को राजकीय मुद्राओं पर धारण किया। पर गुप्तकाल के पश्चात् वैष्णव-धर्म उत्तर-भारत में निष्प्रभ हो गया। हर्षवर्धन आदि राजाओं की उपेक्षा ही इसका कारण कहा जायगा, जिसके कारण वह एक साधारण सम्प्रदाय के रूप में ही अवशिष्ट रहा।

शंकराचार्य[5] के शारीरक भाष्य में पाञ्चरात्रों की चर्चा है।[6] पाञ्चरात्र के व्यूहवाद को अवतारों की लोकप्रियता ने ढँक दिया और व्यूह के चार अंगों में एक-मात्र वासुदेव ही शेष रह गये। पर पाञ्चरात्रों की आगमाश्रित विधियों के अनुसार की जानेवाली पूजा का प्रचार सुदूर मथुरा तक फैल गया था।[7]

---

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णवधर्म, पृ० ४१
२. एस० के० आयंगार : परम संहिता (इण्ट्रोडक्शन, १५—१७); जी० ओ० एस० न० ८६, उद्धृत पृ० १०४; पं० बलदेव उपाध्याय : भागवत-धर्म से, १९४०।
३. पं० परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव-धर्म, पृ० ४८
४. D. C. Sarkar : H. C. I. P., p. 425; Bombay, 1960
५. शंकराचार्य (७८८—८२०), पृ० २९; गौ० ही० ओझा : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति; इलाहाबाद, १९५१
६. RoyChoudhary : Early History of the Vaishnava Sect, p. 10; Calcutta, 1920
७. Dr. Krishnaswamy Ayamgar : Early History of Vaishnavas in South India, p. 89—91



**गुप्तकालीन प्रमाण :**

दक्षिण में गुप्तों के समय में कृष्ण एवं बलदेव की पूजा प्रचलित थी, जिसका पता तमिल-साहित्य से मिलता है।[1] दक्षिण में विष्णु-पूजा के प्रचार के विषय में विद्वानों की राय है कि दूसरी शताब्दी से ही विष्णु की पूजा दक्षिण में प्रचलित थी। दक्षिण के कादम्ब राजा 'परम ब्राह्मण्य' कहे जाते थे और अनुमान है कि वे वैष्णव ही रहे होंगे। चाइना के शिलालेख से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।[2] उस काल के राजाओं का गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक होना शायद जैनों एवं बौद्धों के प्रभाव को कम करने के लिए हो। पुनः ऐसा भी विचार है कि पाण्ड्य लोगों की राजधानी मदुरा का मथुरा से नाम-साम्य होने के कारण कृष्ण का प्रभाव दक्षिण में चला गया हो।[3] ये सारे अनुमान शिलालेखों के प्रमाण की पुष्टि ही करते हैं।

शंकराचार्य के उद्भव से भी इसे बल मिला। शंकराचार्य शैव तो थे, पर बौद्धों का खण्डन कर उन्होंने ब्राह्मण-धर्म को उन्नत कर दिया, इससे भी वैष्णव-धर्म को बल ही मिला। भक्ति के महत्त्व एवं प्रसार का पता इसीसे चल सकता है कि शंकराचार्य ने स्वयं 'सौन्दर्यलहरी' में देवी की स्तुति बड़ी भक्ति-भावना से की है।

**दक्षिण के आलवार :**

दक्षिण में वैष्णव-भक्ति का पुष्टतम प्रमाण आलवार-सन्तों में पाया जाता है। आलवार-सन्तों एवं वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव-भक्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। आलवार का अर्थ ही होता है—ईश्वरीय ज्ञान एवं प्रेम-सम्पन्न।

इस काल में इन सन्तों ने भक्ति की बाढ़-सी ला दी। न इनकी संख्या की कोई गिनती है, न इनमें जाति-पाँति का भेद ही रहा। ये भगवान् की दिव्य लीला के मस्त गायक थे। गा-गाकर जन-जीवन को रसाप्लावित करना इनका कार्य था। इन भक्तों में बारह भक्तों को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा गया है तथा उनकी मूर्त्तियों की पूजा विष्णु के साथ होती थी। आलवारों के समय के विषय में पर्याप्त विवाद है, किन्तु सारी सम्भावनाओं के साथ इनका समय ५०० से ८५० ई० के बीच माना जाना चाहिए।[4]

---

१. D. C. Sarkar : H. C. I. P., p. 428.
२. D. C. Sarkar—H. C. I. P., pp. 427 428.
३. RoyChoudhary : E. H. V.; p. 10; Cal. 1920.
४. S. Krishnaswamy Ayangar : Ancient India and South Indian History & Culture. Vol. 2; p. 738; Poona, 1941.

तमिल देश के विभिन्न भागों में ये आलवार-सन्त हुए। पल्लव प्रान्त में चार, चोल देश में तीन, चेर में एक एवं पाण्ड्यनाडु में शेष आलवार हुए। इनमें नामल्लवार तथा आण्डाल सुप्रसिद्ध हैं। ये बारह आलवार सभी जातियों एवं श्रेणियों के लोग थे। उनका मूल धर्म भगवान् के प्रति प्रेम था। नामल्लवार जाति के वेल्लाल थे। तिरुमंगई कल्ल थे। कुलशेखर राजवंशी सन्त थे। पेरियाल्वार ब्राह्मण थे। इस प्रकार जातिगत विभिन्नताओं से इनकी लोकप्रियता का पता चलता है।

इन्होंने चार हजार पदों की रचना की, जो आज भी तमिल देश में वैष्णवों द्वारा मन्दिरों में गाये जाते हैं। आलवारों की रचनाओं के संग्रह को 'प्रबन्धम्' कहा जाता है, जिसमें प्रेम एवं भक्ति-सम्बन्धी गीत हैं। इसके साथ ही उनकी धार्मिक उक्तियाँ भी संगृहीत हैं, जिनकी पवित्रता इतनी है कि दक्षिण में इन्हें 'पंचम वेद' कहा जाता है तथा धार्मिक उत्सवों में इनका पाठ भी किया जाता है। पहले प्रबन्धम् का मूल पाठ ही पढ़ा जाता था, बाद में वैष्णव-धर्म के आचार्यों ने उसका सम्पादन किया तथा भाष्यों का भी पाठ किया जाने लगा। प्रबन्धम् का पाठ करनेवालों को 'अडैयार' कहते थे, जो मंडप के सामने खड़े होकर एक विशेष ढंग से पाठ किया करते थे।[1]

### आलवारों की मान्यताए :

किन्तु एक बात लक्ष्य करने की है कि इन आलवारों में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता नहीं आ पायी थी। इनकी उपासना भी किसी सम्प्रदाय का रंग नहीं धारण कर सकी थी। वैष्णवाचार्यों ने इनके प्रबन्धों से प्रेरणा ली तथा उसे महत्त्व दिया, किन्तु वे भी इसे सम्प्रदाय-विशेष में नहीं बाँध सके। जन-मानस से उपजी यह भक्ति-धारा इन आचार्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत थी। आलवारों में प्रसिद्ध आण्डाल की उपासना माधुर्य-भाव की उपासना थी और उन्हें मीरा का प्रतीक भी माना गया है।[2]

इन आलवार भक्तों के भजनों द्वारा भागवत-धर्म का खूब प्रचार हुआ। ये आलवार नारायण को सर्वश्रेष्ठ देवता का पद देते थे तथा विष्णु के अवतारों और त्रिविक्रम (वामन) की चर्चा करते थे। कृष्णावतार की प्रशंसा तथा उनकी लीलाओं का गान करते थे। इन्होंने मूर्त्तियों की पूजा, ध्यान एवं नामस्मरण पर विशेष ध्यान दिया।[3]

---

१. J. S. M. Hooper : Hymns of the Alwars; Calcutta, 1929.
२. K. R. Srinivas Ayangar : H. C. I. P., Vol. 3, p. 332—340.
३. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव-धर्म : प्रयाग, १६५३; पृ० ७५-७६।



आलवारों के कालविस्तार को देखने पर पता चलता है कि लगभग ३५० वर्षों तक इन लोक-भक्तों ने जनजीवन में भक्ति एवं ईश्वर-प्रेम की धारा बहायी और निश्चय ही इस धारा का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारण रहा होगा। विद्वानों का सामान्य विश्वास है कि भागवतपुराण दक्षिणभारत में ही लिखा गया।[1] मोटे तौर पर सातवीं से नौवीं शताब्दी के बीच ही इसका काल निर्धारित किया जा सकता है।[2] यह भी हो सकता है कि सात्वतों के दक्षिण में प्रसार पाने के फलस्वरूप भागवतपुराण के प्रभाव के कारण आलवारों का उदय हो गया हो अथवा आलवारों के प्रभाव के कारण ही भागवतपुराण लिखा भी गया हो। किन्तु, प्राप्त तथ्यों के आधार पर इसका सुदूर सम्बन्ध ही स्थापित किया जा सकता है।

### दार्शनिक आचार्य तथा सम्प्रदाय :

तमिल वैष्णवधर्म के इतिहास में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय के रूप में मानी जाती है। इन सम्प्रदायों के स्थापकों को आचार्य कहा जाता है। ये आचार्य संस्कृतज्ञ थे। इन्होंने आलवारों द्वारा प्रचारित भक्ति के साथ वेदों में प्रतिपादित ज्ञान एवं कर्म का सुन्दर समन्वय किया और भक्ति-आन्दोलन एक नयी धारा में प्रवहमान हो गया। इन्होंने तमिल वेद तथा संस्कृत वेद का अध्ययन किया तथा इनमें सामंजस्य दिखलाने की चेष्टा की। इसी कारण इनका नाम 'उभयवेदान्ती' प्रसिद्ध है।[3] ये आचार्य आलवारों के भक्तिरस से प्रभावित रहकर भी आचार्य अर्थात् पण्डित थे। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मायावाद एक प्रश्न बनकर इनके समक्ष खड़ा था। ये जिस भक्ति का अवलम्ब धारण कर रहे थे, उसकी स्थापना में मायावाद अवरोधक था। मायावाद का खण्डन किये बिना भक्ति की प्रतिष्ठा की नहीं जा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि इन आचार्यों ने अपना प्रधान लक्ष्य मायावाद का खण्डन रखा तथा भ्रमण कर शास्त्रार्थ या वाद-विवाद द्वारा अपने मतों की स्थापना करने लगे। साथ ही, वैष्णवधर्म के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भी कर डाला। फलतः एक ऐसी विचारपद्धति चल पड़ी, जिसके अनुसरण में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि होने लगी। इन आचार्यों में रामानुज, मध्व, निम्बार्क एवं विष्णुस्वामी विशेष ख्यातिप्राप्त हुए। इन्होंने क्रमशः श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, सनकादिक-सम्प्रदाय एवं रुद्रसम्प्रदाय की स्थापना की। इनका सम्बल पाकर सगुणभक्ति की लता लहलहाने लगी।

---

१. R. C. Mazumdar : The Cultural Heritage of India; Vol. 4; p. 54.
२. वही, पृ० ५३।
३. पं० बलदेव उपाध्याय : भागवतधर्म; पृ० २००।

### श्रीसम्प्रदाय तथा उनकी शक्तिभावना :

श्री द्वारा प्रवर्त्तित होने के कारण इस सम्प्रदाय को श्रीसम्प्रदाय कहा जाता है। व्यवहारपक्ष में भक्ति इनका लक्ष्य है तथा अध्यात्मपक्ष में इनका नाम विशिष्टाद्वैतमत है। सर्वप्रथम आचार्य रघुनाथाचार्य या नाथमुनि हुए (८२४-९२४ ई०)। कहा जाता है कि आपके पूर्वज भागवतधर्मावलम्बी थे तथा उत्तरभारत के किसी प्रदेश से आये थे। आप शठकोपाचार्य की शिष्यपरम्परा में थे।[1] ऐसा अनुमान है कि इन्होंने ही अपने गुरु एवं अन्य आलवारों के पदों का उद्धार किया तथा उन्हें चार भागों में सम्पादित किया जिसपर बाद में भाष्यों की रचना हुई। इनका कार्य था प्राचीन तमिल भक्तिग्रन्थों का उद्धार तथा प्रचार और नवीन संस्कृतग्रन्थों का प्रणयन कर वैष्णवमत का प्रचार। इनके 'योग-रहस्य' एवं 'न्यायतत्त्व' नामक ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें अन्तिम विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय का प्रथम मान्य ग्रन्थ है। इसमें इस मत की दार्शनिक दृष्टि का आरम्भिक विवेचन है।[2]

दूसरे आचार्य यामुनाचार्य इन्हीं के पौत्र थे जिनके नामकरण के विषय में कहा जाता है कि उत्तरभारत-यात्रा में यमुना में स्नान करने की प्रसन्नता में नाथमुनि ने ही इनका नाम रख दिया था। नाथमुनि के पश्चात् पुण्डरीकाक्ष एवं राममिश्र नामक दो अन्य आचार्य भी हुए जिन्हें द्वितीय एवं तृतीय आचार्य कहा जाता है।[3] किन्तु यामुनाचार्य अपनी विद्वत्ता एवं शास्त्रार्थपटुता के कारण विशेष प्रसिद्ध हुए। चोलवंश की महारानी ने उन्हें 'आलबंदार' उपाधि दी तथा अपार भूमि भी दान में दी। कहा जाता है कि आपका ऐश्वर्यमय जीवन था। श्रीरंगम् की भगवद्मूर्त्ति के दर्शन एक घटनाविशेष में होने के कारण आपमें आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हो गया और आप भगवद्भक्ति में लीन हो गये। आपके रचित ग्रन्थ 'सिद्धित्रय' जिसमें आत्म, ईश्वर एवं संवित्-सिद्धि पर विचार है, 'गीतार्थसंग्रह' जिसमें गीता के गूढ सिद्धान्तों का संकलन है, 'श्रीचतुःश्लोकी' जिसमें भगवती लक्ष्मी की स्तुति है, 'महापुरुष-निर्णय' जिसमें विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है, 'आगम-प्रामाण्य' जिसमें पांचरात्रसिद्धान्त की प्रामाणिकता का विवेचन है एवं 'स्तोत्ररत्न'[4] जिसमें आत्मसमर्पण का सिद्धान्त है, सरस पदों से भरे हैं। आप 'ब्रह्मसूत्रों' पर भाष्य भी लिखना चाहते थे जिसे इनके योग्य उत्तराधिकारी शिष्य रामानुचार्य ने 'श्रीभाष्य' द्वारा सम्पन्न किया।

---

१. शठकोप-मधुरकवि-पराकुंशमुनि-नाथमुनि।
२. बलदेव उपाध्याय : भागवत-धर्म : पृ० २००।
३. Roy Choudhry : E. H. V.; p. 112-13, Calcutta, 19`0.
४. इन्हीं के नाम पर आलबंदार-स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है।



यामुनाचार्य द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त को रामानुज द्वारा प्रतिष्ठा मिली। इसका आधार 'उपनिषद्' एवं 'ब्रह्मसूत्र' था जिनके अनुसार आत्मा ब्रह्म का अंश है पर उससे विशिष्ट है। ब्रह्म आत्मा में निवास करता है अस्तु वह भक्ति की वस्तु है। परन्तु आपकी भक्ति में उतना प्रेम नहीं, जितना औपनिषदिक उपासना पर ध्यान है। आप दर्शन एवं व्यवहार में ब्राह्मणधर्म को आधार मानकर श्री, भू एवं लीला को विष्णु का संगी स्वीकार करते हैं।[1]

रामानुज (१०१७-११३७ ई०) मद्रास के समीप तेरुकुन्दूर ग्राम में उत्पन्न हुए तथा आपका शैशव कांजीवरम् में बीता। एक अद्वैती आचार्य से शिक्षा लेकर, बाद में मतवैभिन्य होने के कारण ये आलवारों के 'प्रबन्धम्' के अध्ययन में रत हुए। ये यामुनाचार्य के निकटसम्बन्धी थे और उन्हीं के उत्तराधिकारी बनकर श्रीरंगम् में रहने लगे। आपने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'श्रीभाष्य' नामक विख्यात भाष्य लिखा। 'गीताभाष्य' में गीता का वैष्णवमतानुकूल भाष्य, 'गद्यत्रय' में ईश्वर तथा प्रपत्ति-विषयक सिद्धान्त, 'वेदान्तदीप' में 'ब्रह्मसूत्र' की ही विस्तृत व्याख्या तथा 'वेदान्तसार' में 'ब्रह्मसूत्र' की टीका लिखी। इन शास्त्रीय प्रयत्नों से रामानुज ने अपने मत की प्राचीनता प्रतिपादित की जिसके फलस्वरूप दक्षिणदेश में वैष्णवमत का खूब प्रचार हुआ। इन्होंने आठ गद्दियाँ भी स्थापित कीं जिनमें छह तो संन्यस्त तथा दो गृहस्थ रहीं। रामानुज ने ईश्वर के सगुणरूप पर ही बल दिया। अधिकांश लोगों की मायावाद में अरुचि रहते हुए देखकर इन्होंने 'उपनिषद्' एवं 'ब्रह्मसूत्र' के आधार पर वेदान्त में ईश्वरप्रेम एवं भक्ति का समावेश कर दिया। पुराण एवं सांख्य के मतों की भी सहायता लेकर मायावाद को दूर करने का यत्न किया। भगवद्भक्ति को ऊँचा स्थान देने के निमित्त ज्ञान और कर्म दोनों सिद्धान्तों का सहारा लेकर प्राचीन पांचरात्रपद्धति की वासुदेवपूजा से नारायण तथा विष्णु-सम्बन्धी धारणाओं का संयोग किया।[2] न तो गोपाल-कृष्ण और न राधा की चर्चा आपके मत में आ पायी है। आपने रामावतार का भी आधार नहीं रहने दिया और लक्ष्मी की स्त्री-शक्ति के पूजन का भी आपकी शिक्षा में स्थान नहीं, किन्तु नारायण की प्रियायों का उल्लेख अवश्य है जिसे रूपक के रूप में माना जाना चाहिए।[3]

श्रीसम्प्रदाय के वैष्णवों की लक्ष्मी का विवेचन पांचरात्र एवं पुराणों पर ही आधारित है, किन्तु इन्होंने इसके साथ थोड़ी-सी अपनी दार्शनिक दृष्टि जोड़ दी है

---

१. R. C. M. : The Cultural Heritage of India; Vol. 4.; p. 55.
२. रामावतार शर्मा : भारतीय ईश्वरवाद; पृ० ४६७।
३. वही; पृ० ४६७।

तथा विष्णु-शक्ति के कृपामय रूप को प्रधानता दी है। दूसरे, इन्होंने लीलावाद को प्रधानता दी।[1]

इनके अनुयायियों के दल का नाम 'श्रीसम्प्रदाय' पड़ा। इस सम्प्रदाय की भक्ति का आधार उपासना एवं ध्यान था, शृंगारप्रधान भजन नहीं। शंखध्वनि, चरणामृत, एकादशी व्रत, तुलसीदल का ग्रहण, ईश्वर-भक्त-सेवा और मन्त्रोच्चारण का महत्त्व था; किन्तु शूद्रों को इस सम्प्रदाय में अधिकार नहीं दिये गये थे। वेद-वेदान्त-कर्मयोग का अध्ययन कर भक्ति की ओर झुका जा सकता था। शूद्रों के लिए प्रपत्तिमार्ग था जिसमें ईश्वर तथा गुरुदेव पर अपना सारा भार देना ही मोक्ष माना जाता था। जगत् भगवान की लीला से उत्पन्न है और वह सृष्ट पदार्थों के साथ लीला किया करता है—ईश्वर के विषय में ऐसी आपकी स्थापनाएँ थीं।

## माध्व या ब्रह्म सम्प्रदाय तथा उनकी शक्तिभावना :

दक्षिण में एक दूसरा वैष्णवमत रामानुज की मृत्यु के सौ वर्षों के भीतर ही हुआ। प्रतिष्ठापक के नाम पर इस सम्प्रदाय को **माध्वमत**[2] या ब्रह्मसम्प्रदाय नाम से ख्याति मिली। यह सम्प्रदाय भी शंकराचार्य का विरोधी ही था। मध्वाचार्य दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवाद के प्रतिष्ठापक थे तथा धार्मिक दृष्टि से भक्तिवाद के समर्थक थे।[3] आपने प्रथमतः दक्षिणभारत एवं बाद में उत्तरभारत की यात्रा की एवं बदरिकाश्रम तक जाकर वहाँ से राम एवं वेदव्यास की मूर्तियाँ लाये थे। अपने समय के प्रथानुसार आपने प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों पर भाष्य लिखा और कुल मिलाकर सैंतीस ग्रन्थों की रचना की। कहा जाता है कि किसी शांकर अद्वैती का शिष्यत्व स्वीकार करने पर इन्हें न तो अद्वैतवाद और न रामानुजी विशिष्टाद्वैत ही रुचा और इन्होंने दोनों मतों का खण्डन कर अपना द्वैतमत प्रतिष्ठित किया तथा भागवतधर्म में विष्णुपूजा को प्रधानता दी। आपने कृष्ण एवं राम दोनों को विष्णु का अवतार माना जिसके कारण माध्वसम्प्रदाय में राम और कृष्ण के पूजन की दो धाराएँ हो गयीं। इस मत में, श्रीसम्प्रदाय की तरह ही, गोपाल-कृष्ण एवं गोपियों को स्थान नहीं मिला तथा भागवत या पांचरात्र धर्म को बहुत अंशों में महत्वहीन बना दिया गया।[4] मध्वाचार्य ने स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र दो तत्त्वों को

---

१. द्रष्टव्य : श० मू० दा० गु० : श्रीराधा का क्रमविकास; पृ० ६७।
२. द्रष्टव्य : बलदेव उपाध्याय : भागवतधर्म; पृ० २०३-१९।
३. मध्वाचार्य (११९९-१३०३ ई०) : बलदेव उपाध्याय।
४. भण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स : पूना, १९२८।



स्वीकार किया तथा हरिज्ञान को मोक्ष का मार्ग माना। यह भगवान के प्रसाद पर निर्भर माना गया। यह हरिज्ञान वैराग्य, समता, आत्मसंयम, शरणागति, गुरुसेवा, गुरुज्ञान, स्वाध्याय, परमात्मभक्ति, निष्कामकर्म, विष्णु-महिमा-बोध, असत्त्याग और उपासना द्वारा प्राप्य कहा गया।[1] आपके मत में व्यूह एवं वासुदेव को महत्त्व नहीं मिला। विष्णु को उपास्य माना गया और विष्णुप्रिया लक्ष्मी का ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के रूप में वर्णन किया गया : [2] परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः।[3]

माध्वसम्प्रदाय आज भी महाराष्ट्र एवं कर्नाटक में प्रचलित पाया जाता है। कई शताब्दियों के पश्चात् इसका प्रचार उत्तरभारत में, विशेषतः बंगाल में हुआ। माध्वसम्प्रदाय की गुरुपरम्परा में ही श्री चैतन्य हुए।[4]

## सनकादिक सम्प्रदाय तथा उनकी शक्तिभावना :

जिस समय रामानुज के भक्तिवाद की लहर दक्षिण में उमड़ रही थी उसी का एक स्रोत उत्तरभारत में **निम्बार्कस्वामी** के साथ प्रवाहित हुआ। भण्डारकर के अनुसार आपका समय ११६२ ई० के आसपास का है। यद्यपि इनके समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इतना मानना पड़ेगा कि यह सम्प्रदाय वैष्णवसम्प्रदायों में प्राचीनतम है।[5] ये तैलंग ब्राह्मण थे। आपके पिताजी भागवत थे किन्तु आप कृष्णभक्ति की ओर आकर्षित हुए और श्रीकृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन जा पहुँचे। आपके साथ ही दक्षिण की भक्ति मथुराप्रदेश में जा पहुँची। निम्बार्कस्वामी ने 'वेदान्तपारिजात' नामक भाष्य एवं 'दशश्लोकी' ग्रन्थ की रचना करके अपने द्वैताद्वैतमत का प्रतिपादन किया। आपने भी अद्वैतवाद और मायावाद के प्रतिकूल कृष्णोपासना को महत्त्व दिया। भक्ति को प्रेमलक्षणा मानकर उसे भगवत्कृपा द्वारा आत्मज्ञान से उत्पन्न स्वीकार किया। इनकी साधनारूपी भक्ति का श्रीसम्प्रदाय के भक्तियोग से साम्य है। अन्तर इतना है कि रामानुजी भक्ति एक प्रकार की औपनिषदिक उपासना-सी लगती है जिसमें ध्यानयोग का आधार ग्रहण किया जाता है किन्तु निम्बार्क की साधना अपने मूलभाव का परित्याग नहीं करती हुई विश्वास, तल्लीनता और प्रेम को महत्त्व देती है। श्रीसम्प्रदाय वालों ने नारायण की प्रेयसी के रूप में लक्ष्मी, भू एवं लीला का उल्लेख किया था; पर निम्बार्क ने कृष्ण और

---

१. रा० श० : भारतीय ईश्वरवाद; पृ० ४६८।
२. श० भू० दा० गु० : श्रीराधा का क्रमविकास; पृ० ९६।
३. भागवततात्पर्यनिर्णय।
४. द्रष्टव्य : बलदेव उपाध्याय : भागवतधर्म; पृ० २८-२९।
५. भण्डारकर : वै० शै०; पृ० ८७।

राधा को उपस्थित कर पुरुषब्रह्म की उपासना के साथ-साथ प्रकृति-शक्ति के रूप में स्त्री-शक्ति-उपासना को सम्बद्ध किया।[1] बाद में कृष्ण के पहले राधा का नामोल्लेख किया जाने लगा।[2] इसका प्रधान कारण उत्तरभारत में प्रचलित शक्तिभावना का प्राधान्य ही माना जाना चाहिए जिससे प्रभावित हो उन्होंने शक्तितत्त्व को स्वीकार किया और यह उत्तरभारत की भूमि में ही हुआ। निम्बार्काचार्य के सनक-सम्प्रदाय का प्रचारक्षेत्र दक्षिण नहीं रहा। मथुरा एवं बंगाल में ही इसका प्राधान्य रहा। किन्तु एक मत ऐसा भी है कि यह सम्प्रदाय प्राचीन था और निम्बार्क ने इसे एक साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा दे दी।[3]

### रुद्रसम्प्रदाय : उसकी शक्तिभावना :

तेरहवीं शताब्दी[4] में वैष्णवमत को **विष्णुस्वामी** नामक वैष्णव-आचार्य से बड़ा बल मिला। एक अन्य मत से ये ईसा की दसवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत माने जाते हैं।[5] इनके अनुयायियों की संख्या कम रही, इस कारण प्राप्त सामग्री पर्याप्त भ्रान्ति की सृष्टि कर चुकी है। पर इनके सम्प्रदाय का महत्त्व इससे कम नहीं हो जाता क्योंकि ये विद्वानों द्वारा परम्परा के आधार पर प्राचीन वैष्णवाचार्यों के रूप में प्रतिष्ठित हैं।[6] विष्णुस्वामी-रचित अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं किन्तु 'सर्वज्ञसूक्त' को ही प्रामाणिक माना गया है। श्रीधरस्वामी[7] ने अपनी रचनाओं में इस ग्रन्थ का अत्यधिक उपयोग किया है। इन्हीं की टीका में हमें विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का आभास मिलता है। विष्णुस्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं तथा वे अपनी 'ह्लादिनी संवित्' द्वारा आश्लिष्ट हैं और माया उन्हीं के अधीन रहती है। इनके मत में ईश्वर के प्रधान अवतार नृसिंह माने गये

१. वे राधा को कृष्ण की शक्ति ही मानते थे—बलदेव उपाध्याय : भा० वा० में श्रीराधा; पृ० ७३।
२. बंगाल में उस समय स्त्री-सत्ता की पूजा लोकरुचि को प्रभावित कर रही थी। लोग 'कृष्ण-कृष्ण' के बदले 'राधा-कृष्ण' जपकर मुक्ति का विश्वास रखने लगे। कृष्णभक्त ललाट पर दो खड़ी रेखाओं के बीच एक कृष्ण-बिन्दी-रूप का तिलक लगाते थे।—रा० श० : भारतीय ईश्वरवाद; पृ० ४७०।
३. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णवधर्म; पृ० ८६।
निम्बार्काचार्य के सनकसम्प्रदाय के विषय में कहा जाता है कि वह उनके पहले से ही चला आ रहा था। उन्होंने इसे एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया।
४. भण्डारकर : वै०शै०ए०; पृ० १०९--११०, पूना; १९२८।
५. बड़ौदा ओरियेण्टल कान्फ्रेन्स रिपोर्ट; पृ०४५१--५२ (उद्धृत); प० च०—वै० ध०; पृ० ९०।
६. परशुराम चतुर्वेदी : वै० ध०; पृ० ९३।
७. श्रीधरस्वामी : श्रीमद्भागवत पर 'भावार्थदीपिका' नाम की टीका के प्रणेता।



हैं किन्तु कुछ लोग इन्हें नृसिंह एवं गोपाल दोनों का उपासक मानते हैं। इनका महत्त्व इसलिए अधिक है कि इन्हीं की परम्परा में वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने अपने शुद्धाद्वैतसंप्रदाय द्वारा उत्तरप्रदेश, राजस्थान एवं गुजरात को भक्ति की धारा से रसाप्लावित कर दिया। यह सम्प्रदाय भी, जिसके मुख्य प्रवर्तक विष्णुस्वामी ही माने जाते हैं, वृन्दावन की पुण्यभूमि में ही पनपा और सम्प्रदायप्रसिद्धि के अनुसार विष्णुस्वामी द्रविडदेशोत्पन्न ही माने जाते हैं। वल्लभाचार्य के समय तक इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार एवं प्रसार न था। वल्लभ ही इस अभाव को दूर कर इस मत का पूर्ण विकास करने में सफलीभूत हुए।

इन चारों वैष्णव आचार्यों का मतवाद ही दक्षिण का वैष्णवमतवाद कहा जाता है जो भक्ति के आन्दोलन का मुख्य प्रेरक है। भागवतधर्म के इन आचार्यों ने नवस्वरूप देकर मायावाद का ही सर्वाधिक विरोध किया। यह वास्तव में शांकर अद्वैत का विरोध था जिसमें जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार की गयी थी। इनके धर्म में जीव और भगवान की उपस्थिति आवश्यक थी। इन चारों सम्प्रदायों में दार्शनिक मतैक्य नहीं है किन्तु सभी मायावाद के विरोधी हैं, भगवान को अवतार धारण करनेवाला मानते हैं। जीवात्मा की स्थिति सभी के मत में भिन्न-भिन्न मानी गयी।[1]

### वल्लभाचार्य तथा उनकी शक्तिभावना :

तेलुगुप्रान्त के निवासी तैलंग ब्राह्मण श्री लक्ष्मणभट्ट के वल्लभ सुपुत्र थे। काशी की यात्रा में ही वल्लभ का जन्म हुआ तथा इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में ही हुई। वहीं इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया तथा वृन्दावन की यात्रा की। तीर्थाटन के निमित्त दक्षिण में गये एवं विजयनगर राज्य में पण्डितों से शास्त्रार्थ कर मायावाद का प्रामाणिक खण्डन कर 'आचार्य' पदवी प्राप्त करने के उपरान्त वृन्दावन लौट आये। काशी, मथुरा एवं वृन्दावन में ही इनका समय बीतता रहा। बाद में गोपालकृष्ण के गोवर्धनपर्वत पर श्रीनाथजी के रूप में आविर्भाव होने का स्वप्न पाकर इन्होंने 'श्रीनाथद्वारा' की स्थापना की और वहीं भगवान की सेवा में लग गये। काशी में तीर्थयात्रा के क्रम में हनुमानघाट पर आपका देहावसान हो गया।

वल्लभाचार्य के उपास्य कुलदेवता गोपालकृष्ण थे और इन्होंने 'श्रीमद्-भागवत' तथा विष्णुस्वामी की शिक्षाओं के आधार पर 'पुष्टिमार्ग' नामक भक्ति-

१. ह० प्र० द्वि० . हि० सा० की भू०; पृ० ४६।

सम्प्रदाय चलाया। पुष्टिमार्गी मत में ईश्वर के अनुग्रह का नाम पुष्टि है।[१] इससे चतुर्वर्गफल की प्राप्ति होती है। महापुष्टि या विशेषानुग्रह से पुष्टिभक्ति उत्पन्न होती है जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। पुष्टिमार्गी भक्ति के चार प्रकार बतलाये गये हैं। पहली, 'प्रवाह-पुष्टिभक्ति,' जिसमें भक्त कर्म में विशेष रुचि रखा करता है। दूसरी, 'मर्यादा-पुष्टि' जिसमें भक्त भगवान के गुणों को जानता हुआ भक्ति करता है। तीसरी, 'पुष्टि-पुष्टि', जिसमें भक्त भगवान का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध करके सर्वाधिक स्नेहसम्पन्न रहा करता है। अन्तिम, 'शुद्ध पुष्टि', जिसमें भक्त पूर्ण प्रेमपूर्वक भगवान की परिचर्या एवं गुण-श्रवणादि में लगा रहता है। प्राणियों के अनुसरण के लिए वल्लभाचार्य ने तीन मार्गों का विधान किया पुष्टिमार्ग, प्रवाह-मार्ग एवं मर्यादामार्ग। 'पुष्टिमार्ग' साक्षात्पुरुषोत्तम के शरीर से निकला माना जाता है तथा 'मर्यादामार्ग' का साधक सायुज्यमुक्ति को अपना ध्येय मानता है। किन्तु पुष्टिमार्ग की विलक्षणता भगवान का एकमात्र अनुग्रह है। इसी प्रकार 'मर्यादाभक्ति' में फलाकांक्षा तथा 'पुष्टिभक्ति' में फलाकांक्षा-शून्यता स्वीकार की गयी। प्रथम में सायुज्यप्राप्ति एवं दूसरे में अभेदबोध का महत्त्व है। यही पुष्टिभक्ति रागात्मिका भक्ति है।

भगवान अनन्त हैं और उनके गुण ऐश्वर्यादि भाव भी अनन्त हैं। भगवान सृष्टि का सृजन लीला के लिए करते हैं तथा स्वयं भी अवतार धारण करके नाना प्रकार की ललित क्रीड़ाएँ किया करते हैं। ब्रह्माण्ड के आविर्भाव के मूल में भगवान की लीला ही काम कर रही है जो उनकी विलासेच्छा कही जाती है।[२] लीला की अभिव्यक्ति में अन्तःकरण का पूर्ण आनन्द अभिव्यक्त होता है। उसमें कर्त्ता का भाव नहीं, प्रयास नहीं तथा उद्देश्य भी नहीं है। भक्ति, पुष्टि एवं अनुग्रहादि भी भगवान की लीला ही हैं। मर्यादामार्ग में भगवान साधनपरतंत्र रहकर अपनी बँधी मर्यादाओं की रक्षा करते हैं किन्तु पुष्टिमार्ग में कोई मर्यादाबन्धन नहीं। यहाँ भगवान साधनपरतन्त्र न होकर स्वयंस्वतन्त्र होते हैं इसलिए भक्ति की उन्नत दशा में भक्त भगवान कृष्ण की सनातन लीलाओं में शामिल हो जाते हैं। व्यावहारिक रूप में कृष्ण को परब्रह्म मानकर उनके पूजन के निमित्त मानव-दिनचर्या निश्चित की गयी और उसके विस्तृत क्रम-विधान में भक्तों का पूजार्चन निहित रहा।

---

१. पुष्टि का अनुग्रह अर्थ 'श्रीमद्भागवत' (२/१०/४) द्वारा भी प्रकट होता है।
—उद्धृत : परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णवधर्म; पृ० १००।

२. लीला नाम विलासेच्छा।—सुबोधिनी (भागवत, तृतीय स्कन्ध) : बलदेव उपाध्याय; पृ० ३८६।



वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा जो 'अणुभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है। दार्शनिक जगत् में वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत शंकर के अद्वैत से भिन्नता रखने के निमित्त 'शुद्ध' विशेषण से संयुक्त होकर आया। शंकराचार्य का निर्गुणश्रेष्ठ ब्रह्म सगुणमायाशवलित ब्रह्म से श्रेष्ठ है किन्तु वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के दोनों ही रूपों का सत्य स्वीकार किया तथा माया के वहिष्कार के साथ भक्ति का विधान रखा। वह ब्रह्म निर्गुण-सगुण-रूप एक ही समय में रहता है। प्राकृत गुणों से युक्त होने पर भी दिव्यधर्मों से युक्त रहता है। उसका शरीर सच्चिदानन्दमय है। सत्त्वगुण के आविर्भाव एवं चित् तथा आनन्द के तिरोभाव से वह प्रकृति के रूप में प्रकट हुआ। सत्-चित् के आविर्भाव एवं आनन्द के लिए तिरोभाव से वह जीव के रूप में प्रकट हुआ। सत्-चित्-आनन्द के रूप में पह सर्वव्यापक हुआ। उसने प्रकृति और जीवों की अग्निस्फुलिंगवत् सृष्टि की। ब्रह्म यह कार्य अपनी शक्ति एवं गुणों से करता है, माया का उपयोग नहीं करता। वही श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित नित्यरूप से व्यापी वैकुण्ठ में लीला किया करते हैं। क्रीडा के निमित्त भगवान का समग्र परिवार और लीलापरिकर इस भूतल पर अवतीर्ण होता है। जो वैकुंठ है वही गोकुल है।

इस आधार पर गोपाल-कृष्ण की लीलाओं को प्रधानता मिली जिसमें बाद में गोपियों की पूजा का भी विधान स्थिर हुआ। इसी का अनुसरण करते हुए पीछे राधा को भी कृष्णवत् मान देने की प्रथा चली। वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण के बालरूप की उपासना का प्रचार तो किया परन्तु इनके अनेक स्तोत्रों में कृष्ण के साथ राधा का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। इन्होंने श्रीराधिकारमण, राधावरप्रियवरेण्य, राधिकावल्लभ इत्यादि विशेषणों के प्रयोग द्वारा अपने पुरुषोत्तम का अनेक स्थानों पर स्मरण किया है।[१]

वल्लभाचार्य ने निवृत्तिमार्ग की अपेक्षा प्रवृत्तिमार्ग को ही अधिक श्रेयस्कर माना। इन्होंने विवाह भी किया था तथा इनके गोपीनाथ एवं विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र थे जिनमें विट्ठलनाथ ही इनके उत्तराधिकारी हुए। विट्ठलनाथ ने ही अष्टछाप की स्थापना द्वारा पुष्टिभक्ति को उन्नत किया। विट्ठलनाथ ने अपने काल में किशोर कृष्ण की युगललीलाओं तथा युगलस्वरूपों की उपासना का समावेश कर दिया। कुछ लोगों के विचार में यह चैतन्य का प्रभाव था पर कुछ लोग इसे स्वतः उत्पन्न मानते हैं।[२] इतना निश्चित है कि गोसाईं विट्ठलनाथ ने मधुरभाव को प्रचारित किया। इस भावना की शास्त्रीय व्याख्या इनके 'शृंगारमण्डन' नामक ग्रन्थ में

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा; पृ० ८०; पटना; १९६३।
२. पं० बलदेव उपाध्याय : भागवतसम्प्रदाय; पृ० ३९२।

पायी जाती है। श्रीराधा की स्तुति में आपने 'स्वामिन्यष्टक' तथा 'स्वामिनी-स्तोत्र' नामक दो स्तोत्रग्रन्थों की रचना भी की। इन ग्रन्थों में राधा का माधुर्यभाव छलका पड़ता है। श्री विट्ठलनाथ राधा की अनुकम्पा के लिए लालायित हैं। मोक्ष या स्वर्गप्राप्ति, भोग, ज्ञान सबसे निरत रहकर ये श्रीराधा के जूठे भोजन, चरणामृत के पेयजल तथा राधा की पदधूलि को ही शरीर की शोभा के लिए आवश्यक मानते हैं।[1] किन्तु राधा यहाँ स्वकीया हैं, चैतन्य वाली परकीया नहीं।

विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों ने ब्रजभाषाकाव्य की सृष्टि कर कृष्ण की भक्ति को जिस लोकप्रियता एवं कोटि पर पहुँचा दिया वह भक्ति-साहित्य का प्राण है। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय की उपासना के अन्दर विट्ठलनाथ ने ही राधावाद का प्रवर्तन किया।[2]

रामानुजाचार्य ने जिस श्रीसम्प्रदाय का प्रचार किया वह पूर्वप्रचलित पांचरात्रधर्म के अधिक समीप था। उनकी उपासनापद्धति पर योगशास्त्र का भी प्रभाव दिखलाई देता है।[3]

निम्बार्काचार्य के सनकसम्प्रदाय में प्रेमलक्षणा भक्ति थी जिसके आलम्बन कृष्ण एवं राधा थे। यह अधिकतर 'हरिवंश', 'विष्णुपुराण' तथा 'महाभारत' की विचारधाराओं पर आश्रित थी। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना तथा विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में विस्तार के लिए अवकाश ही नहीं था। आगे चलकर मध्वाचार्य ने जिस मनोवेग को अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया उसका मध्व एवं विष्णुस्वामी में अभाव ही रहा। न्यूनाधिक रूप में तो वल्लभाचार्य ने उन चारों का ही अनुसरण किया तथा पूजनपद्धति एवं भजन-कीर्तन के द्वारा जनसमाज तक पहुँचने का मार्ग भी निकाल ही लिया।[4]

---

१. न मे भूयान् मोक्षो न नरमराधीशसदनं
न योगो न ज्ञानं न विषयसुखदुःखकदनम्।
त्वदुच्छिष्टं भोज्यं, तव पदजलं पेयमपि तद्
रजो मूर्ध्निस्वामिन्यनुसवनमस्तु प्रतिभवम्॥
—श्रीस्वामिन्यष्टक
उद्धृत : बलदेव उपाध्याय : भारतीय वा० में रा०; पृ० ८४।
२. श० मू० दा० गु० : श्रीरा० का क्र० वि०; पृ० २८४।
३. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णवधर्म; पृ० ९८।
४. वही : पृ० ९८।



### गौड़ीय सम्प्रदाय—एक परिचय :

महाप्रभु चैतन्य (१४८५-१५१० ई०) ने बंगदेश में भक्ति की प्रेममाधुरी प्रवाहित की। चैतन्य पर निम्बार्क, जयदेव, चंडीदास एवं विद्यापति का प्रभाव कम न था। उनकी भक्ति के पाँच भेद किये गये। शान्तरसमयी, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यरस वाली भक्ति जिसमें अन्तिम तक क्रमशः भक्ति गाढ़े रस में पगती जाती है। गौड़ीय सम्प्रदाय की उपासना का मुख्य रूप संकीर्तन है।

चैतन्य ने अपने मत को दार्शनिक आधार नहीं दिया। यह कार्य उनके अनुयायियों द्वारा पूर्ण हुआ जो माध्वमत से प्रभावित-सा लगता है।[1] आचार्य बलदेव ने इस मत के अनुसार 'ब्रह्मसूत्रों' का भाष्य किया जो 'गोविन्दभाष्य' नाम से प्रसिद्ध है। चैतन्य के मत में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को शरण मिल गयी। महायान में जब वज्राचार्यों ने नर-नारी-मिलन को धार्मिक रूप दे दिया तो यह आदर्श शीघ्र ही व्यभिचार में परिणत हो गया। जनसाधारण में इनका मान भी न रहा तथा बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी व्यंग्य से 'नेड़ा-नेड़ी' नाम से पुकारे जाने लगे। प्रचलित बौद्ध-धर्म में स्त्रियों को जैसा महत्त्व मिला था वही महत्त्व बंगाल के वैष्णवदल में स्त्रियों को भी प्राप्त था। अन्तर इतना ही था कि नेड़ा-नेड़ियों का प्रकृत प्रेम था जबकि वैष्णवधर्म में प्रेम की पूरी मात्रा थी। १६वीं शताब्दी में महाप्रभु ने हिन्दू-समाज से तिरस्कृत करीब ढाई हजार नेड़ा-नेड़ियों को वैष्णवधर्म की दीक्षा दे दी।[2] इस प्रकार अनेक उपसम्प्रदायों ने चैतन्यभावना का सम्बल पा लिया जिनमें सहजिया, किशोरभाजा, नेड़ा-नेड़ी, बाउल, दरवेश, जगन्मोहिनी, गौरांगसेवक, स्पष्टदायक आदि उल्लेखनीय हैं।[3] इस सम्प्रदाय की चर्चा मात्र इस उद्देश्य से हुई है कि इस सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व काफी बढ़ गया। साहित्य एवं धर्म के क्षेत्र में तो राधा अनेक अंचलों में उपास्य रहीं पर शक्तितत्त्व के रूप में गौड़ीय वैष्णवों में ही इनका स्वरूप निखार पा सका।[4]

### राघवानन्द के आश्रय में भक्ति का आगमन एवं रामानन्द :

विक्रम की पन्द्रहवीं शती में पूर्वचर्चित दक्षिणाचार्यों द्वारा प्रतिपादित वैष्णव-

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णवधर्म; पृ० १०५।
२. रामावतार शर्मा : भारतीय ईश्वरवाद; पृ० ४७६।
३. परशुराम चतुर्वेदी : वै० धर्म; पृ० १०५।
४. शक्तितत्त्वेर अवलम्बन करिया राधातत्त्वेर उत्पत्ति एवं क्रमविकास गौड़ीय वैष्णवगण द्वाराई साधित हइयाछे इहाते आर सन्देह नाई।
—श० भू० दा० गु० : मा० श० सा० ओ शा० सा०; पृ० १४७।

भक्ति को उत्तरभारत में लाने का श्रेय स्वामी रामानन्द को दिया जाता है।[1] उत्तर-भारत में विष्णु-भक्ति-प्रचार के केन्द्र थे काशी एवं मथुरा। काशी में रामभक्ति एवं मथुरा में कृष्णभक्ति का प्राबल्य था। काशी को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम केन्द्र मानना पड़ेगा क्योंकि १५वीं शती के अन्त में वल्लभ एवं चैतन्य के सम्प्रदाय का निश्चित प्रवेश व्रजमण्डल में हुआ। इससे पहले ही १४वीं शती के प्रारम्भ में ही काशी में नवीन धार्मिक जागृति का सूत्रपात हो चुका था।[2] इस सूत्रपात के प्रणेता भी रामानन्द ही कहे जाते हैं परन्तु राघवानन्द को ही इसका श्रेय मिलना चाहिए जो अपने विशाल संपत्ति वाले मठ का परित्याग कर उत्तरभारत चले आये। राघवानन्द ही दक्षिण एवं उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलनों के संयोजक सूत्र हैं तथा आप ही रामानुजाचार्य की श्रीपरम्परा को उत्तरभारत में लानेवाले हुए।[3] आपके शिष्य थे रामानन्द जो रामानुज की चौथी या पाँचवी शिष्यपरम्परा में पड़ते हैं। रामानन्द (१४१०-१५१० ई०) का व्यक्तित्व बड़ा विशाल था। "आप संस्कृत के पंडित थे, उच्च ब्राह्मणकुल में उत्पन्न थे तथा एक प्रभावशाली सम्प्रदाय के भावी गुरु थे; पर उन्होंने सबको त्याग दिया। देशभाषा में कविता लिखी। ब्राह्मण से चाण्डाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया। उनके हाथ से छूकर लोहा सोना हो गया।"[4] राघवानन्द के सिद्धान्त में हठयोग[5] एवं वैष्णवभक्ति का पूर्ण सामंजस्य था किन्तु रामानन्द ने शरीरशोषिका क्रियाओं को व्यर्थ समझा और सारे भारत का पर्यटन कर अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। इनके परलोक-वासी होने तक (१५१० ई०) रामभक्ति का प्रकाश भारत के अनेक हिस्सों में फैल गया तथा कृष्णभक्ति के साथ रामभक्ति का भी प्रचार हो गया।

---

१. भक्ति द्राविड़ै ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नवखण्ड ॥

२. बलदेव उपाध्याय : भागवतधर्म; पृ २४२।

३. वन्दे श्रीराघवाचार्यम् रामानुजकुलोद्भवम्
याम्यादुत्तरमागत्य रामचन्द्रप्रचारकम् ॥
— अनन्तस्वामी-कृत 'हरिभक्तिसिन्धुवेला'
ग्रन्थ का मंत्रप्रकरण, चौथी तरंग।
उद्धृत पृ० २४४ : भागवतधर्म; बलदेव उपाध्याय।

४. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हि० सा० भू०; पृ० ४८।

५. राघवानन्दजी की 'सिद्धान्तपंचतन्मात्रा' में नाथपंथियों का पूरा प्रभाव दिखाई देता है।
द्रष्टव्य : रामभक्ति में रसिक सम्प्र०; पृ० ६३।



## रामानन्द की महत्ता—एक परिचय :

रामानन्द राम को ईश्वर का अवतार तथा सीता को जगज्जननी मानते थे। यह भी 'सांख्य' के पुरुष-प्रकृति से प्रभावित था तथा राधा-कृष्ण के समानान्तर था। किन्तु अन्तर इतना था कि रामभक्ति में नैतिक कमजोरियों के लिए अवकाश नहीं था। रामानन्द के पहले रामभक्ति का उत्तरभारत में प्रचार नहीं हुआ था और कृष्णभक्ति ने रामभक्ति को जोर पकड़ने नहीं दिया। रामानन्द ही राम-भक्ति के प्रचार के लिए यत्नशील हुए। किन्तु दक्षिणभारत में रामायत-सम्प्रदाय वर्त्तमान था। 'अध्यात्मरामायण' में राम की कथा बिलकुल नये ढंग से एवं आध्यात्मिक रूप से कही गयी। इसमें अद्वैत, वेदान्त एवं शाक्त तत्त्वों का भी समावेश किया गया। यहाँ राम माया-मनुष्य हैं और सीता मायाच्छिन्न चिच्छक्ति हैं। इसमें समुच्चयवाद[1] के स्थान में पूर्ण नैष्कर्म्य का उपदेश दिया गया। इस 'रामायण' पर 'भागवत' की छाप थी और यह अपने पूर्ववर्ती 'अगस्त्यसंहिता', कन्नड़ 'पम्पारामायण', 'योगवाशिष्ठ' तथा 'अद्भुत और भुशुण्डि रामायण' से प्रभावित थी। यह क्रमशः उत्तरभारत में आ चुकी थी।[2]

शैव तथा शाक्त पंथियों के प्रभाव से समाज में तंत्र-मंत्र, कील-कवचादि तांत्रिक उपासना के अंगों के प्रति लोगों का आकर्षण देखकर स्वामी रामानन्द ने रामोपासना में उसकी व्यवस्था की। 'रामरक्षा' की रचना इसी उद्देश्य से हुई। इसी प्रकार नाथपंथी उपासकों के आदर्श पर सन्तजीवन के प्रत्येक कृत्य के लिए उन्होंने पृथक्-पृथक मन्त्रों की रचना कर 'सिद्धान्तपटल' का निर्माण किया।[3]

रामानन्द दक्षिण के 'रामावत' से परिचित थे। दक्षिण में वैष्णवों की कट्टरता से परिचित थे। सिद्धों एवं नाथों में जाति-पाँति का भेद नहीं था। विजेता मुसलमानों में भी जाति-पाँति-भावना शून्य थी। एक प्रकार से रामानन्द ने जाति-पाँति का भेद हटाकर युगधर्म का ही पालन किया और भक्ति सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दी।[4]

रामानन्द के प्रधान शिष्य बारह हुए जिनमें कई निम्नजातियों में उत्पन्न थे। रामानन्द की उपासनापद्धति की स्वतंत्रता से अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिल गयीं जिसके फलस्वरूप आपके प्रायः सभी शिष्यों ने अलग-अलग पंथ चलाये। कबीर ने

---

१. वर्णाश्रम में भक्ति, कर्म, ज्ञान—रामानुज का सिद्धान्त समुच्चयवाद।

२. रा० ब० पाण्डेय : आलोचना १०; पृ० १८।

३. डा० भगवती प्र० सिंह : रा० में र०स०; पृ० ६३-६४।

४. वैष्णवमताब्जभास्कर : 'न्याय-स्वरूप-निर्णय', ९।

नाथपंथ एवं सहजयान के मिश्रित रूप, सूफीमतवाद तथा वेदान्तभावित वैष्णवधर्म की तीन धाराओं को आत्मसात् कर रामानन्द के बीजमन्त्र से अभिषिक्त कर अपना पंथ चलाया।[1] किन्तु आपकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक थी। मलूकदास ने मूर्त्तिपूजाविरोध किया। दादू ने भी तरैना में एक सम्प्रदाय चलाया जिसके अनुयायी विरक्त, नागा एवं विस्तरधर्मी कहलाये। रैदास का भी एक सम्प्रदाय मराठा प्रान्त में स्थापित हुआ। सेना ने भी अपना क्षेत्र उधर ही रखा।

रामभक्ति को नवजीवन देनेवाले गोस्वामी तुलसीदास हुए जिन्होंने 'रामायण' में राम के पवित्र चरित्र को उदात्तता देकर रामभक्ति को देशव्यापी कर डाला। भगवान बुद्धदेव के बाद उत्तरभारत के धार्मिक राज्य पर इस प्रकार एकछत्र अधिकार किसी का न हुआ।

इस प्रकार उत्तरभारत में दक्षिण की भक्तिधारा, जो आलवार सन्तों से प्रारम्भ हुई, आचार्यों की दार्शनिकता से पुष्ट होकर यहाँ के जनसमुद्र में निनादित हो उठी।

## आलोच्य काल की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन :

भक्ति के आगमन के पूर्व उत्तरभारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति अराजकता से पूर्णतः आक्रान्त थी। गुप्तसम्राटों द्वारा गणों का विनाश हो जाने पर राजतन्त्र की वृद्धि हो गयी थी। देश उपराज्यों में बँटकर भारतवर्ष की एकता की भावना डुबो चुका था। मुसलमानों के आक्रमण ने उनकी एकता की कमर ही तोड़ दी थी। व्यक्तिगत रूप से कुछ महाप्राण व्यक्ति ही इस मुस्लिम सत्ता का विरोध करते रहे पर पारस्परिक फूट के कारण देश के उद्धार के सारे प्रयत्न विफल होते चले गये। तथापि इस्लाम की राजनीतिक शक्ति एवं धर्म का सबसे ज्यादा विरोध भारतवर्ष में ही हुआ।

सामाजिक स्तर पर सैद्धान्तिक रूप में वर्णाश्रमव्यवस्था चल ही रही थी। हिन्दू समाज इससे उबर भी नहीं पाया कि मुसलमानों के आक्रमणों के कारण रक्षात्मक शुद्धि एवं वर्जनशीलता के कारण सामाजिक प्रतिबन्ध कड़े होते गये तथा सामाजिक जीवन में वर्ग-वर्ग का तथा व्यक्ति-व्यक्ति का भेद बढ़ता ही गया। धर्म के लिए लोगों में छूट थी। जो जिस धर्म को चाहे अपना सकता था। भागवत एवं शैव मत ने सामाजिक रूढियों का परित्याग कर दिया तथा सिद्धों एवं योगियों के

१. ह० प्र० द्वि० : हि० सा० भू०; पृ० ४८।



द्वारा सामाजिक उदारता का भाव बढ़ा। किन्तु समाज का अधिकांश भाग सिद्धान्ततः स्मार्त अर्थात् स्मृतिविहित वर्णाश्रमव्यवस्था को माननेवाला था। यही कारण है कि सामाजिक दृष्टि से तुलसी की रामायण वैष्णव रंग में पगी होने पर भी सबसे अधिक प्रिय हुई।[1] स्त्रियों की दशा भी कुछ अच्छी न रही। स्त्रियों में स्वयंवर की प्रथा थी और उनका बलपूर्वक अपहरण भी कर लिया जाता था। वे मानवी होती हुई भी भोग्या के रूप में रहीं। मुसलमानी आक्रमण ने तो उन्हें असूर्यम्पश्या ही बना दिया।

सबसे प्रबल धार्मिक भावना ही थी। साहित्य को प्रेरणा न तो राजनीति दे सकी, न समाज ही इस लायक था और यह काम धर्म ने किया। भगवान बुद्ध का विकृत बौद्धधर्म तथा जैनधर्म अपने अवशेष के रूप में सक्रिय था ही; इसके साथ-साथ पौराणिक धर्म पर भी तंत्र का ही प्रभाव पड़ता जा रहा था। वैष्णव, बौद्ध, शैव एवं शाक्त एक-दूसरे के समीप होते जा रहे थे। दार्शनिक वादों में प्रभाकर एवं कुमारिल द्वारा मीमांसक वैदिकधर्म पुनर्जीवित हो चुका था। शंकराचार्य के वेदान्त ने जहाँ एक ओर उपनिषद् को स्वीकारा वहाँ बौद्धधर्म के महायान-सम्प्रदाय के कतिपय सिद्धान्तों को भी स्वीकार कर लिया था। यद्यपि धार्मिक विचारों में वे शाक्त थे परन्तु परम्परानुसार वाममार्गियों के विरोधी थे। पौराणिक धर्म भी साम्प्रदायिक रूप धारण कर अनेक पुराणों की सृष्टि करता रहा। स्मार्तधर्म में समन्वयात्मक पद्धति का विकास हुआ जो उत्तरभारत में बड़ी ही लोकप्रिय हुई। कालान्तर में इसका मीमांसा एवं वेदान्त से मेल हो गया और स्मार्तमीमांसा एवं वेदान्त का सुन्दर समन्वय बन गया जो आगे रामानुज, रामानन्द एवं गोस्वामी तुलसीदास आदि वैष्णवकवियों की कृतियों में धर्म के रूप में स्वीकृत किया गया।[2]

'पांचरात्रसंहिताओं' की चर्चा पहले अध्याय में हो चुकी है। इन संहिताओं में द्रष्टव्य तथ्य यही है कि वैष्णवधर्म के अन्दर शाक्तसिद्धान्तों का समावेश हो गया। मन्त्र, यन्त्र, चक्रवर्णन, योगसाधना एवं सिद्धियों का पूरा विवरण 'पांचरात्रसंहिताओं' में भी प्राप्त है। महाभारतकाल के बाद यह पांचरात्र-धर्म सात्वतों के माध्यम से दक्षिण में पहुँचा था और आलवार सन्तों में इसकी झलक भी मिलती है।

१. रा० व० पां० : आलोचना १०; पृ० १३।
२. वही; पृ० १५।

वैष्णवसम्प्रदाय के प्रायः समानान्तर शैवसम्प्रदाय चलता रहा जो कापालिकों से विच्छेद कर आगे चलकर नाथपन्थ के रूप में विकसित हो गया। शैवसम्प्रदाय के साथ-साथ शाक्तसम्प्रदाय घनिष्ठ रूप में प्रचार पा रहा था और तन्त्रग्रन्थ भी लिखे गये। कालान्तर में महायान में भी शाक्ततत्त्वों का प्रवेश हो गया और बौद्धधर्म का तान्त्रिक रूप बना जिसमें बुद्ध के पत्नीभाव की कल्पना की गयी और दिनानुदिन वज्रयान घोर वासना-लीला के चक्कर में अवनति की राह पर गिरता चला गया। बाद में यह बंगाल में सहजयानी सिद्धों में अवशिष्ट रहा। तान्त्रिक कृत्यों के फलस्वरूप लोक-अप्रियता, मुस्लिम आक्रमण एवं इसके भक्तिमार्गी आस्तिक अंग के सामान्य जनता में विलय के कारण साम्प्रदायिक रूप में इसका भारत में अन्त ही हो गया।

### वैष्णवभावना एवं उत्तरभारत की लोकभावना में शक्ति का स्वरूप :

दसवीं शताब्दी से वैष्णवसाहित्य की वृद्धि होने लगी थी। भागवतों का सर्वमान्य ग्रन्थ 'भागवत' था ही जिससे अनुप्राणित होकर साम्प्रदायिक सूत्रग्रन्थ 'नारद एवं शाण्डिल्य भक्तिसूत्र' लिखे गये। 'गोपी-चन्दन' एवं 'वासुदेव उपनिषद्' भी लिखे गये। ज्ञानेश्वर (१३वीं शताब्दी) ने महाराष्ट्र में 'भगवद्गीता' पर 'ज्ञानेश्वरी' टीका लिखी।

धार्मिक सम्प्रदायों की उत्तरभारत में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय एवं धार्मिक पंथों की बाढ़ में जनता पर कोई बन्धन नहीं था और बन्धन होता भी कैसे? शासकवर्ग विधर्मी था। उसे हिन्दू जनता की धार्मिक उपलब्धियों से कोई सरोकार न था। उसकी दृष्टि में सभी धर्मपंथ विधर्मी थे। इसके लिए इस्लाम की कट्टरता दोषी थी। इस्लाम ने किसी भी भारतीय धर्म को अपने पास फटकने नहीं दिया। सातवीं से दसवीं शताब्दी के बीच ही हमने देखा कि ब्राह्मणधर्म अनेक रूपों में लोकाभिव्यक्ति पाने के लिए उन्मुख होता गया तथा शैव, शाक्त एवं वैष्णव अनेक मार्गों से इस काल में लोकाभिमुख हो रहे थे और लोकशक्ति प्रबल हो रही थी।[1]

लोकशक्ति की प्रबलता को हम कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकते। इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि समाज में आदिकाल से सभी विचार-धाराएँ, कभी उठती, कभी उभरती, वर्त्तमान रही हैं। शक्तिवाद के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि शक्ति विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाती रही है। इसकी महत्ता को इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा कि यह प्रकट या प्रच्छन्न रूपों में सभी दार्शनिक या धार्मिक वादों पर अपनी छाया छोड़ती जाती है। शक्ति की इस धारा को

१. डा० सत्येन्द्र : म० हि० लो० ता० अ०; पृ० ६१।



वैष्णवधारा में मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। शाक्तों से साधारणतः वाममार्गियों का अभिप्राय व्यक्त होता है। वाममार्गी भी शाक्त थे यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता पर उनके आचारों की गुह्यता एवं घोरकर्मता से संस्कारबद्ध जनजीवन अलग ही रहा। इसके विपरीत दक्षिणमार्गियों का समाज में मान रहा। दक्षिणमार्गी शंकराचार्य भी थे। यद्यपि गुरु शंकर ने तत्त्वतः अद्वैत का ही प्रचार किया, फिर भी सर्वत्र श्रीचक्र की प्रतिष्ठा कर लेने से वे एक प्रकार की शाक्त-पद्धति के अभिभावक कहे जा सकते हैं। इस दिशा में उन्होंने वामाचार का खण्डन करके दक्षिणाचार को लोकप्रिय बनाया जिसमें पंचमकारों का सर्वथा निषेध एवं निराकरण किया गया। उनकी सुन्दर काव्यकृति 'सौन्दर्यलहरी' एक अद्भुत तंत्रग्रन्थ मानी जाती है जिसमें भक्ति-भागीरथी के साथ ही काव्यसौन्दर्य की कलिन्दजा एवं तान्त्रिकता की सरस्वती की अन्तर्हित धारा का अनुपम संग्रह हुआ है।[1] शाक्तों की भावना ने शक्ति को माँ-रूप में प्रतिष्ठित किया। वह पुराणकाल के बाद असुर-विनाशिनी के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा पा ही चुकी थी। प्रत्येक देवता भी अपनी-अपनी शक्ति से युक्त होने लगे थे। साधारण मानवीय स्त्री-पुरुष-भाव का आगम हो जाने पर तथा उनके परिवार एवं जीवन के आख्यानों की सृष्टि हो जाने पर जनप्रिय शृंगारिकता ने भी उनके चरित्र में स्थान बना लिया।

### संस्कृत शृंगारसाहित्य तथा उसका धार्मिक काव्य पर प्रभाव :

यहाँ हम किंचित् विषयान्तर से संस्कृत-साहित्य के शृंगारी कवियों का एक संक्षिप्त परिचय देकर यह देखने की चेष्टा करेंगे कि इन कवियों ने अपने शृंगार-वर्णन में देवताओं को भी नहीं छोड़ा, साधारण मानव की तो गिनती नहीं।

प्राकृत एवं अपभ्रंश में दूसरी शताब्दी से ही लोकरंजनार्थ प्रेममयी कविताओं की सृष्टि तथा संस्कृत के कवियों में अध्यात्म एवं शृंगार दोनों का अपना-अपना स्थान है। इसी शृंगारभावना ने शक्ति के तत्त्व को मानवीय परिधान पहनाकर भ्रम फैलाया है। यह आदिम शृंगारभावना संस्कृत के कवियों में चरम-सीमा पर पहुँच गयी थी। ईसा की दूसरी से सातवीं शताब्दी तक कालिदास, घटखर्पर, मयूर, चौर, भर्तृहरि एवं अमरुक आदि कवि शृंगारपरक काव्य की सृष्टि में अनूठे कल्पना-चित्रों को पूर्ण करते जा रहे थे। सातवाहन की 'गाथासप्तशती' में शृंगारवर्णन का प्राचुर्य है। द्वितीय शताब्दी में शृंगार का भाव जनप्रिय था। यही रस प्राकृतग्रन्थ 'गाथासप्तशती' में प्रकट हुआ।[2] वही परम्परा समाज में रही

१. प्रो० राममूर्ति रेणु : पृ० १९५; पाटल, अप्रैल, १९५५।
२. द्रष्टव्य : गाथासप्तशती : बम्बई, १८८९।

होगी जो आगे कालिदास में व्यक्त होती है। कालिदास महाकवि थे, उन्होंने शील का पालन किया; किन्तु प्रकृति एवं प्रेम के उद्रेक में कामोद्दीपन की पूरी मात्रा भर दी। 'ऋतुसंहार' एवं 'मेघदूत' में भी इस श्रृंगार के विलासमय चित्र उपलब्ध होते हैं। महाकवि ने इसे चतुराई से उपमा में आबद्ध कर रखा है; किन्तु इससे जनरुचि का प्रमाण तो मिल ही जाता है।[1]

छठी शताब्दी में घटखर्पर ने विरहवती वनिता को आधार बनाकर अपने काव्य का प्रबन्धन किया।[2] मयूर, चौर, भर्तृहरि एवं अमरुक सभी सातवीं शताब्दी में समकालीन रहे। मयूर के 'मयूराष्टक' में नख एवं दन्त के क्षतों वाली चम्पकवर्णी तथा 'स्तनपीनभारकठिना' नायिकाओं का आविर्भाव[3] एवं चौर की 'पंचाशिका' में 'मन्मथशरानलपीडितांगी' 'विहसिता कुचभारनम्रा' के दर्शन होते हैं।[4] भर्तृहरि ने मकरध्वज कामदेव के मंगलाचरण से ही 'श्रृंगारशतकम्' की रचना की। उस समय का आदर्श ही लगता है—'अधरमधुवधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति'।[5] अमरुक ने भी विभिन्न भावभंगिमाओं-भरी नायिकाओं में ही अपना काव्यकौशल प्रदर्शित किया। भामह के बाद अनेक काव्याचार्य १२वीं शताब्दी तक काव्य की मीमांसा में ही दत्तचित्त रहे। रुद्रट में विशेषरूप से नायक-नायिका-वर्णन हुआ। रुद्रट के 'श्रृंगार-तिलक' को लोकप्रियता मिली जिसमें नायिकाओं की संख्यावृद्धि हुई। ग्यारहवीं शताब्दी में भोज के 'श्रृंगारप्रकाश' में श्रृंगार ही प्रधान रस के रूप में स्वीकृत हुआ। भोज के बाद क्षेमेन्द्र, भानुदत्त, विद्याधर एवं मम्मट ने भी श्रृंगार की ही प्रधानता स्वीकार की।

कहना न होगा कि इस श्रृंगारभावना का समाज पर भी काफी प्रभाव पड़ा। इसने धार्मिक भावना पर भी अपना रंग चढ़ा दिया। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में यह भावना पूर्णरूपेण स्थूलरूप धारण कर लेती है और साहित्य एवं धर्म दोनों पर निश्चय ही इसने प्रभाव डाला। फलस्वरूप भवानी एवं शिव की उपासना में श्रृंगारपूर्ण नरलीलाओं का समावेश हो गया। शिव की पवित्र भक्ति जो माता-पिता के रूप में प्रचारित थी, तांत्रिक काल में कामयज्ञों से प्रभावित हो मानवी इच्छाओं का प्रतिरूप हो गयी। उपासना में पवित्रभाव की शून्यता दिख-

१. ऋतुसंहारम् : २-१, ३-१, ४-५, ६,११,१२; मेघदूतम् (उ०) १,३,५,६,११ इत्यादि।
२. द्रष्टव्य : घटखर्परकाव्यम्, १२।
३. वही, मूयराष्टक, ३।
४ वही, चौरपंचाशिका, २,२३।
५. वही, श्रृंगारशतकम्, २५।



लाई देने लगी और यह लीलाओं का आवरण लेकर प्रचार पाने लगा।[1] काव्य में भी बाण ने एक ओर 'चण्डीशतक' में चण्डी की शक्ति का स्तवन किया किन्तु दूसरी ओर देवताओं की अपकीर्ति भी करायी।[2] भर्तृहरि ने भी ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को मृगनयनियों के घर पर पानी भरने का काम सौंप दिया।[3] इस प्रकार शिव-पार्वती के श्रृंगारमय लीलापूर्ण वर्णन का क्रम ५वीं शताब्दी में आरम्भ होकर १२वीं शताब्दी तक विकसित होता रहा और उसमें कवियों के साथ भक्तों का भी निश्चय ही हाथ रहा।[4]

## भक्ति की परिष्कारमयी चेतना तथा शक्तितत्त्व :

'आर्यासप्तशती' में गोवर्धनाचार्य ने शिव को सामान्य कामुक नायक की परम्परा में ला रखा एवं शिव को पार्वती के चरणों पर गिड़गिड़ाते हुए दिखलाया है। आपके हाथों विष्णु की भी वैसी दुर्दशा हुई। जयदेव के आलम्बन राधा-कृष्ण भी श्रृंगार के अक्षय्य भांडार ही बन गये। 'पार्वती-परिणय' में पिता हिमवान् के मुख से सारी मर्यादा का परित्याग कर पुत्री के श्रृंगारिक स्वरूप का वर्णन कराया गया।[5] भाषा-कवियों ने इसी का आधार लेकर राधा-कृष्ण को रास-रंग में रत कर दिया।

शिवोपासना के श्रृंगारमय रूप को जनसमाज आदर्शरूप में नहीं स्वीकार कर सका; क्योंकि शिव का श्मशानवासी होना श्रृंगार में बाधक बन जाया करता रहा होगा। बारहवीं शताब्दी के बाद उसका स्थान राधा-कृष्ण-भक्ति ने ग्रहण कर लिया। कुछ काल तक शिव एवं कृष्ण दोनों समानरूप में श्रृंगाररस के इष्टदेव बने रहे पर शीघ्र ही शिव अपने पुरातन रुद्ररूप में अन्तर्धान हो गये

१. देहातों के पिण्डीस्थान, मन्दिरों के अरघासहित शिवलिंग, यत्रतत्र पूजित योनि-पीठ, स्तनपीठ आदि और ७वीं-८वीं शताब्दियों की काली तथा पार्वती की मूर्तियाँ इसी अवस्था में प्रमाण हैं।
—Arts & Crafts of India & Ceylon : Ananda Kumar Swamy, Lon. 1913, P. 11.
२. रा० श० : भा० ई०; पृ० ५३४।
३. वही, पृ० ५३५।
४. वही, पृ० ५३५-३६।
५. 'पार्वती-परिणय' : १-१४, श्रीरंगनगर, १९०६।
यह ग्रंथ बाण का रचा कहा जाता है किन्तु १५वीं शती के कवि वामनभट्ट बाण की कृति है। दे० पृ० ३१७, एच० सी० आई० पी०—३।

और उनके स्थान में कृष्ण अपनी शक्ति के साथ भक्तमण्डली में रासलीला को अवतीर्ण हुए।[1]

विद्यापति में जयदेव का ही नहीं, संस्कृतकवियों की शृंगार परम्परा का भी प्रभाव माना जाना चाहिए। वह युगेच्छा ही थी जो उनके सरस पदों में मुखरित है। चण्डीदास में जीव एवं ब्रह्म का प्रेममिलन राधा-कृष्ण-मिलन का रूपक बनकर आया पर समाज ने उसका मर्म नहीं समझा क्योंकि उस आध्यात्मिक स्तर पर जनमानस आसीन नहीं हो पाया था। इससे पूर्व ही १०वीं शताब्दी के अन्त में बौद्ध काणुभट्ट के प्रेमपरक पदों का प्रचार था जो चण्डीदास के सहजिया वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रेमपदों में प्रतिध्वनित हुआ।[2] किन्तु चण्डीदास की राधा-कृष्ण-कल्पना परवर्ती कवियों में धर्म के पवित्र रूप का स्पर्श करने लगी। वल्लभसम्प्रदाय के कवियों में यह भावना और उदात्त होकर सँवर गयी।

इस प्रकार इस काल के पूर्वाभास में समाज की बिगड़ी दशा के ही दर्शन होते हैं। अनेक धर्म एवं सम्प्रदायों का यह उल्लेख तुलसी ने 'रामायण' में किया है।[3] किन्तु अब काश्मीर, ब्रज एवं बंगाल की भक्तिलहरें लोगों के मनोरंजन की अग्रगामिनी बनीं। वर्षों से शिव-पार्वती की भक्ति होती आ रही थी, विष्णु की उपासना भी उनके अवतार की धारणा के साथ जारी थी और कृष्णभक्ति की लहर दक्षिण से उत्तर को उमड़ पड़ी और इन सबके साथ तान्त्रिकों के साधारण जनप्रिय उपचार मिश्रित होते जा रहे थे।[4]

---

१. रा० श० : भा० ई०; पृ० ५३७
बारहवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण को जो सम्मान दिया गया वह संस्कृत-काव्य का शृंगाररस की दृष्टि से तीसरा स्वरूप है और हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काव्य का आरम्भिक, जिसके ज्ञाननिमित्त गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' और जयदेव का 'गीतगोविन्द' देखना चाहिए।

२. D. C. Sen : History of Bengali language & Literature; pp. 38, 39; Calcutta, 1911.
In the Sahajia creed of the Vaisnavas, the old doctrine re-appeared among the masses, and its great exponent Chandidas echoed, the sentiments of Kanu Bhatta in his love songs, giving it a far higher spiritual tone than they had ever received from the Buddhists.

३. कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्तमये सद्ग्रन्थ।
दम्भिन निजमत कल्पि करि, प्रगट किये बहु पंथ॥
—रा० च० मा० : उत्तरकाण्ड; पृ० ९७।

४. रा० शा० : भारतीय ईश्वरवाद; पृ० ५०९।



नाथ-सम्प्रदाय ने सारे बिखरे सम्प्रदायों को एकसूत्र में कर ही दिया था।[1] शैव और शाक्त सम्प्रदाय जो वेदानुयायी थे वे वृहत्तर ब्राह्मणप्रधान हिन्दू-समाज के अंग थे। भक्ति के आन्दोलन से भक्ति की भावना, अवतार में आस्था, निर्गुण-सगुण का समन्वय, सहज सुरति एवं योग की योजना, पूजा, कीर्तन और काव्य का उपयोग, नाम और रूप का आश्रय—ये सारे लोकतत्त्व थे जिनके पोषण के लिए 'वेद-उपनिषद्' एवं 'ब्रह्मसूत्र' का आधार ग्रहण किया गया। इन नये आन्दोलनों ने वैदिक-अवैदिक समस्त भारतीय साम्प्रदायिक वृत्तियों का एकीकरण कर दिया और शक्तिवाद एक नया स्वर लेकर इसमें मिश्रित हो गया।[2] इस परिवर्तित रूप में शक्तिवाद को पहचानना भी कठिन हो जाता है। इस शक्तिवाद का मूलस्रोत जो पांचरात्र एवं काश्मीरी शैवदर्शन में विकास पा चुका था दो धाराओं में बहता रहा। एक ने शुद्ध वैष्णवधारा में लोकरंजक तत्त्वों से अपने को मण्डित कर लिया। दूसरी धारा उग्र शाक्तों की रही जो लोकग्राह्य भी नहीं थी और वह इस भक्तिधारा में बंगाल को छोड़कर अन्यत्र प्रवेश नहीं पा सकी।[3] शक्तितत्त्व, चाहे वह वैष्णवदर्शन में हो या शाक्तदर्शन में या शैवदर्शन में—पर वह सनातन शक्ति हमारे संस्कारों में बद्धमूल है। इन देवियों के भीतर भारतीय जनमानस ने सदा ही एक शक्ति के दर्शन किये हैं।[4] वही शक्ति निम्बार्क की राधा है, विट्ठल की लीलामयी शक्ति है, चैतन्य की प्रेममयी शक्ति है तथा रामानन्द की जगज्जननी सीता है। वही परम्परागत पार्वती है, वही उमा है, वही सरस्वती है, वही 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' है।

---

१. हृ० प्र० द्वि० : नाथसम्प्रदाय; पृ० १४७, प्रयाग, १९५०।

२. चैतन्य भागवत (वृन्दावनदास ठाकुर) ने चैतन्य के समय में प्रचलित मंगल-चण्डी का गीतगानेवालों और देवी को जगानेवालों का उल्लेख किया है। 'मंगल-चंडीर गीत करे जागरणे'। चै० भा० (आदिखण्ड), अध्याय २, पृ० १५।
उद्धृत—पृ० २४, रत्नकुमारी : हिन्दी और बंगाली के वैष्णवकवि।

३. डा० सत्येन्द्र : म० हिं० सा० का० लोकता० अध्ययन : आगरा १९६०, पृ० ९५। तुलनीय 'किन्तु बौद्धधर्म-गुह्य साधनापद्धति सहजियासम्प्रदाय में वैष्णव के साथ बंगाल में पाल राजाओं के काल में मिल गयी।'
—श्रीराधा का क्रमविकास; पृ० २५४।

४. डा० श० भू० दा० गु० : भा० ज्ञ० सा० ओ शा० सा०; पृ० ३।
"वैष्णवदर्शन, शैवदर्शन ओ शाक्तदर्शन के अवलम्बन करिया एक आदिभूता समाननीर धारणा—अद्वयप्रवणता के तृप्त करिवार चेष्टा करियाछि।"

## चतुर्थ अध्याय

# 'वैष्णव' का गृहीत अर्थ तथा प्रबन्ध की परिमिति

शक्तितत्त्व अपने बदलते हुए रूप में आदिकाल से रहा है और रहेगा भी; क्योंकि यह समस्त विश्व एक ऊर्जा से अनुप्राणित है। शक्तितत्त्व की भावना हमारे जनमानस में इस प्रकार घुल गयी है कि उसकी प्रतिच्छवि हम प्रायः समस्त भारतीय साहित्य में देखते हैं। कभी तो रूप का अवलम्ब लेकर और कभी शुद्ध मानववृत्ति के रूप में यह चेतना सर्वत्र दृष्ट है।

### वैष्णव शब्द का साम्प्रदायिक अर्थ :

इसी शक्तितत्त्व का अन्वेषण हिन्दी-साहित्य के वैष्णवकवियों में करना हमारा इष्ट है। साधारणतया 'वैष्णव' शब्द एक सम्प्रदायविशेष के लिए प्रयुक्त होता है। वैष्णव अर्थात् विष्णु के उपासक। अवतारक्रम से विष्णु के अनेक अवतार हैं परन्तु उनके मानवीय अवतारों की उपासना के रूप से सम्प्रदाय का निर्माण हुआ। नृसिंह, वाराह अथवा कूर्म को इष्टदेव मानकर किसी सम्प्रदायविशेष की स्थापना या प्रचार हो—यह नहीं ज्ञात है। वामन की पूजा भारत में कहीं-कहीं मिलती है। भारतीय मूर्तिकला में विष्णु के दशावतारों का भी आलेखन है। वैसे तो विष्णु के अवतारों को मानवसभ्यता के विकासक्रम में देखने पर अवतारवाद का सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त जान पड़ता है, किन्तु भारतीय धर्मास्था ने इन्हें ईश्वरत्व देकर महत्त्वपूर्ण बना दिया है। जैसे बौद्धधर्म की परिणति वृहत् हिन्दू-अवतारवाद में हो गयी वैसा कोई ऐतिहासिक तर्क हम अन्य अवतारों के लिए प्रस्तुत नहीं पा सकेंगे। विष्णु के राम एवं कृष्ण के अवतार ही सम्प्रदायविशेष के रूप में प्रतिष्ठा पा सके और वैष्णव से हमारा अभिप्राय प्रायः इन्हीं अवतारों के उपासकों का होता है।

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में सम्मिलनभावना (पीछे निर्देश किया गया है) हरि-हर, त्रिमूर्ति एवं पंचायतनपूजा में प्रमाणित है। त्रिमूर्ति का प्रचार काल-विशेष में था। चतुर्मुख महादेव भी कहीं-कहीं प्रतिष्ठित हैं।[1] इनमें लोकजीवन में

१. वैशाली में चतुर्मुख महादेव का लिंग है।



हम आज भी पंचायतनपूजा का प्रचार देखते हैं। वैष्णवधर्म में स्मार्त पूजापद्धति लोकप्रसिद्ध है ही जहाँ इष्टदेव को प्रधान मानकर अन्य देवों का सम्यक् आदर किया जाता है।

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में शक्तिभावना की खोज करने के क्रम में यही कारण है कि मात्र रामभक्तिशाखा या कृष्णभक्तिशाखा के कवियों में ही अन्वेषण सीमित रखने पर कठिनाई उपस्थित हो जायेगी और शक्तिभावना के अनेक महत्त्व-पूर्ण पक्ष अर्चचित रह जायेंगे।

पुनः भावप्रधानता के कारण ही हम किसी कवि की विशेष धारा को आबद्ध कर डालते हैं पर उस कवि में अन्य भावनाएँ भी अन्तःस्रोतस्विनी के रूप में रहती ही हैं। इसलिए सम्यक् ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी काव्य-साहित्य की विशाल चिन्ताधारा में, वैष्णवकवियों पर विशेष बल देते हुए शक्ति-तत्त्व के संकेतचिह्नों को ढूँढने का उपक्रम किया जाये।

### वैष्णव-साहित्य : अवैष्णव कवि :

वैष्णव-कवि और वैष्णव-साहित्य दोनों में अन्योन्याश्रयसम्बन्ध का भ्रम संभव है। वैष्णव-साहित्य का स्रष्टा अवैष्णव कवि भी हो सकता है। ऐसा नहीं कि वैष्णव-साहित्य के सृजनकर्त्ता को 'वैष्णवकवि' संज्ञा मिल ही जाये। वैष्णव आचार-विचार, धार्मिक जीवन एवं सम्प्रदाय में आबद्ध रहनेवाला व्यक्ति कविकर्मा होने के कारण 'वैष्णवकवि' संज्ञा प्राप्त कर सकता है। मैथिली-शरण गुप्त प्रायः इसी मापदण्ड से 'वैष्णवकवि' उपाधि धारण करते हैं। वैष्णव-साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से होना चाहिए जिसमें वैष्णव देवता को आलम्बन बनाया गया हो या वैष्णव आचार-विचारों का आलेखन हो। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वह साहित्य इस सम्प्रदाय में आवृत होने की योग्यता रखता हो।

अतः उचित है कि वैष्णवकवियों में शक्तितत्त्व का अन्वेषण केन्द्रित रखते हुए भी वैष्णवसाहित्य की उपेक्षा न हो। एतदर्थ ऐसे कवियों को भी इस सूची में रखना उचित है जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में वैष्णव तत्त्व[1], देवता या दर्शन की चर्चा की है।

पुनः कवियों की विस्तृत नामावलि में कुछ ऐसे कवियों के भी दर्शन होते हैं जो वैष्णव भी थे, कविकर्म भी करते रहे, पर उन्होंने लोकभाव का अवलम्ब लेकर काव्यरचना नहीं की तथा सम्प्रदाय में बँधकर भी साहित्यरचना नहीं की।

१. मन्तव्य अवतारी ईश्वर तथा उनके साथ पूजित पंचायतनरूप से है।

धार्मिक काल का काव्य सम्प्रदायविशेष का काव्य है। ऐसे कवि अनेक होंगे जिनकी नामावलि हमें ज्ञात नहीं क्योंकि ज्ञात नाम तो सम्प्रदाय के बल पर प्रतिष्ठा पाकर प्रचार पा गये। ऐसे कवि जिनकी कविताओं का सम्प्रदाय के लिए कोई महत्त्व नहीं था, उल्लेख्य हुए ही नहीं होंगे—इसी की अधिकांश संभावना है। अतः वैष्णवकवि से यहाँ अभिप्राय उस व्यक्तित्व से ही माना जाना चाहिए जिसने लोकजीवन में समादृत भाव को साहित्यिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

## लोकतत्त्व और काव्य का विषय : पावनप्रक्रिया :

इस प्रसंग में यह कहना समीचीन होगा कि लोकजीवन में जिस भावना की धारा प्रवहमाना रहती है वही उछलकर काव्य का विषय बन जाती है। सूर का बालकृष्ण वल्लभाचार्य की प्रेरणा था किन्तु वह लोकजीवन का नायक भी था जो 'श्रीमद्भागवत' में पौराणिक आख्यान में ही पहले अपनी ईषत झाँकी दिखला चुका था। तुलसी के राम 'अध्यात्मरामायण' के दार्शनिक राम नहीं, राक्षसकुल से मुनियों को त्राण दिलानेवाले राम हैं, जिनका अवलम्बन आपत्तिकाल में लोकमानस को निर्भय करता रहा होगा।

लोकजीवन में समादृत भाव कालविशेष में बदलता जाता है। वह त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) या पंचायतन में आबद्ध नहीं रहता। वह विष्णु को आधार मानता तो है पर कृष्ण और राम के रूप में। कभी वह उसे निराकार कर देता है तथा रूप से अधिक नाम को महत्त्व देता है। कबीर ने दशरथसुत को अस्वीकार कर दिया पर 'राम' की नामशक्ति को स्वीकारा ही। उनकी बहुरिया बनने में संकोच नहीं किया। जायसी ने भी न राम को माना, न कृष्ण को; पर पद्मावती ही जनमानस का 'राम' बन गयी और रत्नसेन ही 'बहुरिया' बन गया।

सामान्यतः कोई भी भावना जब उपासना की वैयक्तिकता से उतरकर लोकरस में घुलमिल जाती है तो वह साहित्य का विषय बन जाती है। उपासना प्रत्येक काल में होती रही है। आलम्बन भी सभी देव-देवियाँ रहे हैं। यह स्वातन्त्र्य भारत में सदा ही रहा है। इन सभी देव-देवियों की स्पर्द्धा में व्यक्तिगत श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए आख्यानों की सृष्टि होती रही। आख्यानों की परम्परा ही लोकरस को जन्म देती है और यही लोकरस साहित्य में सुन्दरम् बनकर शिवत्व की प्रतिष्ठा करने लगता है। इस प्रकार इसी लोकरस को हम पावन-प्रक्रिया (फिल्ट्रेशन प्रोसेस) से काव्यरस के रूप में प्राप्त करते हैं। शक्ति-तत्त्व को भी हम इसी पावनप्रक्रिया से प्राप्त करते रहे हैं। साथ ही शक्ति के



आधारभाव भी इसी प्रक्रिया से नित्य नवीन रूप में हमारे सामने आते रहे हैं। कहीं वे माधव[1] हैं, तो कहीं बाल-गोपाल[2], तो कहीं गोपीवल्लभ।[3]

अतः वैष्णवभावना के मिलेजुले अर्थात् समीकृत रूप को आधार बनाकर शक्तितत्त्व का अन्वेषण करना अपेक्षित होगा।

## शक्ति—एक मूलतत्त्व :

पहले अध्याय में ही मातृदेवियों के प्राप्त विविध रूपों के उत्स एवं विकास को दिखलाने के प्रयास में यह विवेचित हो चुका है कि शक्तियों की कल्पना विभिन्न देवों के साथ सम्बद्ध हो विकसित हुई है। इन शक्तियों के एकीकरण का प्रयास 'श्वेताश्वतर' के 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' में दिखलाई देता है। भावात्मक क्षेत्र में जो ज्ञान, इच्छा, क्रिया रही होगी, वह शिव की शक्ति के साथ विरूपा हो संयुक्त हो जाती है और विष्णु के साथ भी सम्बद्ध होती है। क्रमशः अनन्त शक्तियों का उदय होता है तथा उन्हें स्वतंत्र भी सिद्ध कर दिया जाता है।

दार्शनिक चिन्ता से उपासना के धरातल पर उतरते ही वह अपनी दो स्थितियों में—एक, शक्तिमान् के साथ तथा दूसरी, स्वतंत्र स्थिति में—दिखलाई देती है।

शक्तिमान् के साथ संयुक्त कर उसे शक्तिमान् से अधिक महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो जाता है। स्वतंत्र स्थिति में भी वह भौतिक समृद्धि, लोकसिद्धि देनेवाली या गुह्य-आचारकों की आराध्या बनकर रह जाती है।

अवतारवाद की भावना ईश्वर की भावना को समीप ला देती है। वेदान्त का ब्रह्म—जो सर्वोपरि सत्ता है, ज्ञेय है—अनुभवगम्य है। अवतार धारण करने पर हमारी दृष्टि के पथ पर हमारे समान ही मानवशरीरधारी बनकर वह आता है। उसकी शक्ति भी शरीरधारण कर आती है और यह लीला हमारे विश्वास को नयी भूमि देती है।

अतः शक्तिमान् की चर्चा जिन रूपों में है, वहीं शक्ति का अन्वेषण करना होगा। शक्तिमान् के साथ शक्ति का अभिन्नाभाव-सम्बन्ध तो है पर शक्तिमान् की शक्ति सर्वत्र एक-सी शक्ति या स्वरूप नहीं धारण कर पाती है। कवियों ने उसे शक्तिमयी के रूप में, अर्थात् दार्शनिक शक्तितत्त्व के रूप में अनुभूत किया

१. विद्यापति।
२. सूर।
३. रसखान।

है पर व्याख्या करने के क्रम में लीला का विस्तार किया है। यही लीलाभाव सगुणभाव में विशेषरूप से प्रखर होता है।

## स्त्री-पुरुष-तत्त्व : एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता :

शक्ति के सगुणभाव का आधार विश्वसत्य स्त्री-पुरुष-भाव है। सम्भव है कि स्त्रीजाति की नित्यशक्ति—जिसमें वह गर्भधारण एवं प्रजनन में समर्था है—देवीत्व की भावना के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी हो। पूर्व में चर्चित भी हो चुका है कि आदिकाल में मातृसत्ता थी और इस आधार पर मातृपूजा का प्रचलन अस्वाभाविक भी नहीं है। कालान्तर में पुरुषप्रबलता के फलस्वरूप वह—पाशविक वासनाओं की आपूर्त्ति के रूप में—मात्र भोग्या बनकर रही। उद्धार की आवश्यकता होने पर अर्द्धांगिभाव की भावना में उसे नये मूल्यों से अभिषिक्त किया गया। अर्द्धांगिभाव की प्रतीति के लिए सभी देवताओं की शक्ति की कल्पना की गयी। अर्द्धांगिभाव अपनी कमनीयता एवं प्रजननशक्ति की समर्थता से क्रमशः उदात्त होता हुआ सौन्दर्यभाव एवं अलौकिकत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो स्त्रीभाव को पुरुषभाव से श्रेष्ठ सिद्ध करने में सफल हुआ। कभी स्त्री दार्शनिक रूप में रहस्यमयी, अनुभवगम्य, कभी लीलामयी के रूप में अनन्तलीलाविस्तारिणी, महामाया अथवा त्रिपुरसुन्दरी संज्ञा धारण करने लगी। इसे हम सूक्ष्म से स्थूल का संक्रमण मान सकते हैं। स्थूलरूप में आस्था एवं विश्वास को अवलम्ब मिल जाया करता है। यह अवलम्ब हमारे लिए प्रत्यक्षप्रमाण की भाँति ही होता है। यहीं कल्पना सत्य हो जाती है और सत्य ही रमणीय बन जाया करता है।

सगुणभाव की रमणीयता में दर्शनप्रदत्त अलौकिकता कुछ इस भाँति घुलीमिली है कि विभाजनरेखा खींचना सहज नहीं। सगुणरूप के वर्णन में यही विपत्ति है कि सगुणाचरण इतना मानवीय होता है कि ईश्वरतत्त्व की भावना अन्तर्धान होने लगती है। यही कारण है कि गोस्वामीजी को बार-बार अपने राम के विषय में पाठकों को सचेत करना पड़ा कि उनके राम ब्रह्म हैं, मानव नहीं। और तो और, जगज्जननी सती को भी भ्रम हो जाता है और सती का परिताप 'रामायण' की एक सशक्त कथा है जिसमें प्रकारान्तर से राम की महत्ता सिद्ध होती है।

गोस्वामीजी के सगुणभाव का साथ अलौकिकत्व अधिक काल तक नहीं दे सका। अलौकिकत्व सिसकता ही रहा या मात्र सूचित कर दिया गया पर लीलाव्यापार शुद्ध मानवीय धरातल पर आ गया। इसे ही ईश्वर को मानव के



समीप लाने की चेष्टा या 'भूतल को स्वर्ग बनाने'[1] की चेष्टा कहेंगे। इस नाते हमें कितनी मानवी मूर्त्तियों के दर्शन होंगे जिनकी संज्ञा शक्तितत्त्व की परम्परा में है। अतः उनके स्रष्टा कवियों की रचनाओं की परीक्षा आवश्यक हो जायेगी। यहाँ शक्तिभावना और नारीभावना की सीमारेखा खींचना कठिन हो जाता है और पर्याप्त भ्रम की उत्पत्ति संभव है। परिणामतः साहित्य में शक्तितत्त्व की खोज करते समय ऐसे कवियों की नारीभावना आलोच्य सीमा से बाहर नहीं जा सकती।

## प्रबन्ध की परिमिति :

प्रस्तुत प्रबन्ध के व्यवहारप्रकरण की सीमारेखा निर्धारित करने के लिए ही इस अध्यायविशेष की आवश्यकता आ पड़ी है। शाक्तभावना का ऐतिहासिक विकास एवं उसकी दार्शनिक स्थापनाओं के अनन्तर हिन्दी-साहित्य के कवियों के काव्य में शक्तितत्त्व का अन्वेषण किये बिना इस प्रबन्ध का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। किन्तु हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक धारा ऐसी भी रही है जिसका स्वर नितान्त व्यक्तिनिष्ठ था। वह साहित्य राजाओं के शौर्य एवं प्रेम को लेकर रचित हुआ। स्वभावतः वह काल या उसके कवि हमारी आलोचना की सीमा में नहीं आते।

हिन्दी-काव्य विशेषतः धर्म का पल्ला पकड़कर चला है। गोस्वामीजी ने प्राकृत-जन-गुण-गान करनेवालों की दुर्दशा का संकेत किया ही है और ऐसे काव्य कम ही मिलेंगे जिनमें भारतीय धार्मिक धारा की चेतना का अंश शून्य हो। प्रायः समस्त काव्यधारा में नायक एवं नायिका का पद हमारे देवी-देवताओं को ही मिलता आया है। जहाँ भी कहीं लौकिक नायक को काव्य या महाकाव्य का विषय बनाया गया है वहाँ वे पौराणिक धारा के प्रतिनिधि बनकर कहीं तो देवलोक का स्पर्श करते दीखते हैं[2] या शुद्ध मानवीय धरातल पर आधुनिक युग के आयाम में परिवेष्ठित लगते हैं।[3] इस प्रकार पहली कोटि के काव्य हमारी परिधि में सहज ही आ जाने के अधिकारी हैं।

पुनः भारतीय जनजीवन में मध्यकाल में कुछ ऐसे विदेशी तत्त्व आ गये जो बाहरी होते हुए भी बाहरी नहीं क्योंकि उन्हें हमारी आत्मा का सिंचन मिला है। जायसी की 'पद्मावती' इसी कोटि में आ जायगी। जब कभी हम 'प्रेम की

---

१. द्रष्टव्य : साकेत; मैथिलीशरण गुप्त।
२. जयशंकर प्रसाद : कामायनी।
३. रामधारी सिंह दिनकर : रश्मिरथी, उर्वशी एवं कुरुक्षेत्र।

पीर' का अनुभव करते हैं तो हमारा आलम्बन अपने ब्रह्मत्व का समस्त निर्विशेषत्व परित्याग कर मात्र मानव बनकर अवशिष्ट रह जाता है।

हमारी प्रेमभावना कामविज्ञान के अनुसार विपरीतलैंगिक आधार चाहती है। अपने आलम्बन को हम पुरुष कहकर भी पुरुष के समस्त पौरुष से च्युत कर डालते हैं। हमारे देवताओं का श्मश्रुविहीन स्त्रियोचित कमनीयता से पूर्ण मुखमण्डल एवं षोडशवर्षी अनन्त यौवन हमारी इसी वृत्ति का परिणाम है। पुरुष के सौन्दर्य का वर्णन नहीं होना चाहिए। उसका पौरुष कथ्य है। तब, जहाँ हम अपने आराध्य का लालित्य देखना प्रारम्भ करते हैं वहाँ हमारी पुरुषभावना मुखर होती है। वैष्णवभक्तों ने इसीलिए जहाँ राम या कृष्ण का ललित वर्णन किया है वहाँ उनकी भावना नारी-लालित्य का आरोप कर डालती है। अतएव, जहाँ हमें पद्मावती का अलौकिकत्व प्राप्त है वहाँ शक्तितत्त्व का अन्वेषण न करना एक अनमोल तथ्य को अस्वीकार करने के समान होगा।

जायसी वैष्णव नहीं थे, पर जायसी का काव्य शक्तितत्त्व का एक सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। यह सत्य है कि जायसी की पद्मावती प्राकृत नारी है पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्राकृतत्व केवल आधारमात्र ही है। वह अलौकिक है और इसी रहस्य के साथ प्रतीकात्मक रूप में अवतरित हुई है जिस प्रकार हमारे पौराणिक कृष्ण। अन्तर केवल लैंगिक है, जिसका समाधान ऊपर देने का प्रयास किया गया है।

प्राकृतत्व के प्रसंग में प्रतीकभावना पर विचार करना भी आवश्यक हो गया है। शक्ति के लिए सिद्धों ने 'डोम्बिनी' शब्द का प्रयोग किया है। डोम्बिनी कोई नारी नहीं—वह शक्ति है। शक्तिसाधना के क्षेत्र में सिद्धकवियों ने शक्ति का कथात्मक वर्णन नहीं किया। उन्होंने साधना के अनुभवों का प्रकाश किया। इस नाते उनके शक्तितत्त्व का वर्णन इसलिए आवश्यक हो जाता है कि काव्य की धारा में सिद्धों एवं नाथों ने ही सर्वप्रथम शक्तितत्त्व का हिन्दी-काव्य में प्रकाशन किया। ये वैष्णव नहीं थे अर्थात् इनपर वैष्णवता की मुहर नहीं थी वरना अपने समस्त आचार-विचार में ये वैष्णव से कम तो थे नहीं। साधना के चरमलक्ष्य ब्रह्म—वह राम हो या शिव—की साधना में कोई अन्तर नहीं आता। अतएव इन्हें भी उस परिधि में लाना आवश्यक हो गया है।

**शक्तितत्त्व की अजस्र आध्यात्मिक परम्परा :**

इस प्रबन्ध में शक्तितत्त्व को अजस्र आध्यात्मिक प्रवाह-परम्परा के रूप में देखने का पहला ही अवसर है। अध्यात्म का धरातल सदा एक ही ऊँचाई पर



स्थिर नहीं रहता। काल के प्रवाह में इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। कोई एक भावना निरन्तर पुष्ट होती हुई उच्च से उच्चतर स्थान ग्रहण करती जाती है। कभी क्षयमाना होकर निम्न भी हो जाती है। किसी काल में वह समाज के दो विपरीत आचार वाले वर्गों की सीमाओं में एक साथ ही एक स्थान पर उच्च तथा दूसरे स्थान पर निम्न रहती है। यह तो भावसंस्कार, शिक्षा एवं सम्प्रदाय पर आश्रित है कि वह उसे जिस श्रेणी पर चाहे प्रतिष्ठित कर दे। संस्कृति के विकास में ये गामी एवं प्रतिगामी शक्तियाँ सदा से रही हैं और चेतना सदा ही तुलित होकर उच्चपद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशीला रही है।

यह क्रिया जाने-अनजाने शक्तितत्त्व के इतिहास में भी परिलक्षित होती है। शक्तितत्त्व का आध्यात्मिक रस इसी कारण कभी ऊर्ध्व, मध्य और अधः सरणियों में गतिशील भी रहा है। इसलिए 'वैष्णवता' की सीमा का विस्तार किये बिना शक्तितत्त्व के इन रूपों का स्पर्श नहीं किया जा सकेगा।

**'वैष्णव' शब्द के नये आयाम :**

विचार करने पर देखते हैं कि 'वैष्णव' शब्द सम्प्रदाय के घेरे में आबद्ध नहीं रह सका। अपने उदात्तीकृत रूप में यह सहजसाधुता का पर्याय बन गया। भारतीय कवियों ने कभी भी अपने निज के जीवन के विषय में कुछ न लिखा। इस नाते उन्होंने अहं का परित्याग कर ही साहित्य की साधना की। फलतः उनके काव्य का आदर्श ही उनका जीवनादर्श बनकर हमारे समक्ष प्रकट हुआ है। और, काव्य का यह आदर्श सदा ब्रह्म के समान सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का बाना लेकर आया है। हमने काव्य के आनन्द को भी 'ब्रह्मानन्दसहोदर' ही कहकर अलौकिकता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया है। अस्तु, काव्य के साधकों और वैष्णवों की भावभूमि में कोई अन्तर ही नहीं।

पुनः भारतीय जीवन में वैष्णवता सम्प्रदाय की अपेक्षा एक आचारविशेष के रूप में सामाजिक मान्यता प्राप्त करती आयी है। गुजरात के भक्तकवि नरसी मेहता का प्रसिद्ध पद इसकी पुष्टि करता-सा दीखता है—

वैष्णव जन ते तेने कहिये, जे पीर पराई जाने रे।
परदुःखे उपकार करे तेई, मन अभिमान न आने रे।। आदि

'वैष्णव' शब्द के इसी परिवेश में शक्तितत्त्व की ध्वनि, स्पर्श, मुखर रूप, छलकते रस एवं सुवास-भरी गन्ध का अन्वेषण किये बिना पूर्णता का बोध नहीं होगा। इन अवसरों पर 'वैष्णव' विशेषण पूर्ण, अर्द्ध अथवा सांकेतिक अर्थ की विवृति करता लगेगा।

कतिपय प्रश्न :

सहज ही प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब इतने बड़े विस्तार में शक्तितत्त्व का अन्वेषण करना था तो उसे 'वैष्णव' विशेषण की परिसीमा में क्यों बाँध दिया गया। प्रश्न के औचित्य एवं शक्ति से मुख नहीं मोड़ा जा सकता। इस प्रसंग में निवेदन है कि पूर्व अध्यायों में जिस शक्तितत्त्व की ऐतिहासिक एवं दार्शनिक व्याख्या हुई है वह धूप की तरह अनेक किरणतन्तुओं में प्रसारित होती हुई वैष्णवों के काव्य में ही स्निग्ध बनकर आती है। यही शक्तितत्त्व की चरममनोरम परिणति है। इस परिणति के समानान्तर पूर्व या पश्चाद्वर्ती अनेक प्रतिबिम्बों के दर्शन आवश्यक ही हैं। कारण, इनके दर्शन के बिना सापेक्षिक महत्त्व का मूल्य नहीं ज्ञात हो सकता।

पुनः देखा जाता है कि परिणति पर पहुँचकर भी यह शक्ति त्रिवेणी पर लीन हो जानेवाली सरस्वती की धारा नहीं रह जाती। जनमानस में आसीन यह अपनी गँगी-जमुनी रूपच्छवि से कूलों को आप्यायित करती बढ़ती ही जाती है। इसका अनन्त विस्तार है और यह काल की तरह प्रवहमाना है। इसका कहीं विराम नहीं।

इसी हेतु उस धारा के साथ चलने का उपक्रम किया गया है। 'परिणति का महत्त्व गुरुतर' होने पर भी अगर 'वैष्णवता' विशेषण चिपक ही गया है तो वह आलोचना का विषय नहीं बनना चाहिए। विशेषण तो संज्ञा को स्थिरत्व दे देता है। संज्ञा शाश्वत है इसलिए उसे विशेषण के पास से फिसल जाने का अधिकार भी है।

—



# पंचम अध्याय

# हिन्दी काव्यसाहित्य में शाक्ततत्त्वों के संकेतचिह्नों का अन्वेषण

## व्यवहारपक्ष की पीठिका

पिछले अध्यायों में यह विवेचित हो चुका है कि शक्तितत्त्व अपने शुद्ध दार्शनिक रूप में अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरा। धार्मिकसाहित्य की रचना के पीछे प्रचार एवं प्रतीति का आधार हुआ करता है। 'स्वान्तःसुखाय' रचनाएँ भी 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' ही हो जाती हैं।

दार्शनिकता जब साहित्य की चादर ओढ़कर आती है तो रूपकों में बोलती है; पर वैसे स्थल धार्मिककाव्य में कम ही प्राप्त होंगे। साहित्य की प्रतिष्ठा लोकभूमि पर होती है। और, साधारण जनता अपने समाजबोध द्वारा ही धर्मबोध का निर्माण करती है। अस्तु, शिव-शक्ति या कृष्ण-राधा या राम-सीता का दार्शनिक तत्त्व चाहे कुछ भी हो, लौकिक विश्वास में वे मात्र पति-पत्नी हैं।

पुनः काव्यसाहित्य का निर्माण लोकभाषा में हुआ जहाँ दार्शनिकता की स्थापना के लिए सुअवसर नहीं था।[1] वहाँ रमणीय भावों की ही अवतारणा हो सकती थी, गहन विषयों का अध्ययन नहीं। यही कारण है कि दार्शनिक शक्तितत्त्व का स्वर ही बदला-सा लगेगा।

पुराणों के प्रकरण (अध्याय १) में ही हम शक्तिवाद के विविध रूपों को शैवपुराण, शाक्तपुराण एवं वैष्णवपुराण में प्रायः एकरूप में ही वर्णित पाते हैं।

पुनः तत्त्व की दृष्टि से पांचरात्रवर्णित लक्ष्मीतत्त्व, काश्मीर-शैवदर्शनोक्त शक्तितत्त्व के भीतर कोई मौलिक पार्थक्य नहीं पाते।

---

१. वास्तव में काव्यरचना के समय दार्शनिकतत्त्वों की विवेचना करना कवि का उद्देश्य नहीं रहता। वह तो अत्यन्त रमणीय शब्दों में अपने हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति करता हुआ अग्रसर होता जाता है। किन्तु उसकी रचना में प्रसंगवश कतिपय ऐसे शब्द तथा विचार आ जाते हैं जिनसे उसके दार्शनिक विचारों की भी अभिव्यंजना हो जाती है।
—उदयनारायण तिवारी : रासपंचाध्यायी और भँवरगीत; पृ० ३७।

यह एक विशेष भारतीय दृष्टि है जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों एवं दृष्टिकोणों के अन्दर से पुष्ट हो गयी है।[१] यह शक्ति शक्तिमान् के साथ अभिन्नभाव से सर्वदा संयुक्त रहनेवाली है। इसकी स्वतंत्र स्थिति भी वर्णित है। यह लीलामयी है। यह भक्तों को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करानेवाली है। यह जगज्जननी है, इत्यादि।

शक्ति एवं शक्तिमान् की नित्यलीला को साहित्य में रूपायित करते हुए कवियों को मनुष्य का दृष्टान्त और मनुष्य की भाषा को अपनाना पड़ा है।[२] इसीलिए विविध नामों से स्तुत्य उस शक्ति को इन कवियों ने किन-किन रूपों में स्वीकार किया एवं क्या महत्त्व-प्रतिष्ठा दी यही हमारा आलोच्य होगा।

हिन्दी-काव्य में हमें जिन कवियों में शक्तितत्त्वों का चिह्न प्राप्त होता है उनपर अगले अध्यायों में विचार किया गया है।

## सिद्धों में शक्तितत्त्व

भारतीय शक्तितत्त्व का जनमानस पर इतना गहरा प्रभाव था कि बौद्धधर्म में भी शक्तितत्त्व का प्रवेश हो गया। वज्रयानियों के व्यभिचार में बौद्धधर्म घुट-कर रह गया और वज्रयानियों का चरमलक्ष्य महासुख रहा। यही चरमसुख है। इसी के दार्शनिक पक्ष में दृढयोग की क्रिया को साधना के विशिष्ट पक्ष के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। किन्तु महामुद्रा की साधना के लिए किसी नीच जाति की स्त्री को महामुद्रा बनाकर गुरु के अदेशानुसार सहवासक्रिया से ही सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा की जाती थी। गुह्यसमाजतंत्र में इसका विधान एवं महत्त्व प्रतिष्ठित है।[३] किन्तु यह महासुखवाद में दुर्व्यसनों को जन्म देनेवाला सिद्ध हुआ तथा अनेक साधक पथभ्रष्ट होते गये। फलस्वरूप समाज में दुराचार फैलता गया।

किन्तु इनमें कुछ सफल साधक भी हुए हैं जिन्हें 'सिद्ध' संज्ञा दी जाती है। ये सिद्ध संख्या में चौरासी थे और इन्होंने सामाजिक कृत्रिम रूढ़ियों को तोड़ फेंकने का प्रयत्न किया। अँधेरी कोठरियों एवं गुह्यसमाजों से लोगों को उबारने के निमित्त इन्होंने सहजजीवन का आधार प्रतिष्ठापित किया। यद्यपि ये भी इसमें सफल न हो सके और इनका सहजयान भी समाज का कोढ़ बनकर रह गया;[४]

१. श० भू० दा० गु० : श्रीराधा का क्रमविकास; पृ० ८०।
२. वही; २२५।
३. द्रष्टव्य : गुह्यसमाजतंत्र; गायकवाड ओरिएण्टल सीरिज, नं० ५३, पृ० २७।
४. रा० सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, १९४५, पृ० ४७।



किन्तु, इनका उद्देश्य समाज में किसी प्रकार का पाखण्ड फैलाना न था। ये तो स्वयं बौद्धों के दम घोंटनेवाले जीवन से उद्धार करने के लिए कृतसंकल्प थे पर इन्होंने सुख-दुःख एवं दुनिया की सारी समस्याओं को केवल व्यक्ति के रूप में देखा; समाज की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा नहीं की। इनका उद्देश्य निराशावाद एवं योग-वैराग्य से लोगों को मुक्ति दिलाना था। मृत्यूपरान्त निर्वाण की अपेक्षा स्वाभाविक भोगमय जीवन का आदर्श उपस्थित कर इन्होंने संसार के प्रति आस्था उत्पन्न की।

सिद्धों ने सहजसाधना का महत्त्व बतलाया, वज्रयानी मंत्र-मंडल आदि वाह्य साधनाओं की उपेक्षा की। योग एवं मानसिक शक्तियों के विकास की ओर ही बल देते रहे। इस शरीर को ही देवालय माना गया और उसे तीर्थों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया; यद्यपि यह भावना नयी नहीं थी और पहले से सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों और योगमार्गों में प्रचलित थी।[१] सरहपा ने इसे ही योगिनी का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि योगिनी सारे गाँव में प्रियतम को ढूँढे, पर प्रियतम अथवा तथागत तथा भगवती नैरात्मा तो देह में ही वास करती है।[२] सहज का इतना महत्त्व है कि इसे जान लेने पर किसी अन्य का जानना शेष नहीं रहता तथा सभी ज्ञेय इसी के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।[३] दाहिने-बायें का परि-त्याग कर इस मार्ग में सीधे चलना है। इस प्रकार चलने से किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।[४]

इस सहजमार्ग में शक्तितत्त्व का वास शरीर में ही है। इसीलिए सिद्ध सरहपाद शरीर को ही गंगा, यमुना, गंगासागर, प्रयाग, वाराणसी संज्ञा देते हैं। इस शरीर में ही चन्द्र एवं दिवाकर का स्थान है—

**एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगासाअरु।**
**एत्थु पआग वणारसि, एत्थु से चन्द दिवाअरु॥**[५]

वह शक्ति वाह्य नहीं। शरीर के भीतर ही मेरुदण्ड या सुषम्ना नाड़ी के सिरे पर वह स्थान है जहाँ पवन एवं मन एक साथ निश्चल अथवा

१. धर्मवीर भारती : सिद्धसाहित्य; पृ० २०५।
२. प्रबोधचन्द्र बागची : दोहाकोष; कलकत्ता; १९३८, पृ० १२१।
३. तसुष रिआणे अण्ण ण कोई, अवरेगण्ण सव्वविसोई॥ १९॥
—दो० को०, पृ० १७।
४. वाम दहिण दो बाटा च्छाडी, शान्ति बुलयेउ संकलिऊ।
घाट नगुमा खडतडि ण होइ, आखि बुजिअ बाट जाइऊ॥
—चर्यापद १५, पृ० १२२ : बागची (उद्धृत प० च०, पृ० ४७)।
५. रा० सा० : दोहाकोश, पृ० ४७।

निस्तब्ध किये जाते हैं। वही उच्चपर्वत का शिखर है, वही सहस्रार में स्थित चक्र है। उसी की संज्ञा उष्णीषकमल है जिसमें महासुख का निवास है तथा वही महामुद्रा भी है। वही मूलशक्ति नैरात्मा का निवासस्थान है। इसी भगवती नैरात्मा को महामुद्रा में कल्पित कर इसके डोम्बी, चाण्डाली, कपाली, योगिनी, शबरी आदि नाम दिये गये हैं। ये सभी सांकेतिक शब्दावली हैं।[1] इनका स्वरूपवर्णन ऐसा है कि इनमें साधारण नारियों का भ्रम हो जा सकता है; पर वस्तुतः ये प्रतीक हैं। उच्च-पर्वत पर मयूरपुच्छ धारण किये, ग्रीवा में गुंजा की माला धारण किये वह शबरी विराजमाना है।[2] डोम्बीपा के अनुसार, वह मातंगी (डोमिन वा नैरात्मा) गंगा-यमुना अथवा इडा-पिंगला के मध्य नाव खेकर विना कोई कौड़ी वसूल किये पार कराकर जिनपुर पहुँचा देती है।[3] इसी प्रकार अन्य नामों से इस शक्ति को अभिहित किया गया है पर मूलतः वही एक शक्ति है जो साधक को सिद्धि देती है। इड़ा एवं पिंगला को भी नारी संज्ञा से अभिहित किया गया है; यथा—आली एवं काली, ललन और रसना तथा रवि एवं शशि और बतलाया है कि 'ए' तथा 'बं' को तोड़कर सहज तक पहुँच पाया हूँ।[4] इस योगसाधना में जो आन्तरिक शक्ति जाग्रत होती है वही योगिनी या चांडाली है। वही डोम्बी या सहजसुन्दरी है। उसी सहजसुन्दरी के साथ योगी सदा-सदा के लिए युगणद्ध होकर महासुख में लीन रहा करता है।

सारांश यह कि सिद्धों ने शक्तितत्त्व को शरीरस्थ ही स्वीकार किया और उसके लिए नाम भी प्रतीकात्मक ही रखे। परन्तु व्यवहारपक्ष में देहधारिणी प्रज्ञा का उपयोग प्रज्ञा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए वज्रयानियों में आवश्यक था। यही मुद्रा समागम की वस्तु है। सरहपा के विषय में भी तारानाथ ने लिखा है कि उन्होंने महामुद्रामैथुन किसी योगिनी के साथ किया। शबरीपा और लूइपा के विषय में ऐसा ही उल्लेख है।[5] पर सिद्धों ने जनसाधारण को इस प्रकार की साधना के लिए कभी प्रेरित नहीं किया। यह केवल साधकों के लिए ही थी। सिद्धों ने महामुद्रासाधना के शारीरिक मैथुन के विषय में कुछ नहीं कहा। ये सिद्ध तो सपत्नीक गृहस्थधर्म का निर्वाह करते रहे। कण्हपा ने स्पष्ट शब्दों में अपनी

१. ध० सा०, सि० सा०, पृ० २२०।
२. शबरपा : ऊचा-ऊचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पिच्छ परिणिह शबरी जीवन गुंजरि-माली॥– हि०का०धा०; पृ० २०
३. डोम्बीपा (चर्या-१४), पृ० १२१ (उद्धृत प० च०, पृ० ४५)।
४. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की स० प०, पृ० ४६।
५ द्रष्टव्य : ध० मा०।



ही पत्नी से साधना का मार्ग बताया है। 'नमक जिस प्रकार पानी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार घरनी को चित्त में धारण करना चाहिए।'[1]

सिद्धों के शक्तितत्त्व का सामाजिक रूप में बहुत उदात्त रूप नहीं रहा। यह शक्तितत्त्व देहस्थ तो था पर वर्णन में डोमिनी, डाकिनी इत्यादि शब्दों के प्रयोग से अनेक अनाचारों को उत्पन्न करनेवाला हुआ। सिद्धों ने महाराग की प्रतिष्ठा कर भगवती प्रज्ञा के प्रति महाराग को काव्य की भूमि बनाया। आगे हम देखेंगे कि नाथपंथियों ने इस क्रम को उलट दिया है तथा साधना की सक्रियता शक्ति में स्वीकार की गयी है। सिद्धों में सक्रिय साधकों की, अपने को उपास्यरूप में परिकल्पित कर भगवती प्रज्ञा के प्रति प्रणय निवेदित करने की पद्धति थी। सिद्धों ने अपने को प्रेमी नायक के रूप में रखकर नारी प्रज्ञा से प्रणयनिवेदन किया है। इस क्रिया के वर्णन में ऐसी शृंगारिकता का समावेश हो गया है कि इनके स्वकीया, परकीया, सामान्या, मुग्धा, मध्या, प्रौढा, अभिसारिका आदि रूपों में सम्भोगशृंगार की योजना की गयी है। इस प्रकार सिद्धों में शक्ति का निष्क्रिय रूप मिलता है। साधक भक्त ही सक्रिय बनकर प्रणय निवेदित तो करते हैं पर साधना पर ही अधिक बल है। शक्तितत्त्व यहाँ शीर्षबिन्दु पर स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित है। उसकी अनुकम्पा इत्यादि का उल्लेख तो नहीं क्योंकि अपाय का ही सर्वत्र महत्त्व है। अस्तु साधक का बल उसकी अपनी साधना ही है। शक्ति का वास नारी में है—स्थूलरूप में हम यहीं पर आ पहुँचते हैं। उसकी रजःशक्ति के साथ वीर्यशक्ति का संयोग महासुख है। इस प्रकार इस शक्तितत्त्व की साधना में महासुख है।

**आइ ण अन्त ण मज्झ तहिं, णउ भव णउ णिव्वाण।**
**एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥**

—रा० सां० : दोहाकोश, पृ० १२

इसी तत्त्व की इन्होंने दर्शनपरक व्याख्या दी है तथा सभी योगिनियों को एक ही 'प्रज्ञा' की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ माना है और उनमें आन्तरिक अभेद की कल्पना की हैं।[2]

१. (i) णिअ-घरे घरणी जावण मज्जइ। ताव कि पंच वण्ण विहरिज्जइ॥
—२८, हि० का० धा०, पृ० १४८।
(ii) जिमि लोण विल्लिजइ पाणिएँहि, तिम घरिणी लइ चित्त ॥३२॥
—हि० का० धा०, पृ० १४८।
२. ध० मा०, सि० सा०; पृ० २५२।

## नाथपंथ में शक्तितत्त्व

भारत में योगियों की अतिप्राचीन परम्परा मानी जाती है। इनका अस्तित्व वैदिककाल से ही माना जा सकता है।[1] योगाभ्यास से मिलती-जुलती व्रात्यों की रुद्रोपासना तथा प्राणायामक्रियाओं का पता चलता है।[2] इन योगियों की भारत में अविच्छिन्न परम्परा थी और पतंजलि ने योग पर अपने ग्रन्थ द्वारा मुहर लगा दी। आपका 'योगसूत्र' योगदर्शन अथवा योगशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। योगविद्या से शैवों का पुराना सम्बन्ध विद्वानों ने स्वीकार किया है। योगी भी शिव को योगेश्वर मानते हैं तथा योगशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की रचना शिव-पार्वती के संवाद के रूप में प्राप्त है।[3]

विद्वानों की राय में इन नाथपंथियों के प्रारम्भिक इतिहास का कुछ भी पता नहीं चलता यद्यपि १३०० ई०पू० तक की इनकी सूची का उल्लेख किया गया है।[4]

नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की वज्रयानशाखा से ही माना जाता है;[5] यद्यपि डा० वड़थ्वाल के अनुसार ये नाममात्र को ही बौद्ध थे। आपके विचारानुसार अधिकांश बौद्ध सिद्धविचारधारा के अनुसार नाथपंथी हैं किन्तु साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार बौद्ध।[6] गोरखनाथ को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानने में भी विद्वानों को आपत्ति है और उनका पाशुपत लकुलीश से सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें योगमार्ग को व्यवस्थित रूप देनेवाला स्वीकार किया जाता है। गोरखनाथ ने काश्मीर शैव-दर्शन, प्रचलित वज्रयानी साधना, तथा अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत सम्पूर्ण ब्राह्मण-विरोधी साधनामार्ग को संस्कृत कर सभी रूढ़ियों का परिष्कार कर एक सुनिश्चित रूप दे दिया।[7] गोरखनाथ ने अपनी साधना में शील एवं शुद्धता का सन्निवेश कर, तान्त्रिक उच्छृंखलताओं का विरोध कर साधु एवं गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण कर दिया। उन्होंने बौद्धों के तन्त्र का ही नहीं, शाक्तों एवं शैवों का भी विरोध किया। कई पूर्ववर्ती सम्प्रदाय भी गोरखनाथ के संगठन में सम्मिलित हो गये और

१. ऋग्वेद : मं० १०, सू० १३६।
२. G. W. Briggs : Gorakhnath & the Kanphate Yogis : Religious life of India Series, Cal. 1938; p. 212-13.
३. प० च० : उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा; पृ० ५६।
४. रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग, पृ० ३६ (१९६३)।
५. रा० शु० : हिं० सा० इ०, पृ० ११।
६. डा० पीताम्बरदत्त वड़थ्वाल : योगप्रवाह, बनारस, पृ० २१७।
७. ह० प्र० द्विवेदी : नाथसम्प्रदाय, इलाहाबाद, १९५०, पृ० ९८।



उनके प्रवर्तकों को गोरखनाथ का शिष्य माना जाने लगा।[1] गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय का प्रचार पर्यटन करके किया तथा कई स्थानों पर केन्द्र स्थापित कर योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। आज भी इनकी बारह शाखाएँ प्रसिद्ध मानी जाती हैं।[2]

नाथसम्प्रदाय को अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। सब नामों में प्रथम आदिनाथ ही हैं जो स्वयं शिव हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी यह मानते हैं कि सिद्धकौलमत ही आगे चलकर नाथपरम्परा के रूप में विकसित हुआ। यह समग्र नाथसम्प्रदाय ही शैव है और इनके उपास्य देवता शिव हैं। नाथसम्प्रदाय के ग्रन्थों की गवाही से तान्त्रिकों का कौलमार्ग एवं कापालिकमत भी नाथानुयायी ही हैं। त्रिपुरमत के तान्त्रिकों के आचार्य भी अपने को नाथमतानुयायी ही कहते हैं।

### शक्ति तथा नाथ और कौल :

ये योगी कान फड़वाकर कुंडल धारण करते हैं, इसीलिए ये 'कनफटा योगी' भी कहलाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। मत्स्येन्द्रनाथ 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार कौलमार्ग के प्रथम प्रवर्तक हैं।[3] आप पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए। बाद में आपने कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरखनाथ द्वारा उद्बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गये। नाथों की परम्परा में अनेक नाम मिलते हैं और नवनाथों की भिन्न-भिन्न तालिकाओं में इनके वही नाम नहीं दीख पड़ते। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ के पूर्ववर्ती प्रभावों की विवेचना कर बतलाने का प्रयत्न किया है कि गोरखनाथ के अनेक पूर्ववर्ती सम्प्रदायों को बाद में गोरक्षनाथी माना जाने लगा। इनमें एक तो योगमार्गी थे जो शैव या शाक्त नहीं थे तथा दूसरे जो शैव और शाक्त थे योगमार्ग के माननेवाले नहीं थे। इन सम्प्रदायों की परम्परा समाप्त होने पर पुराने सम्प्रदायों के मूलप्रवर्तकों को भी गोरखनाथ का शिष्य समझा जाने लगा।[4] इनके इतिहास के विषय में जो-कुछ भी कहा जाय किन्तु यह तो निर्विवाद है कि मीननाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरी तथा चौरंगीनाथ नाथों में प्रमुख माने

१. ह० प्र० द्विवेदी : नाथसम्प्रदाय, इलाहाबाद, १९५०, पृ० १४७।
२. प० चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, प्रयाग, १९५७, पृ० ५८।
३. ह० प्र० द्विवेदी : नाथसम्प्रदाय, इलाहाबाद, १९५०, पृ० ५७।
४. ह० प्र० द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, इलाहाबाद, १९५२, पृ० ७५।

जाते हैं। इन्हें बौद्धसिद्धाचार्यों की श्रेणी में भी शामिल कर लिया गया और इनके ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया।[1]

**शक्ति और योग :**

नाथों की साधना में योगसाधना का बड़ा ही महत्त्व है। गोरखनाथ के सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं तथा योगसम्बन्धी रचनाओं में भी अद्वैतभावना ही परिलक्षित होती है। योग की प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्षप्रमाणों पर आधारित है तथा योगी समस्त इन्द्रियों पर वश प्राप्त कर, चित्तवृत्तियों का निरोध कर प्राणों के नियमन पर पूरा अधिकार प्राप्त करते हैं। इनकी साधना हठयोग की साधना है जिसके लिए कथनी की अपेक्षा करनी का महत्त्व है। गोरखनाथ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मेरे वचनों पर आस्था हो तो कर देखो कि विना खंभे के आधार पर स्थित आकाश में तेल एवं बत्ती के विना ज्ञान का प्रकाश हो गया।[2] गोरखनाथ में अजपाजाप का महत्त्व है। रसायनविद्या का प्रभाव भी स्वीकार किया जाता है। परन्तु नाथयोगी सहस्रार से चूनेवाले अमृतरस के पान पर लक्ष्य रखते हैं। इस प्रकार साधनापक्ष का महत्त्व ही सिद्ध होता है।

नाथपरम्परा में शक्ति को देहस्थ माना गया तथा साधना की सक्रियता शक्ति में मान ली गयी तथा शिव उसकी निष्क्रिय परिणतिमात्र थे। इसमें सिद्धों की पद्धति अर्थात् साधक का अपने को उपायरूप कल्पित कर भगवती प्रज्ञा के प्रति प्रणयनिवेदन करनेवाली भावपद्धति का पूर्ण परित्याग दिखलाई देता है।

**कुण्डलिनी-शक्ति :**

मूलाधार में शक्ति कुण्डलिनीरूप में स्थित बतलायी गयी है और ऊर्ध्व में शिव का लोक मानकर उसे कैलास कहा जाता है।[3] शक्ति का स्फोट आवश्यक है।

जगत का प्रपंच शक्ति के स्फोट के बाद ही आरम्भ होता है। अस्तु, यह शक्ति ही जगत् की सृष्टि करनेवाली है। यह शक्ति देहस्थ ही है और कुण्डलिनी में निवास करनेवाली है।

---

१. S. B. Dasgupta : Obsecure Religious Cults, Cal. 1946; p. 229.

२. थंभ विहूणी गगन रचीले तेल विहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पतिआया तब द्यौस नहीं तहाँ राती ॥
—गोरखबानी, २०४, वड़थ्वाल, प्रयाग, १९४२, पृ० ६८।

३. अवधू अरधै बसै सक्ती, उरधै बसै सीव
भीतरी बसै पवनाँ, अंतरी बसै जीव
निरन्तर इनका परचाल है। ऐसा विचार महीन्द्र का है।
—गोरखबानी, पृ० १९६।



नाथमार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड को ही मानते हैं। सभी प्राणियों में शक्ति का आवास है किन्तु मात्र शक्तिसंचालन से काम नहीं चलता। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्यरूप सहजसमाधि। इसी सहजसमाधि से जब मन से ही मन को देखा जाता है तब जो अवस्था होती है असल में वही मोक्ष है।[1]

**शैव और शाक्त का अन्योन्याश्रित रूप :**

नाथपंथियों के विषय में इतना विस्तार करने का मुख्य उद्देश्य यही है कि शक्तितत्त्व के आधार का अन्वेषण हो सके। ऊपर यह देखने की चेष्टा की गयी कि नाथपंथियों की शक्तिभावना कोई नवीन उद्भावना नहीं थी।

काश्मीर-शैवदर्शन में प्रतिपादित शक्तितत्त्व नाथपंथियों का आधार था। उन दिनों शैव और शाक्त साधनाएँ एक-दूसरे से गुँथी हुई थीं। शिव और शक्ति का अभेदत्व सिद्धान्ततः गोरक्षसिद्धान्त में मान्य था ही।

पिण्ड में ब्रह्माण्डव्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनीरूप में स्थित है जिसका उद्बोधन हठयोग का प्रधान लक्ष्य है।

हठयोग पिण्ड पर आधारित है और पिण्ड केवल परासंविद्रूपा आदि-शक्ति का निवास है। चन्द्रमा और चन्द्रिका में जिस प्रकार का अन्तर है वही शिव-शक्ति का सम्बन्ध है। दोनों अभिन्न[2] हैं।

गोरखनाथ के रचित हिन्दी-ग्रन्थों की विस्तृत तालिका पर श्री रांगेय राघव ने विचार किया है।[3] गोरखनाथ ने कुण्डलिनी का देवीरूप में भी आवाहन किया है।[4] इसी को नगर-काया में मार्ग अवरुद्ध कर खड़ी रहनेवाली सुन्दरी भी

---

१. द्रष्टव्य : ह० प्रसाद द्विवेदी : नाथसम्प्रदाय, पृ० ११२-१३।

२. म० म० पं० गो० ना० कविराज सम्पादित : सिद्धसिद्धान्तसंग्रह : काशी, १९२५।
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
नानाशक्तिस्वरूपे सर्वपिण्डाश्रयत्वतः।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥
—सि० सि० सं०, ४-३७-३८ (उद्धृत), नाथसम्प्रदाय, पृ० १८१।

३. द्रष्टव्य : रां० रा० : गोरखनाथ और उनका युग, दिल्ली, १९६३।

४. आओ देवी बैसो। द्वादिस अंगुल पैसो।
पैसत-पैसत होइ सुष। तब जनम-मरन का जाइ दुष ॥ ५३-१५५।
पृ० १६३, रा० सा० : हिन्दी काव्यधारा, प्रयाग, १९४५।

कहकर सम्बोधित किया है।[1] वही शक्ति प्रधान शक्ति है जिसे गोरख ने ज्वाला तथा डोम्बीपा ने 'गंगा-यमुना माँझे बहइ नाइ' कहा। वही कुण्डलिनी देवी है, घरनी है, शक्ति है तथा डोम्बी है। द्रष्टव्य है कि इन नामों का प्रयोग रूपकों के रूप में हुआ है।[2]

### उपसंहार :

नाथपंथियों का यह प्रभाव परवर्ती काल के कवियों में, विशेषतः कबीर में मुखर हुआ। इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन नाथपंथियों की भाव-भूमि बड़ी ही विस्तृत थी और लोकमानस पर इनका गहरा प्रभाव था जो आगे आनेवाले धार्मिक आन्दोलनों में किसी-न-किसी अंश में अपनाया गया।[3] शाक्तभावना का दार्शनिक रूप ही इनके साहित्य में प्रतीकों के माध्यम से मुखर हुआ। इसमें भक्ति के लिए अवकाश नहीं था। तंत्र-मंत्र, चमत्कार, सिद्धि आदि से जनसमाज पर नाथों का आतंककारी प्रभाव था। पर यह पंथ अधिक दिनों तक नहीं टिक सका और क्रमशः बौद्धधर्म के समान इसकी भी परिणति हुई। फिर भी समाज में नाथों का प्रभाव बना था। यद्यपि ये भक्ति के आवेग को नहीं सम्हाल सके किन्तु इनके प्रभाव की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख हमें तुलसीदास के 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' से ही ज्ञात हो जाता है।

## उत्तरांचल के कवियों में शक्तितत्त्व
## विद्यापति

तीसरे अध्याय में संस्कृत की शृंगारिक रचनाओं की प्रभावशाली परम्परा का उल्लेख किया गया है। यह शृंगारभावना समाज में अपना प्रभाव डाल चुकी थी जो कालक्रम से साहित्य एवं सम्प्रदाय में भी मुखर होती रही। पुनः भक्ति की प्रेममूला भावना से उत्तरांचल को परिचय प्राप्त हो चुका था।

इसी समय संस्कृत एवं प्राकृत की वैष्णवकविता के उपरान्त देशज भाषा में राधा-कृष्ण का आलम्बन लेकर प्रेमसम्बन्धी वैष्णवकविता के सर्वप्रथम दर्शन हमें विद्यापति में होते हैं। विद्यापति एक विदग्ध रसिक कवि थे। उनका वास्तविक धर्म क्या था, यह जानने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं और उनके वैष्णव होने में सन्देह के पर्याप्त कारण हैं। हम देखते हैं कि शक्तिशास्त्र का भी उन्हें पर्याप्त

१. रां० रा० : गोरख और उनका युग, पृ० १७४।
२. वही, पृ० २१२।
३. प० च० : उ० भा० स० प०, पृ० ६६।



ज्ञान था। पुनः सखी-शिता के पदों से उनके रतिरहस्य के प्रगाढ ज्ञान का पता चलता है।

विद्यापति की शिवभक्ति के पदों की तो बात ही क्या, जबकि उनके शिव के साथ सम्बन्धों की भी लोकप्रसिद्धि है। कुल मिलाकर विद्यापति में शिव, दुर्गा एवं राधा-कृष्ण-सम्बन्धी भावना का स्वर एक ही स्तर पर दिखलाई देता है।[1]

जिस समय रामानन्द रामभक्ति की पताका ऊँची करने में प्रयत्नशील थे तथा मथुरा एवं बंगाल के कृष्णभक्त अपने अवतारी पुरुष कृष्ण के शृंगार एवं प्रेम के चिन्तन में लगे थे और शक्ति के पूजक देवी तथा शिव की भक्ति में लीन थे उसी समय बिहार के उत्तरांचल में विद्यापति 'नन्दन वन में भेटल महेश' कहकर शैवों के महादेव को, 'जय जय भैरवी असुर भयाउनि' कहकर शक्ति को तथा 'भनई विद्यापति सुन वरजौवति बन्दह नन्दकिशोरा' कहकर कृष्ण को स्मरण करने में लगे थे।

### अनोखा सम्मिलन :

विद्यापति में यह सम्मिलन कुछ अनोखा-सा लगता है। राधा-कृष्ण, शिव और देवी में किसी एक को ही स्वीकार कर औरों का त्याग करने में वे असमर्थ थे। कवि की दृष्टि से वे न वैष्णव थे, न शैव और न शाक्त। वे धर्मप्रचारक या मत-प्रतिपादक न होकर मात्र युगधर्मानुसारी कवि थे जिनका उद्देश्य ही लोकरंजन था।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्टतः उन्हें शिवभक्त माना है। उनमें आध्यात्मिकता का आरोप करनेवालों पर आपने व्यंग्य किया है तथा उन्हें कृष्णभक्तों की परम्परा से अलग रखने की चेष्टा की है।[3]

किन्तु, हम देखते हैं कि विद्यापति से पहले ही जयदेव ने एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। यद्यपि जयदेव तक आते-आते शृंगारभावना में राधा-कृष्ण की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी फिर भी पूर्वपरम्पराओं पर विचार करने पर हम देखते हैं कि अनुमानतः छठी शताब्दी के अन्दर ही राधा-कृष्ण का उपाख्यान प्रेमगीत और तुक-बन्दियों के रूप में आभीरजाति की छोटी परिधि का अतिक्रमण करके विशाल भारत के भिन्न-भिन्न अंचलों में फैल गया। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक का काल ही ऐसा है कि इसमें लक्ष्मी-नारायण, हर-गौरी एवं राधा-कृष्ण को लेकर शृंगार—

१. द्रष्टव्य : श० भू० दा० गु० : श्रीराधा, पृ० २७६-७७।
२. द्रष्टव्य : रा० शर्मा : भारतीय ईश्वरवाद, पृ० ५८।
३. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५४।

रसात्मक कविताएँ लिखी गयीं। किन्तु इसमें प्रधानता राधा-कृष्ण को ही मिली क्योंकि राधा-कृष्ण का पशुचारण वाला जीवन प्रेम की कविता के लिए अधिक उपयोगी था और उसमें लीला की विचित्रता भी थी।[1] साहित्यिक दृष्टि से हम विद्यापति की राधा-कृष्ण-विषयक प्रेमकविता को साधारण प्रेमकविता की धारा के रूप में ही ग्रहण करें तो अच्छा होगा। यह प्राकृत प्रेम ही अलौकिक प्रेम के स्तर पर उठ गया। जयदेव में प्रेम के दोनों स्तरों की स्पष्ट झाँकी—'हरिस्मरणे सरसं मनः' तथा 'विलासकलासु कुतूहलम्' में—दिखलाई देती है। विद्यापति ने जयदेव की परम्परा में ही संगीत, भक्ति एवं शृंगाररस का निर्वाह किया।[2]

भक्ति भी लोकतत्त्व ही है। इसका विकास लोकतत्त्वों से समन्वित होकर ही हुआ है। सगुणत्त्व के साथ युक्त होकर इसने लौकिक नायकों का आधार लिया।[3] इस प्रकार कृष्ण की भक्ति भी लोकमानस से उठकर शृंगारभावना का आधार लेकर ही प्रतिफलित हुई।[4]

## देवी के विविध रूप :

शक्तिवाद तथा शैवमत का उत्तरांचल में प्रभाव था ही। फलतः विद्यापति के काव्य में शक्तितत्त्व के अनेक रूप प्राप्त होते हैं—१. स्वतंत्र - दुर्गा या गंगा के रूप में, २. देवी राधा के रूप में। दूसरे रूप के वर्णन में संयोग एवं वियोग के दोनों पक्षों के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने शक्ति का उल्लेख महिषासुरमर्दिनी दैत्यविनाशिनी कराली काली महादेवी के रूप में किया है। यहाँ उनकी भक्ति-भावना मातृदेवी के कराली-रूप की स्तुति में परिलक्षित होती है। "वह काली शव के आसन पर विराजमान चन्द्रकिरीट धारण किये हैं। वह पशुपति (महादेव) की पत्नी हैं। वह भैरवीरूपा हैं। उनका श्यामल वर्ण है तथा रक्तिम नयन हैं। अधरों से रक्त का फेन बुदबुदा रहा है। घनरव में घुंघरू बज रहे हैं तथा खड्ग हन-हन कर रहा है।"[5]

१. श० भू० दा० गु० : श्रीराधा का क्रमविकास, पृ० १३७-३८।
२. द्रष्टव्य : ह० प्र० द्विवेदी : हि० सा० भू०, पृ० १२०-१२१।
३. डा० सत्येन्द्र : म० यु० क० सा० लो० ता० अ०, पृ० ३९७।
४. जयदेव का 'गीतगोविन्द' इसी प्रकार मात्रिक छन्दों के पद में लिखा गया। पंडितों का अनुमान है कि लोकभाषा में इस प्रकार का गान लिखे और गाये जाते रहे होंगे। जयदेव ने उन्हीं के अनुकरण पर ये गान लिखे।
—ह० प्र० द्विवेदी : हि० सा० का आदिकाल, पटना, १९६१, पृ० ११६।
५. वि० पदावली, पदसंख्या ७७२; मित्र, मजुमदार; पटना, १९५३।



विचारणीय है कि काली के वर्णन में विद्यापति ने पुराणों में वर्णित काली के स्वरूप का वर्णन किया है और यहाँ दार्शनिक स्वरूप भी साथ ही वर्णित हो गया है।

काली का शव के आसन पर विराजमान रहना—दर्शन का प्रसिद्ध प्रतीक है। शव स्वयं शिव हैं और काली उनकी शक्ति हैं जो कामकला के रूप में सृष्टि का उन्मेष करने के लिए आतुरा हैं।

देवी सुमेरुपर्वतवासिनी चन्द्रज्योत्स्ना-सी चारुहासिनी हैं। उनके दशनों के अग्रभाग का अन्तिम विकास चन्द्रकला के समान है। उनके नयनों में सूर्य, अग्नि एवं चन्द्र का वास है। वह शुंभ-निशुंभ का वध करनेवाली हैं। वह गगन-मण्डल में गर्भगाहिनी हैं तथा समरभूमि में अनेक आयुधों से युक्त अष्टभैरवियों के साथ सिंहासना हैं। वही संसार की उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय रूपा हैं तथा सहस्र कार्यों की कारणस्वरूपा हैं।[1]

इस पद में भी विद्यापति ने शाक्तदर्शन के प्रसिद्ध प्रतीक का वर्णन किया है जिसे सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि कहा जाता है।

महात्रिपुरसुन्दरी, जिन्हें कामकला कहा जाता है, वही यहाँ वर्णित हैं। त्रिपुर तीन विन्दुओं का प्रतीक है। यही सूर्य, सोम एवं अग्नि हैं तथा यही त्रिकोण हैं।[2]

भगवती शक्ति अपने भीमा-रूप में भवानी का रूप धारण किये हुई हैं। वे चारों वेदों के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। त्रिदेव (हरि, हर, ब्रह्मा) उनका तत्त्व पूछते चलते हैं किन्तु कोई भी उनका मर्म नहीं जानता।[3]

## त्रिपुरसुन्दरी :

किन्तु इस शक्ति का एकमात्र भयंकर रूप ही नहीं है। वह पुराणोक्त असुर-विनाशिनी ही नहीं, अज्ञेया ही नहीं, वह विश्वविमोहिनी हैं। यहाँ वह त्रिपुर-सुन्दरी के रूप में वर्णित हैं। दाडिम के पुष्प के समान (रक्तिमाभा) रवि के उदय-सी कान्ति धारण करनेवाली, हाथों में अनेक आयुधों को धारण किये वह अनुपमेया हैं। रति भी उनकी सुन्दरता की समता नहीं कर पातीं। वह तैंतीस कोटि देवों से

१. वि० पदावली : पदसंख्या १०; मित्र, मजुमदार; पटना; १९५३।
२. द्रष्टव्य : Sir John Woodroffe : The Garland of Letters, p. 235.
३. वि० पदावली : पदसंख्या ११; मित्र, मजुमदार; पटना; १९५३।

पूजिता हैं।[1] वह शक्ति-काली-रूपा अनेक नामों से ज्ञेय हैं। काली-रूप में कृष्णवर्णा हैं तथा सरस्वती के रूप में उज्ज्वलवर्णा हैं। सूर्यमण्डल में प्रचण्डा हैं तथा जलरूप में वही गंगा हैं। वही ब्रह्मा के घर में ब्रह्माणी, शिवगृह में गौरी तथा नारायण के गृह में कमला हैं। उनकी उत्पत्ति कोई नहीं बता सकता।[2] विद्यापति ने स्वतन्त्ररूप में शक्ति की चर्चा इससे अधिक नहीं की है। वही शक्ति गंगा-रूप में भी वर्णित हैं। वह लौकिक गंगा हैं किन्तु मातृशक्ति हैं। यह मातृशक्ति भारतीय जनमानस को अनन्तकाल से पवित्र कर रही है और विद्यापति भी उस गंगा की स्तुति करते हैं जो शिव की जटा से प्रवहमाना हैं। शिव के साथ सम्बन्धित होने के कारण गंगा जगतारिणी हो गयी हैं।[3]

## शिव-शक्ति-मिलन :

पुनः शक्ति का शिव के साथ अभिन्नभावसम्बन्ध है। वह शिव की अर्द्धांगिनी हैं। विवाह के पद के माध्यम से विद्यापति शिव-शक्ति का मिलन कराते हैं।[4] किन्तु इस शिव-शक्ति के मिलन में किसी साधनात्मक प्रक्रिया का वर्णन नहीं मिलता। विद्यापति ने शक्ति के पुराणाख्यात स्वरूप को ही गौरी के रूप में स्वीकार किया है।

हर-गौरी-विवाह की कथा शिव-शक्ति-संयोग का ही लौकिक परिणाम है। चूँकि विद्यापति लोकजीवन के गायक थे इसीलिए उन्होंने शक्ति के गौरी-रूप को पारिवारिक परिवेश में प्रदर्शित किया है।

सर्वप्रथम गौरी का वह स्वरूप है जिसमें उनका विवाह होने जा रहा है। शिव की भयंकर बारात तथा अशिव वेश को देखकर सभी को चिन्ता हो जाती है कि ऐसे बूढ़े तथा औघड़ पति के साथ गौरी का निर्वाह कैसे होगा। शिव के त्रिनेत्र को देखकर गौरी संभ्रम से निहारती रहेगी। हिमगिरि-कन्या अग्नि कैसे सहन करेगी? शिव के त्रिनेत्र की ज्वाला से गौरी का मुकुट झुलस जायगा। वर की हालत भी विचित्र ही है। इसे चढ़ने के लिए घोड़ा नहीं मिला क्या? विवाह के दिन तो कम-से-कम चन्दन लगाना चाहिए था पर यह भस्म रमाये है। साँड़ पर सवार, व्याघ्रचर्म बिछाकर साँप के फीते से कस दिया है। ऐसे वर को देखकर लोगों को हँसी लगती है (६०७)। पुनः इसका तो परिवार भी नहीं है। भूत,

१. वि० पदावली : पदसंख्या ५९८; मित्र, मजुमदार; पटना; १९५३।
२. विद्यापति : मित्र एवं मजुमदार; पटना, १९५३, पदसंख्या १।
३. वही, पदसंख्या २२८, ६८० एवं ६८१।
४. वही, ,, ७८६।



प्रेत, बैताल ही इसका परिवार है। भला, ऐसा जमाई कौन रखेगा (६०६)। किन्तु फिर भी विवाह हो जाता है। 'सरद सँपुन जनि ससधर उगल समय साँझ' के समान गौरी शिव के साथ विवाह-मण्डप में पदार्पण करती हैं। समस्त देवतागण उपस्थित हैं। हिमवान् का शरीर पुलक से पूर्ण हो जाता है।[1]

कुछ विघ्न भी उपस्थित हो जाता है। यहाँ कवि ने विनोद के साथ शिव का वर्णन किया है; यथा—सिरस्थित गंगाजल से नृत्यभूमि सिंचित हो गयी जिसपर फिसलकर वार-वार शिव गिरने लगे।[2]

गौरी का विवाह तो हो ही गया और वे शिव के अशिव वेश पर चुटकी लेती दिखायी देती हैं—'जगत भिखारी हमर मिलल सामी'। गौरी के स्वामी के वस्त्र ही दिशाएँ हैं तथा भूषण के नाम पर विषधरों को धारण करनेवाला है।[3]

पार्वती को अनेकानेक उपालंभ हैं। इस जटाधारी के साथ निर्वाह होना कठिन है। पार्वती ने शिव की अर्द्धांगिनी बनकर आधा अंग धारण किया है पर अपने कलंक पर विचार नहीं किया। शिव प्रबोधते हैं कि गंगा को देखकर ईर्ष्या न करो। सर्प भी चरणों में प्रणत हो गया है तथा चन्द्रमा पार्वती के आगमन की प्रसन्नता में खिलखिलाकर हँस रहा है।[4]

यद्यपि शिव ने मदनदहन कर दिया है फिर भी उनके ही त्रिनेत्र के दर्शन से गौरी को मदन सन्तापित करने लगता है।[5]

किन्तु ऐसे पति का भरोसा पार्वती कितने दिन करती। घर में न बरतन है, न बासन। परमनिर्धन हैं और दान भी थोड़ा नहीं करते। पुनः पार्वती को, शिव को भस्म लगाते देख, बाघम्बर पहनते देख, लज्जा भी होती है।[6] उदरपूर्ति के लिए कोई युक्ति करनी ही पड़ेगी। पार्वती की चिन्ता है कि शिव मन लगाकर खेती नहीं करते। वे उपालम्भ-भरे स्वरों में अपने पति की नादानी पर कुपित होती हैं। सब लोग शिव को निर्धन कहते हैं। विष्णु के हिस्से चम्पा का फूल पड़ा और शिव को मात्र अर्क और धतूरा मिला। खट्वांग काटकर हल, त्रिशूल का

१. वि० पदावली : मित्र, मजुमदार; पदसंख्या ७८८; पटना १९५३।
२. वही, पद-संख्या ७८९।
३. वही, ,, ६००।
४. वही, ,, ६०२।
५. वही, ,, ७९०।
६. वही, ,, ७९५।

फाल तथा अपने वृषभ को लेकर खेती क्यों नहीं करते ? खेत का सिंचन करने के लिए गंगा की धारा तो उपलब्ध है ही।[1]

शिव ने घरनी की बात मान ली पर परिणाम कुछ अच्छा नहीं हुआ। वह तो भाग्य से चोट नहीं लगी पर डमरू टूट गया, बैल भाग गया और सब गड़बड़ हो गया।[2]

गौरी का अनुरोध भी विचित्र-विचित्र होता है। शिव नटराज हैं। पार्वती अपने स्वामी का नृत्य देखना चाहती हैं। शिव पशोपेश में पड़ जाते हैं। उन्हें अमृत की चिन्ता है, कहीं वह चूकर गिर न जाये। अमृत के गिरने से बाघम्बर जी उठेगा। बाघ जीवित होने पर बैल को खा जायगा। नाचने से दसों दिशाओं में सर्प उड़ जायेंगे। कार्तिक ने मयूर पोसा है। वह साँप को छोड़ेगा ही नहीं। गंगा जटा से पिघलकर सहस्रमुखी होकर गिरने लगेगी। मुण्डमाल छितरा जायेंगे तथा मुर्दे जीवित हो जायेंगे। भय से पार्वती उस दृश्य को नहीं देख सकने के कारण भाग जायेंगी। फिर नाच कौन देखेगा ? इस प्रकार चतुर युक्ति से महादेव नाचने से बच जाते हैं।[3]

शिव के रूठने पर गौरी की परेशानी बढ़ जाती है और वे पथिकों से पूछकर महादेव का सन्धान करती हैं।[4] कभी शिव की निष्क्रियता पर परेशानी व्यक्त करती हैं, क्योंकि शिव कार्तिकेय के विवाह के लिए प्रयत्नशील नहीं होते।[5]

## दाम्पत्यभाव :

इस प्रकार पार्वती के रूप में हम विद्यापति में दाम्पत्यभाव की योजना पाते हैं। शक्तितत्त्व यहाँ शुद्धरूप में स्वतन्त्र न रहकर शिव की गृहिणी के रूप में अवशिष्ट रह गया है। इस पारिवारिक योजना में शक्ति सामान्य नारी की तरह पति के लिए चिन्तित तथा व्याकुल तथा समस्त गृहप्रपंचों में लीन दिखलाई देती हैं। शक्ति का निजसामर्थ्य शिव के समक्ष गौण ही नहीं, पूर्णरूपेण उनमें अन्तर्लीन हो जाता है। शक्ति का सामर्थ्य शिव में समाहित है। जहाँ एक ओर शक्ति का वर्णन विद्यापति दुर्गा एवं काली के भयंकर रूप में करते हैं वहीं दूसरी ओर वे दाम्पत्य या परिवार के घेरे में सौम्या शक्ति के भी दर्शन कराते हैं।

१. वि० पदावली : मित्र, मजुमदार; पदसंख्या ७९७।
२. वही ,, ८००।
३. वही ,, ८०२।
४. वही ,, ७९१, ६०४।
५. वही ,, ८०१।
६. वही ,, ६०९।



शाक्तधर्म में शक्ति का लीलामयी होना, क्रीडारता होना सर्वत्र प्रतिष्ठित है। यह क्रीडा विश्व को उत्पन्न करने के लिए होती है। इसलिए शक्ति 'अनन्त-क्रीडा-रता' हैं।

हर-गौरी के प्रसंग में विद्यापति ने इस भाव को नहीं व्यक्त किया। इसकी पूर्ति उन्होंने राधा-कृष्ण के पदों में कर डाली है। हर-गौरी के संयोग-सम्बन्धी पदों का विद्यापति में अभाव ही है। इस प्रकार शैवपरम्परा में भक्त के रूप में विद्यापति सबसे ज्यादा मुखर हैं। शक्तिभावना को उन्होंने काली, त्रिपुरसुन्दरी तथा सौम्या के त्रिविध रूपों में स्वीकार किया है।

अन्त में विद्यापति का एक पद 'कोन बन बसथि महेश' निम्नांकित कारणों से विशेष उल्लेखनीय हो जाता है। विद्यापति को शाक्तसाधना के तत्त्वों का अच्छा ज्ञान था और जब महेश के लिए वे

'जाहि वन सिकिओ ने डोल
ताहि वन पिया हँसि डोल'[1]

का प्रयोग करते हैं तो वे स्पष्टतः उस सहस्रार के क्षेत्र की ओर संकेत करते दिखाई देते हैं जिसे साधकों ने 'कैलाश' संज्ञा दी है। यही काली का महाश्मशान भी है और कबीर का शून्यमहल भी।

## राधा-कृष्ण :

राधा-कृष्ण-सम्बन्धी पदों पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि क्रीडारता लीलामयी शक्ति का विशद व्यापार कामकला के माध्यम से वर्णित हुआ है।[2] दूती का जिस विस्तार से व्यापार दिखलाई देता है वह गुरु के समान ही है जिसकी सहायता से शक्ति का शिव के साथ संयोग होता है।

यद्यपि विद्यापति की राधा शाक्तों की कुण्डलिनी-शक्ति नहीं, न कृष्ण ही परमशिव हैं, फिर भी अनन्त कामलीला के आख्यानों के आधार पर हम यह मानने को विवश हो जाते हैं कि श्रृंगार की परम्परा—जिसमें शिव-शक्ति की अनन्त क्रीडा की भावना ही लोकाधार पर प्रतिष्ठित हो चली थी—एक दीर्घपरम्परा के रूप में अत्यधिक स्थूलरूप धारण कर विद्यापति में अवतरित हुई। स्त्री-पुरुष की समस्त वासनाजनित प्रेमक्रीडा को लौकिक धरातल पर दिखलाते हुए भी विद्यापति में प्रेम की साधना विषयातीत ही है।

१. वि० पदावली : मित्र-मजुमदार, पदसंख्या ६०९।
२. वही, ,, ४५।

राधा-माधव का नवनव विहार (प०सं० ४८०) शृंगारकेलि के रूप में अनेक पदों में वर्णित होता है जिसके विषय में स्थूल ऐन्द्रिकता का आधार रहते हुए भी अभिनव भाव की प्रतिष्ठा की गयी है (प०सं० ४७८)। राधा तथा अन्य गोपिकाओं को कृष्णप्रेम में बावरी दिखाया गया है। कृष्ण साधारण मानव के रूप में हैं पर वे परमपुरुष हैं। राधा भी नागरी हैं, पर वह नारी-शक्ति के रूप में वर्णित हैं।[1] प्रसंगवश यहाँ निवेदित करना आवश्यक है कि यह शृंगार जयदेव की परम्परा में सटीक बैठता है। इसे किसी भी प्रकार वैष्णवधारा के साथ संयुक्त कर देखने में भूल होगी, क्योंकि उत्तरांचल में भक्ति की लहर १५वीं शताब्दी के आसपास आयी। पंडितों का अनुमान है कि जयदेव के पद लोकभाषा की परम्परा की उपज हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में ही श्रीकृष्णलीला के गाने की प्रथा चल पड़ी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं।[2] और, यही शृंगार वैष्णवसाहित्य में भी अपना रूपविस्तार करने में सफल हुआ।

### शक्तिरूपा राधा :

विद्यापति ने राधा के रूप का वर्णन बड़ी अलौकिकता के साथ किया है। राधा समस्त पृथ्वी के लावण्य की साररूपा हैं। लक्ष्मी उनके चरणों पर न्यौछावर होती रहती हैं। कामदेव भी इस रूपछवि का आलोक नहीं सह सकने के कारण मूर्च्छित हो जाते हैं।[3]

यहाँ इस रूप में स्थूलवर्णन की प्रधानता है पर राधा लोकप्रचलित कथा की नारी होती हुई भी अपने शक्तितत्त्व का आभास लेकर अवतरित हुई हैं। राधा शिरीषपुष्प के समान कोमल हैं।[4] यमुना के किनारे संकीर्ण राह पर वह कृष्ण के दर्शन करती हैं। प्रथम दर्शन में ही चित्त वश में हो जाता है। नेत्र वश में नहीं और राधा चरणों पर दृष्टि लगाये हुई हैं, पर जैसे ये नेत्र उड़-उड़कर मुखकमल के सौन्दर्यरस का पान करने को आतुर हो उठते हैं।[5]

---

१. प० सं०, ४५।
२. ह० प्र० द्विवेदी : हि० सा० मा० का०, पृ० ११६।
प्राकृत एवं अपभ्रंश में बहुत प्राचीनकाल से ही गोपियों के साथ गोपाल के प्रेम की चर्चा है।—ह० प्र० द्वि० : हि० सा० भू०, पृ० १२०।
३. देखि देख राधा रूप अपार
अपरुब के विधि आन मिलाओल क्षिति तक लावणिसार ॥ इत्यादि ॥ २ ॥
—पदावली, बेनीपुरी।
४. मजुमदार, पदसंख्या २९२।
५. वही, ,, ३३-३४।



कृष्ण का स्वरूप भी अनोखा है। नीले रंग का शरीर है और उन्होंने पीला वस्त्र धारण कर रखा है। श्वेत चन्दन का तिलक ललाट पर शोभित हो रहा है। ऐसा लगता है कि मानो श्यामल मेघ विद्युत् से मण्डित हो और उसपर शशिकला उदित हो गयी हो।[1] कृष्ण कदम्ब के वृक्ष के नीचे मुरली बजा रहे हैं। मुरली की ध्वनि से वे अपनी प्रिया का आह्वान कर रहे हैं। ये वन्दनीय कृष्ण राधा के लिए प्रतिक्षण व्याकुल हैं।[2]

सरस वसन्तकाल में राधा भी अभिलाषा से भरी हैं। वह नवानुरागिनी हैं और किसी प्रकार की बाधा से वह रुकनेवाली नहीं हैं।[3]

राधा-माधव का मिलन होता है। सुरभिपूर्ण निकुंज ही विवाह की वेदी बन गया। दोनों के मन का मिलन ही मानों ग्रन्थिबन्धन था। कामदेव ने मानो कन्यासम्प्रदान किया। अधर-मधु के द्वारा मधुपर्क की रीति सम्पन्न हो गयी। करधारण से ही पाणिग्रहण हो गया। नयनों ने वन्दनवार का काम किया। हाथों के पल्लव बने। कुचयुग ही मानो इस विवाह के कलश थे। राधा-माधव की यह रसमय प्रीति अलौकिक भावों से भरी है।[4]

इसमें अद्भुत समर्पण है। यही अनन्त क्रीडा है। यही लीलामयी की लीला है। यही चिरन्तन शक्ति है जो अपने विलास से सृष्टि को उत्पन्न कर रही है। यह मिलनसुख अनुपम है। इसके अनुभवों को शब्दों से वर्णित नहीं किया जा सकता। इस प्रीति एवं अनुराग में क्षण-क्षण में नवीनता का वास है। जन्म-जन्म इस रूप को निहारने पर भी तृप्ति नहीं होती। अनन्तकाल या लाखों युगों से हृदय के बीच इस मूर्ति को धारण किये रहने पर भी हृदय नहीं जुड़ा पाता।[5]

यह प्रेम अलौकिक है, इसी हेतु इसे काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। यह रूप भी अलौकिक है इसी से इसमें तृप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं। इसी कारण राधा का समस्त शरीर प्रीतिमय है।[6]

---

१. मजुमदार, पदसं० ३५।
२. वही, ,, २५८।
३. वही, ,, ६४२।
४. वही, ,, ३०१।
५. वही, ,, ७६८।
६. वही, ,, १८१—केवल देह नेह अछुलओले।

विद्यापति राधा-माधव के मिलन के वर्णन में विभोर पाये जाते हैं क्योंकि राधा-माधव का मिलन सामान्य धरातल पर नहीं होता। इसकी भावभूमि अपूर्व है। दोनों के सम्मिलन का आनन्द कवि को विभोर कर देता है।[1]

यह रस अलौकिकत्व से भरा है जो संसार का सार है तथा नित्यनूतन है। यही रसराज है जिसे 'शृंगार' संज्ञा से अभिहित किया जाता है[2] तथा यही शाक्तों की कामकला है। राधा कृष्ण की अर्द्धांश हैं। यह अर्द्धांश अपने पूर्णत्व के लिए निरन्तर समुत्सुक है। कभी शुक्लाभिसारिका, कभी कृष्णाभिसारिका के रूप में यह अपने आराध्य में लीन होने के लिए निरन्तर चेष्टाशील हैं। इन प्रसंगों में शक्तिव्यापार के सुन्दर काव्यमय उद्योतन को देखकर विद्यापति की भावप्रवणता की सराहना करनी पड़ती है।

## शृंगार और शक्तितत्त्व :

राधा या नागरी के जिस रूपसौन्दर्य का विद्यापति-साहित्य में वर्णन मिलता है उसमें कुछ शंकाएं स्वाभाविक हैं। विद्वानों का एक वर्ग विद्यापति में स्थूल-शृंगारभावना के अतिरिक्त अन्य कुछ मानने को तैयार ही नहीं है। जीवन के उत्तरार्द्ध में रचित कतिपय परितापपूर्व पदों के आधार पर इन्हें 'घोर वासनापंक में डूबा कवि' संज्ञा देने की चेष्टा की गयी है तथा राधा-कृष्ण का नामोल्लेख भक्ति-रस की चरमपराकाष्ठा पर पहुँचे हुए जीव-ब्रह्म की शृंगारिक एकता का उपक्रम नहीं माना गया है।[3]

यहाँ हमें शाक्तप्रभाव को कदापि भूलना न चाहिए। तंत्रमार्ग के व्यापक प्रभाव से जब जनसमाज ही नहीं बचा रह सका और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की रचनाओं में ऐहिकतापरक शृंगार का वर्णन जब खुल-खेलकर हुआ तो विद्यापति इस प्रभाव से कैसे बचे रह सकते थे ?

---

१. मजुमदार, पदसंख्या ६६८।

२. (क) वही, ,, २८२।
   (ख) विचारणीय है कि इस शृंगारिकता का धरातल क्या शुद्ध विषयभूमि पर है ? दार्शनिक भाषा में जो ब्रह्मानन्द है उसके लिए प्रायः विषयानन्दसहोदर और विषयानन्द के माध्यम से उस ब्रह्मसुख की अनुभूति का ज्ञान प्राप्त कराने की चेष्टा देखी जाती है। विद्यापति के आराध्य राधा-कृष्ण लौकिक नहीं। उनकी क्रीडा भी इसी प्रकार लौकिकता का आभास देती हुई अलौकिकता की भूमि का स्पर्श करती है।

३. डा० उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर : इलाहाबाद, १९३७, पृ० ३८-३९।



पुनः विद्यापति की शिव-शक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में अर्द्धनारीश्वर-सम्बन्धी एक पद शिव-शक्ति के अभिन्नाभाव का महत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है।[1]

शक्ति का स्वरूप विद्यापति के पदों में इतना व्यापक है कि वही शक्ति नारायण के गृह में कमला, ब्रह्मा के घर में ब्रह्माणी इत्यादि रूपों में एक ही शक्ति के रूप में स्वीकृत हैं।[2]

राधा-कृष्ण की गाथा यद्यपि लोकस्तर में प्रचार पाकर साहित्य एवं धर्म में अवतरित हुई फिर भी उसने शिव-शक्ति के अभिन्नाभाव को अपने में समेट लिया और यही कारण है कि प्रायः सभी देवता अपनी शक्तियों से संयुक्त हो स्वीकृत किये गये। शाक्तोपासना में नारी देवी के पर्यायरूप में स्वीकृत है। क्रीडारता शक्ति शाक्तों की उपास्या हैं जिनका दार्शनिक स्वरूप कामकला है (द्रष्टव्य दर्शन-खण्ड)। यह शक्ति विद्यापति की दृष्टि में भी बहुशोभमाना हैं पर उनकी अन्तस्-प्रकृति तत्त्वतः एक ही है।[3] वही राधा-रूप में अपनी लीला का क्रीडामय विस्तार करती हैं। डा० शशिभूषण दासगुप्त के शब्दों में, कालिदास से लेकर मैथिलकवि विद्यापति तक हर-गौरी की शृंगारलीला ने भारतीय साहित्य की रससम्पदा में कुछ कम सामग्री नहीं दी है। जयदेव के सम-काल में भी हर-गौरी को लेकर बहुतेरे शृंगाररसात्मक कविताएँ लिखी गयी हैं। लेकिन लगता है कि शृंगाररसात्मक कविता में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला के उपाख्यान की ही धीरे-धीरे प्रधानता होती गयी। बारहवीं शताब्दी में मधुररसात्मक कविता में राधा-कृष्ण की ही प्रधानता प्रतिष्ठित हुई।[4]

## सारांश :

अतः विद्यापति में शक्तितत्त्व राधा के प्रसंग में भी मुखर हुआ—ऐसा न मानने का कोई कारण नहीं दीखता। विद्यापति का शिव, विष्णु एवं चण्डी तीनों की स्तुति करना मिथिलांचल की एक विशेषता है और आज भी मिथिला में मैथिल

---

१. बेनीपुरी : पदावली : संख्या २३१।

२. वही, ,, २२९।

३. कजल रूप तुअ काली कहिए, उजल रूप तुअ बानी।
   रविमण्डल परचंडा कहिए, गंगा कहिए पानी॥
   ब्रह्मा पर ब्रह्माणी कहिए, हर पर कहिए गौरी।
   नारायण पर कमला कहिए, के जान उतपति तोरी॥
   —विद्यापति : डा० अ० मिश्र की पाण्डुलिपि से उद्धृत।

४. श० भू० दा० : श्रीराधा का क्रमविकास, पृ० १३८, कलकत्ता, १९५६।

ब्राह्मण एक साथ ही त्रिपुण्ड, ऊर्ध्वपुण्ड तथा शाक्त रक्तविन्दु ललाट पर चन्दन के रूप में धारण करते हैं। यह शक्तिवाद इस प्रकार किसी-न-किसी रूप में अपना प्रभाव सर्वत्र छोड़ता दृष्टिगत होता है।

## गोविन्ददास में शाक्ततत्त्व

मिथिलांचल के इन भक्तकवि का काव्य बहुत दिनों तक बंगला काव्य में परिगणित रहकर अब हिन्दी में चर्चित होने लगा है। इनका आविर्भाव सत्रहवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।[१] इनकी पदावली[२] में राधा-कृष्ण-विषयक पदों की भरमार है जिनपर वैष्णव-काव्यधारा का पूरा प्रभाव है। जयदेव, विद्यापति[३] और सूरदास का प्रभाव अनेक पदों में परिलक्षित होता है।

राधा-कृष्ण की लीला के विविध रूपों के वर्णन 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर रचित लगते हैं। रासलीला, मुरली-प्रभाव, कृष्ण-व्रजगमन के पश्चात् व्रज-बालाओं का वियोग इत्यादि अनेकानेक प्रसंग आये हैं। सर्वाधिक रूप से राधा-कृष्ण-प्रेम का प्रसंग बड़ी सूक्ष्मता के साथ, बड़े ही विस्तार से एक-एक चरण वर्द्धमान होता पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त होता है।

राधा नवल गोकुलकामिनी हैं जिनमें भुवनविमोहिनी शक्ति है।[४] वह 'जहँ-जहँ निकसय तनु-तनु जोति, तहँ-तहँ बिजुरी चमकय होति' (पदसं० ५६), कुंजरगामिनी, मोतिमदामिनी, अंगतरंगिनी, अधर सुरंगिनी, कुंचितकेशिनी, निरुपम-वेशिनी, रस-आवेशिनी, नव-अनुरागिनी, निखिलसोहागिनी, रासविहारिणी तथा हासविकासिनी (प०सं० ३७) हैं।

यह विश्वविमोहिनी शक्ति परमात्मा की अभिन्ना शक्ति हैं। जलधर में बिजुरी की तरंग के समान, मरकतमणि में कंचन के समान, पद्मिनी में मधुकर के समान, चन्द्रिका में लुब्ध चकोर के समान यह शक्ति विद्यमाना हैं।[५] यह कभी भी कृष्ण की दृष्टि की ओट नहीं होतीं।[६] तमाल में लिपटी कनकलता के समान

१. श्री मथुरा प्रसाद दीक्षित : गोविन्ददास-पदावली, पृ० ११।
२. श्री मथुरा प्रसाद दीक्षित : गोविन्द-गीतावली, दरभंगा, १९३२।
३. वही, पदसंख्या ४।
४. वही, ,, ८।
तपन-नन्दिनी तीर भल बनि भुवन मोहन लाविनी।
५. श्री म० प्र० दी० : गोविन्द-गीतावली; पदसंख्या ७।
नव जलधर अंग। इह थिर बिजुरि तरंग॥
ओ वर मरकत ठाम। इह कांचन दश बान॥ इत्यादि।
६. वही, पदसंख्या ९५।



यह शोभायमाना हैं। इसमें नारी अथवा पुरुष का भेद नहीं परिलक्षित हो पाता है।[१]

ये अर्द्धनारीश्वर के रूप में शोभायमाना हैं। आधा शरीर गौर है, आधा काला है; अर्द्धांग में पीताम्बर तथा दूसरे अंग में नीली साड़ी है; एक भुजा में वलय, दूसरे में नील चूड़ी है; आधे गले में गजमोती है, आधे में वनमाला है; आधे ललाट में चन्द्रमा है, आधे में सूर्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्र राहु से ग्रस्त हो गया हो।[२]

यह मिलन शक्ति का शक्तिमान् से मिलन है। इसमें कहीं भी स्थूल ऐन्द्रिकता नहीं, वासना का उद्दाम वेग नहीं, पार्थिव नर-नारी-लीला नहीं। इस मिलन में शुद्ध सात्त्विक भाव हैं। दोनों के चित्त पुतली के समान एकाकाररूप में स्थिर हो गये हैं। आनन्दाभाव में, अनिमिष परस्परदर्शन से सात्त्विक अश्रु का प्रवाह हो रहा है। दोनों एक-दूसरे में विभोर हैं। यह अनुपम भावलोक है जहाँ द्वैतभाव नहीं रह गया है।[३] इस लोकभूमि में अमिलन ही मिलन है तथा मिलन ही अमिलन है, दोनों का समानरूप है।[४] श्रृंगारमूर्त्ति तथा किरण का निकुंज में मिलन[५] राधालिंगित माधव का स्वरूप है। राधा ही नित्यनारी हैं तथा कृष्ण नित्यपुरुष हैं—यही प्राचीन 'शिवमद्वैतम्' है। यही प्राणेश्वर-प्राणेश्वरी है। ब्रह्मावस्था में भी यह युगल है। यही युगलतत्त्व नित्यतत्त्व है। शक्ति का विकास यहाँ न्यूनतम है। वह पूर्णरूपेण लीन हो गयी हैं।[६] राधा-कृष्ण का प्रेम अनेक मानवी लीलाओं का आधार ग्रहण कर अवतरित होता है। गोविन्ददास ने प्राकृत प्रेम की नित्यलीला से सामग्री लेकर अप्राकृत प्रेम की नित्यलीला को सँवारा है।

भाव और अभिव्यक्ति की भंगिमा अनेक रूपों में गोविन्ददास में मुखर है। राधा और कृष्ण निकुंज में असीम सखियों से परिवेष्ठित, द्यूतक्रीडा में निमग्न हैं।[७]

१. श्री म० प्र० दी० : गोविन्द-गीतावली, पद-संख्या १९३।
२. वही, ,, २०१।
आध-आध अंग मिलल राधा-कानू।
आध कपाले ससी आध भाले भानू॥ इत्यादि।
३. वही, ,, पदसंख्या २२६।
४. वही, ,, १०७।
५. वही, ,, १५३, १६४।
६. द्रष्टव्य : शशिभूषण दासगुप्त : श्रीराधा का क्रमविकास, पृ० २९६।
७ गोविन्द-गीतावली, पदसंख्या १३।

वसन्त में चोआ, चन्दन, परिमल, कुसुम से फाग के रंग में लीन हो जाते हैं।[1] राधा की दृष्टि शर के समान कृष्ण का सन्धान कर लेती है और कृष्ण परवश हो जाते हैं।[2]

कुंज में बैठकर बड़े मनोयोग से वे राधा का शृंगार करते हैं। कबरी-सज्जा, कुंकुममण्डन, सिन्दूर-रचना, चरणों में मंजीर, कंठ में हार पहनाना, नयनों में काजल तथा चिबुक पर मृगमदविन्दु की रचना कर चरणों में जावक लगाते हैं।[3] यह लीला अनन्त है। इसमें मानिनी राधा का कृष्ण अनुनय कर रहे हैं, उनके चरणों में लोट जाते हैं—'दुहुँ करे दुहुँ पद धरि रहु माधव'—और इस तरह राधा के मानभंजन की चेष्टा करते हैं।[4] कभी परिहास में योगी का रूप धारण कर राधा को प्रवंचित करने की चेष्टा करते हैं।[5]

कभी तो कृष्ण साक्षात् शिव के रूप में ही वर्णित हुए हैं जिनके दर्शनमात्र से कामदेव मनोरथ सहजभाव से भस्म हो जाता है[6] और वहीं राधा साक्षात् चण्डी के रूप में शोभायमान हो जाती हैं।[7] गोविन्ददास ने राधा-कृष्ण के प्रेम में विभोर होकर महादेव तथा चण्डी के स्वरूपों में भी अभिन्नता की स्थापना कर दी है।

तत्त्वतः गोविन्ददास की दृष्टि में शक्ति के विविध रूपों में कोई भेदभाव नहीं। यह भारतीय मानस में आसीन शक्तितत्त्व है जो यहाँ राधा के रूप में लीलाविलास करता दृष्टिगत होता है। यह राधा माधव की स्वरूपशक्ति हैं जो उनमें कभी अर्द्धांगिभाव से लीन हैं और कहीं तो पूर्णरूपेण लीन हैं।[8]

यह राधा अखण्डभाव से समग्र ब्रजमण्डल में परिव्याप्त हैं। खण्डभाव में यही विभिन्न गोपियों के रूप में विभासित हैं और ये सभी उसी शक्तिमान् की स्वरूपशक्तियाँ हैं। इन स्वरूपशक्तियों की सार्थकता भी शक्तिमान् (कृष्ण) से विविध भावमयी लीला में ही निहित है।

राधा में यह शक्ति विशुद्ध ह्लादिनी के रूप में है। इस ह्लादिनी का सार है प्रेम, प्रेम का सार है भाव, भाव का सार है महाभाव। अतः श्रीराधा

१. गोविन्द-गीतावली, पदसंख्या १५,१६,१७।
२. ,, ,, १२४।
३. ,, ,, २०६।
४. ,, ,, २४२।
५. ,, ,, ३०४।
६. ,, ,, ३०४।
७. ,, ,, ३०५।
८. वही; २३८—सुन्दरि अब तुहु चण्डि विभंग
जब महाशंकर तुअ निज किंकर
देयवि मोहे आध अंग।



महाभावस्वरूपा हैं। प्रेमसौन्दर्य में यह महाभावस्वरूपिणी राधा, तंत्रादि में वर्णित शक्ति के रूप और गुण से बहुत-कुछ अलग हो गयी हैं। प्रेम में राधा इस तरह रूपान्तरित हो गयी हैं कि तत्त्वालोचन न करने से राधा को शक्तितत्त्व के रूप में पहचानना कठिन हो जा सकता है।[1]

वैष्णवकाव्य में शक्ति का अन्वेषण करने के क्रम में हम यह पायेंगे कि शक्ति पहले प्रेमोन्मुखी होकर अन्त में प्रेममात्रता के रूप में परिणत हो जाती है। उसके प्रेममूला रूप की अभिवृद्धि के साथ-साथ स्वरूपलीला की स्फूर्ति एवं लीलावाद की प्रतिष्ठा बढ़ती चली जाती है। तंत्रों में जहाँ शक्ति के सौन्दर्य एवं माधुर्य का कथन हुआ है वहाँ उसमें अनन्त बल एवं क्रियात्मकता की भावना विद्यमान् रही है और यह तत्त्व विशेषतः प्रधान रहा भी है।

पर गोविन्ददास में राधा के शक्तिमय रूप को पहचानने में कठिनाई हो जाती है। किन्तु भारतीय शक्तिवाद का महत्त्वपूर्ण तथ्य, कि शक्ति के विना शिव की शवात्मक स्थिति हो जाती है, गोविन्ददास की राधा में भी परिलक्षित होता है। राधा के द्वार पर ही कृष्ण को अपने स्वरूप की उपलब्धि होती है। शक्ति परमशिव की विमल आदर्शरूपिणी हैं। राधा भी यही हैं। शक्ति अपने कामेश्वर की कामेश्वरी हैं और राधा भी यही हैं।

अन्तर इतना ही है राधा सहस्रार की कमलिनी नहीं। वह रूप-रस-गन्ध-वर्ण-सौन्दर्य एवं प्रेम के तत्त्वों से निर्मित कमलिनी हैं। कहना न होगा कि दार्शनिक शक्ति का यह रूपान्तर मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को अधिक तुष्टि देनेवाला है।

## निर्गुणोपासक कवियों में शाक्ततत्त्व

### १. कबीर

**लोकग्राही :**

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को सबसे न्यारा तथा नृसिंहावतार की मानवप्रतिमूर्ति माना है। नृसिंह की भाँति वे सचमुच नाना असम्भव समझी जानेवाली परिस्थितियों के मिलनविन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्परविरोधी कोटियों का मिलनविन्दु भगवान् को अभीष्ट होता है और कबीर भी ऐसे ही मिलनविन्दु पर स्थित थे। जहाँ एक ओर

१. द्रष्टव्य : श्रीराधा का क्रमविकास, पृ० २१२।

हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ एक तरफ से निर्गुणभावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुणसाधना—उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।[1] अतः कबीर को सभी धर्मों के गुण-दोषों को देखने का सुअवसर मिला था। स्वभाव से कबीर जिज्ञासु थे ही अतः अपनी सुविधा के अनुसार जो-कुछ उन्हें रुचा लेते चले गये। यही कारण है कि कबीर में एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतविकलक्षणवाद आदि कई परस्परविरोधी मतों के समर्थन हो सकते हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कबीर ने जीवन-भर अन्वेषण ही किया या उनमें आजीवन विचारों की अस्थिरता रही। कबीर भगवान् को अनुभवगम्य और निखिलातीत तथा समस्त विभूतियों एवं ऐश्वर्यों का आधार मानते थे। अतः लौकिक रूप से जो बातें परस्परविरोधी जान पड़ती हैं, अलौकिक भगवत्स्वरूप में वे सब घट जाती हैं।

कबीर के आविर्भाव के समय देश में धर्मपन्थों की बहुलता थी। समाज में योगियों, शाक्तों, शैवों एवं वैष्णवों का बाजार गर्म था। मुल्लाओं एवं काजियों का अपना पंथ था जो भारतीय जनसमाज में प्रवेश पा रहा था। दूसरी ओर सूफी भी अपना राग अलाप रहे थे।[2] कबीर का जीवन भी जन्म एवं पालन-पोषण के हिसाब से विरोध में पनपा था। वाह्याचारबहुल शुष्क साधना की मरुभूमि में खड़े कबीर ने अपने लिए नयी युक्ति निकाली। उन्हें जो रुचा उसे उन्होंने सदाचार एवं निष्ठा की तुला पर तौला, परखा और अन्त में खरा होने पर स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि हठयोग एवं षट्चक्र-भेदन, वेदान्ती मायावाद की विभीषिका, सहज-साधना एवं भक्ति का स्वर सभी कबीर में समानरूप से वर्त्तमान हैं। कबीर की यह आस्था थी कि सत्य के वास्तविक रूप को समझने एवं समझाने से वे सारे धार्मिक मतभेदों को सरलता से दूर कर सकेंगे।[3]

## कबीर और शाक्तमत :

कबीर के समय शाक्तों का समाज में बड़ा प्रभाव था और विभिन्न प्रकार की तांत्रिक साधनाओं के फलस्वरूप वे जनसाधारण में भय की दृष्टि से देखे जाते थे। शैवों से इन शाक्तों का स्पष्ट अन्तर था और ये शक्ति को प्रधानता देते थे। इनकी

१. कबीर : पृ० १८२ (१९४७)।
२. कबीर ने इसका परिचय पद ३८० (क० ग्र०) में दिया है—
इक जंगम इक जप वार, इक अंग विभूति करै अपार ॥
३. कबीर साहित्य की परख : परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५३।



दृष्टि में शिव ज्ञेय हैं और उपास्या केवल शक्ति ही हो सकती है। दार्शनिक दृष्टि से शाक्तों का मार्ग गर्हित नहीं था। शैवागमों की भाँति शाक्तागमों का स्वर अद्वैती ही था। किन्तु इनकी साधना में पंचमकार को समाज में निंद्य माना जा रहा था। उस काल में इन पारिभाषिक शब्दों का वास्तविक अर्थ नहीं ग्रहण कर सकने के कारण शाक्तों का विरोध होने लगा था। साधनात्मक क्षेत्र में भले ही शाक्तों को प्रचार न मिला किन्तु दार्शनिक तत्त्व इतना प्रभावशाली था कि सभी धर्मसम्प्रदायों में शक्ति की महत्ता बढ़ गयी। विभिन्न आगमों में विभेद होने पर भी सभी का मूल-स्वर एक ही था। ये शाक्त हों अथवा वैष्णव पर दोनों में शक्ति की महत्ता थी। पांचरात्रों की भाषा में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच कहें या शाक्तों की भाषा में त्रिपुरसुन्दरी, महाकाली, तत्त्व और कंचुक कहें, इनमें कुछ विभेद नहीं रह जाता।

कबीर ने समय की नब्ज को पहचाना था। समाज में योगी और भक्त इन दोनों की प्रतिष्ठा थी। कबीर ने इसीलिए योगियों की साधना को स्वीकारा और भक्तों की आस्था रखी पर वे किसी भी प्रकार शाक्तों के दार्शनिक मर्म तक पहुँचने में सफल नहीं हुए। उनका उद्देश्य था खण्डन-मण्डन और किसी भी धर्म के बाहरी एवं आन्तरिक रूप में कुछ-न-कुछ अन्तर होता ही है विशेषतः रहस्यात्मक एवं गुह्य साधना में और संभवतः इसीलिए कबीर ने शाक्तों के वाह्यरूप को घृणा की दृष्टि से देखा और उसकी निन्दा भी की। और-तो-और, वे सभी आगमों को भी अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं—

**औरो आगम करै विचारा।**
**तो वहि सूझे वार न पारा॥**[1]

## शाक्तों का विरोध—एक समाधान :

शाक्तों या 'साकत' के सम्बन्ध में कबीरदास ने कभी सम्मान प्रकट नहीं किया। वे शाक्तों को कुत्तों एवं सूअरों से भी निकृष्ट मानते हैं। इसके ठीक विपरीत वे वैष्णवों को आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं—

१. साषित सुनहा दूनों भाई। वो नींदे वो भोंकत जाई।[2]
२. साकत ते सूकर भला, सूचा राखे गाँव
बूड़ा साषत वापुड़ा, वैसि समरणी नाँव।[3]
३. चंदन की कुटकी भली, ना बबूर अमराउँ।
वैष्णों की छपरी भली, ना साषत को बड़ गाउँ।[4]

१. बीजक : स्वामी हनुमानदासजी साहब (१९५७), पृ० ४८।
२. ३. ४. कबीरग्रन्थावली, पृ० १९९, डा० वड़थ्वाल से उद्धृत।

कबीर की शाक्तों के प्रति अश्रद्धा ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट ही है। ऐसी स्थिति में कबीर पर शाक्तप्रभाव का अन्वेषण करने में सहज ही बाधा उपस्थित हो जाती है।

किन्तु, एक बात विचारणीय है कि कबीर के समय प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में शाक्तप्रभाव था। नाथों एवं सिद्धों के क्रम में इसकी चर्चा भी हो चुकी है। ऐसी स्थिति में कबीर का शाक्तप्रभाव से बच जाना युक्तिसंगत नहीं लगता, क्योंकि विद्वानों की राय में कबीर अधिकांशतः नाथों और सिद्धों से प्रभावित थे। दूसरे, कबीर ने जहाँ शाक्तों की निन्दा की है वहाँ वे उनके आचार को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, दर्शन को नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने शाक्तदर्शन को हूबहू उसी स्वरूप में स्वीकार कर लिया। भारतीय मध्ययुग धार्मिक संहति का काल था और सभी धर्मसम्प्रदायों में ऐसी बातें थीं जो एक-दूसरे से प्रभावित थीं।

कबीर ने अन्य सम्प्रदायों के अनेक रुचिकर तथ्यों को स्वीकार कर लिया और यह सहज सम्भावना है कि शक्तिवादी भावना ने भी उनपर प्रभाव अवश्य डाला हो। पुनः किसी भी वस्तु, धर्म या वाद का विरोध पूर्ण अपरिचय की स्थिति में नहीं हो सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बिना किसी वस्तु को आद्यन्त जाने हम उससे घृणा कर ही नहीं सकते। इसी नाते जो प्रेम का आधार हो सकता है वही घृणा का भी आधार हो सकता है।

कबीर का योग से परिचय था और योग (षट्चक्र-भेद) का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इनका शाक्तों अथवा योगियों से—जिनमें केवल साधनाभेद था—परिचय अवश्य रहा होगा। अपनी खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्ति के कारण कबीर ने खण्डन किया और किसी सम्प्रदाय के भीतर कबीर को बँधना भी इष्ट नहीं था। निश्चय ही 'वैष्णों की छपरी' विशेष लोकविस्तार प्राप्त कर चुकी थी। इसी से कबीर इसकी छाया से बच नहीं पाये और विरोध सम्भव भी नहीं हो सका।

भारतीय ईश्वरवाद में ब्रह्म के साथ जहाँ उसकी शक्ति की चर्चा आती है वहीं शक्तिवाद का जन्म हो जाता है। इस शक्ति को स्त्रीवाचक माना गया क्योंकि समस्त विश्व ही स्त्री-पुरुष-वाचक है। यद्यपि यह स्पष्ट कहा गया है कि शक्ति-शक्तिमान् की कोई जाति नहीं, कोई लिंग नहीं फिर भी लोकबुद्धि के समीप लाने के निमित्त उनमें लिंगत्व का आरोप किया गया। शक्ति-शक्तिमान् का यही दार्शनिक रूप सगुण अवतारवाद में सीता-राम, राधा-कृष्ण बनकर प्रकट होता है॥



**कबीर का ब्रह्म :**

कबीर की साधना निर्गुणब्रह्म की साधना थी। उन्होंने परमात्मा को आध्यात्मिक रूप में देखा है। ब्रह्म के अव्यक्त रूप का जितने भी प्रकार से निरूपण सम्भव है, कबीर ने किया है। उनका अव्यक्त ब्रह्मनिरूपण उपनिषदों के ढंग पर है किन्तु कहीं-कहीं उसपर योगियों के द्वैताद्वैतविलक्षण, ज्योतिवाद; सूफियों के नूरवाद, शून्यवाद, शब्दवाद आदि की छाया भी दिखलाई पड़ती है।[१]

ज्योतिर्मय परमात्मा के साथ ही आत्मा भी प्रकाश से युक्त है पर इसका ज्ञान सहज मन से सुमिरन करने से हो सकता है—

**सून्य सहज मन सुमिरने, प्रगट भई एक जोत।**
**ताहि पुरुष की मैं बलिहारी, निरालम्ब जो होत॥**[२]

क्योंकि वह प्रकाशमय परमात्मा तो सब प्राणियों की अन्तरात्मा में निवास करनेवाला है—

**जानै ताको निकट है, रहा सकल घट पूर॥**[३]

किन्तु प्राणी अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को मायाच्छादित होने के कारण पहचान नहीं पाता है। शरीरबद्ध होने के कारण आत्मा विश्वात्मा से भिन्न प्रतीत होने लगती है। कबीर ने कुम्भ के रूपक द्वारा यही तथ्य उद्घोषित किया है।[४]

कबीर की गायत्री-शक्ति :

बीजक की प्रथम रमैनी में एक कथा की योजना की गयी है। इस कथा के आधार पर ब्रह्म की इच्छा से एक नारी की उत्पत्ति हुई जिसका नाम गायत्री था। गायत्री ने ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश—इन तीन पुत्रों को उत्पन्न किया। ब्रह्मा की जिज्ञासा पर नारीमूर्ति ने अपनी और ब्रह्म की अभेदता बतलायी—

**हम तुम तुम हम और न कोई। तुंहि अस पुरुष हमहिं तोर जोई॥**[५]

---

१. कबीर की विचारधारा : डा० गोविन्द त्रिगुणायत (१९५७), पृ० १९५।
२. बीजक; पृ० १५।
३. वही; पृ० ६६।
४. जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो गियानी॥
—क० ग्र०; पृ० १०५, श्यामसुन्दरदास।
५. बीजक; पृ० २।

'देवीभागवत' में भी ऐसी कथा आती है जिसमें गायत्री ब्रह्मा से अनुरोध करती है कि वे उसे ग्रहण कर लें—

**गृहाणेमां विधे शक्तिं सुरूपां चारुहासिनीम् ।।**[1]

कबीर ने 'देवीभागवत' की गायत्री-शक्ति की चर्चा कर उसे निन्द्यरूप में प्रस्तुत किया है। 'बाप-पूत की एकै नारी, एकै माय बिआय'—कहकर उन्होंने शक्ति-वाद के तत्त्व की उपेक्षा की है। शक्ति को स्वीकार करते हुए उन्होंने उसे केवल माया के रूप में चर्चित किया—

**एकै जनी जना संसारा ।।**[2]

यह जनी (स्त्री) सांसारिकता में लोगों को फँसाकर मार डालती है। एक ओर कबीर उसे ब्रह्म की शक्ति मानते हैं और दूसरी ओर संसार को भ्रम में डालने-वाली शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं—

**कर्महिं कै-कै जग बौराया। शक्ति भक्ति लै बाँधिन माया ।।**[3]

## माया-शक्ति :

कबीर ने माया का जो स्वरूप निर्मित किया है वह कामिनी का ही रूप है जो संसार को कामवासना में आबद्ध कर डालती है। रमैया की वही दुलहिन है जिसने सारे संसार को सत्य से वंचित कर रखा है। शंकराचार्य की माया केवल भ्रममूलक है। उनके अनुसार, नामरूपात्मक संसार असत्य होकर भी सत्य भासित होता है। कबीर की माया इस भ्रमभावना के अतिरिक्त विलासिनी स्त्री के रूप में है।

सांख्यवादियों के अनुसार माया आच्छादन करनेवाली स्वतंत्रा शक्ति है। वेदान्तियों के अनुसार यह ईश्वर की शक्ति ही है जो आवरण डाल देती है और शाक्त अद्वैतवाद के अनुसार यह स्वयं चित्-शक्ति है जो अपने चिद्रूप में भी आच्छा-दन करती है। जिस क्रिया के द्वारा असीम निराकार ब्रह्म आकार ग्रहण कर अपने को सीमाबद्ध कर लेता है वही माया है। ब्रह्म में स्वेच्छा से आत्मस्फुरण होता है। इसे ही स्पन्दन कहते हैं। इस गति के द्वारा वह आकार ग्रहण करता है जिसे सृष्टि कहते हैं। यह आत्मस्फुरण अथवा स्पन्दन ही माया-शक्ति है। इस प्रकार स्फुरण करनेवाले एवं स्फुरण में स्पन्द करनेवाले एवं स्पन्द में अर्थात् ब्रह्म और

१. देवीभागवत, स्कन्ध ३, अध्याय ३।
२. बीजक, पृ० ५।
३. वही, पृ० ८।



माया में कोई भेद नहीं। वह उसी की शक्ति है और वही महामाया है।[1] यह माया-शक्ति परमेश्वर की जीवविमोहिनी शक्ति है। यह स्वातंत्र्यरूपा है। इस शक्तिरूपिणी माया का उल्लंघन करना अत्यधिक कठिन है। इसके उल्लंघन का उपाय एकमात्र परमेश्वर का अनुग्रह है।

और, कबीर भी माया की विमोहिका शक्ति को स्वीकार करते हैं—

**ई माया जगमोहिनी, मोहित सब जग झार ।।**[2]

उसे वे स्वतंत्रा के रूप में भी स्वीकार करते दिखाई देते हैं—

**वर नहिं वरै ब्याह नहिं करै, पुत्र जन्म होनिहारी।**
**कारौ मूड़ काहु नहिं छाँड़ै, अजहूँ आदि कुमारी ।।**[3]

माया की आदिकुमारी-स्थिति ही उसकी स्वतन्त्रा स्थिति है। वह ब्रह्माश्रिता है। वही केशव की कमला है और वही शिव की भवानी भी है—

**केशो के केवल होय बैठी,**
**शिव के भवन भवानी ।।**[4]

इसीलिए, कबीर लोगों को विचार करने के लिए कहते हैं कि हरि का भजन करो। एकमात्र पुरुष एवं नारी का विचार करो। भगवान् हंसस्वरूप हैं तथा माया-शक्ति प्रकृतिरूपी नारी है, इसका ध्यान रखो—

**एक पुरुष एक है नारी,**
**ताकर करहु विचारा ।।**[5]

और इस माया को भी बिना आत्मज्ञान के वश में नहीं किया जा सकता है।

किन्तु कबीर ने जहाँ माया का त्याग करने की सलाह दी है वहाँ उनका अभिप्राय सम्भवतः अविद्या से है। शक्तिवाद में माया ब्रह्म से विलग करानेवाली एवं संयोग करानेवाली भी शक्ति है। शाक्त इसीलिए महामाया की आराधना करते हैं।

कबीरपंथ में आगे चलकर माया को पिण्डस्थ कुण्डलिनी के रूप में स्वीकार किया गया।[6] कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर सहस्रार पर पहुँचा

१. भा० प्र० वि०; पृ० ५।
२. बीजक; पृ० ९१।
३. वही; पृ० २३१।
४. वही; पृ० १५९।
५. वही; पृ० १६३।
६. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०८।

जा सकता है और महामाया की आराधना से महामायापति को प्राप्त किया जा सकता है।

पिण्ड का महत्त्व :

कबीर के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने योग्य बात है—पिण्ड का महत्त्व। शाक्तसाधना में शरीर ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है और ब्रह्माण्ड की सारी क्रियाएँ इस शरीर के भीतर होती रहती हैं। कबीर ने भी पिण्ड के महत्त्व को स्वीकार किया है। योगसाधना में पिण्ड का ही महत्त्व है और शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम से साधक आत्मा के सत्य का अनुभव कर समाधिस्थ हो जब परमात्मा के स्वरूप में मिल जाता है तभी योग की सफलता है। कबीर ने आसन और प्राणायाम का महत्त्व प्रभावशाली शब्दों में बतलाया है। इसी के द्वारा उन्होंने यह समझाने का प्रयत्न किया कि शरीर की शक्तियों को सुसंगठित कर उत्तेजित करने से परमात्मा से मिलन हो सकता है। कबीर ने अपने शब्दों में मनुष्य-शरीरस्थ चक्रों का वर्णन साधारण रूप से किया है। पुनः प्राणायाम की साधना की सफलता धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में पहचानकर कबीर ने उनका एक साथ ही वर्णन कर दिया है। किन्तु कबीर को योगशास्त्र का पूर्ण पण्डित उनके केवल सत्संगज्ञान से नहीं माना जा सकता।[1] शक्ति के साधक जिस प्रकार कुण्डलिनी-स्थित शक्ति का जागरण कर शिव-शक्ति का मिलन कराते हैं वह कबीर का पंथ नहीं।

शिव-शक्ति का उल्लेख :

किन्तु कबीर शक्ति और शक्तिमान् से परिचित जान पड़ते हैं और इसी अर्थ में उन्होंने शिव-शक्ति का प्रयोग किया है क्योंकि जहाँ वे शिव की शक्ति का उल्लेख करते हैं वहाँ अन्य देवताओं की शक्तियों का उल्लेख नहीं करते—

**प्रगटे ब्रह्म, विष्णु, शिव शक्ति। प्रथमे भक्ति कीन्ह शिव उक्ति।**[2]

पुनः शिव-शक्ति का वे लौकिक स्त्री-पुरुष के रूप में उल्लेख करते दिखाई देते हैं—

**बहुत यतन से बाहर आया, तब शिव शक्ती नाम धराया॥**[3]

पुनः कबीर ने समस्त जगत् को नारीमय भी माना है और भरतार-रूप में एक पुरुष को स्वीकार किया है—

१. कबीर का रहस्यवाद; पृ० ७६-७७।
२. बीजक; पृ० ६।
३. वही; पृ० ५६।



**एक अण्ड ओंकार ते, सब जग भया पसार।**
**कहहिं कबीर सब नारि (राम) के, अविचल पुरुष भतार॥**[1]

सहज की स्थिति :

कबीर जहाँ सहजावस्था की चर्चा करते हैं वहाँ उनका अभिप्राय सहज-जीवन से है। यह सहजजीवन योगमार्ग की क्लिष्टसाधनाओं से मुक्त है। वार-वार वे जिस सहजसमाधि की घोषणा कर गये हैं उसमें नाना प्रकार के प्राणायाम, आसन, समाधि और मुद्राएँ परमतत्त्व की उपलब्धि के साधन हैं, साध्य नहीं। गुरु के वचन को ध्यान में रखकर आँखें मूंदे विना, मुद्रा धारे विना, आसन लगाये विना परमाराध्य का मनोहर रूप देख सकना ही सहजसमाधि है—

**सहज ध्यान रहु, सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो।**
**मेली सिस्त चराचित राखहु, रहहु दृष्टि लवलाई हो॥**[2]

यह सहज शब्द सिद्धों में तथा नाथपंथी योगियों में ज्यों-का-त्यों है। किन्तु कबीर ने इसे दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सहज शब्द की यात्रा का मनोरंजक वर्णन किया है।[3] कबीर की दृष्टि में सहज अनासक्तियोग है। यह वह अवस्था है जहाँ भक्त सहज ही भगवान् को पा लेता है। और, यह राम ही उनकी सहजावस्था का सुख है। विचार कर देखा जाय तो शाक्तों की साधना का सहज अपने शाब्दिक रूप में कबीर में ग्रहीत हो गया है।

निर्गुण रामबीजमन्त्र :

कबीर के सम्बन्ध में दूसरा विचारणीय तत्त्व उनका निर्गुण राम है। कबीर ने वारंवार यह घोषणा की है कि उनके राम दाशरथी नहीं। तब वे जिस राम को स्वीकार करते हैं वह निर्गुण राम हैं। जहाँ वे एक ओर ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं, वहाँ उसका नामकरण 'राम' नामक शब्द से कर डालते हैं। उनकी दृष्टि में यही 'साँच मंत्र' है जो अज्ञान के कारण अविदित है।[4] कबीर उसी राममन्त्र को दो अक्षरों का मन्त्र मानते हैं—

**हरिहर ब्रह्मा के मन भाई, दिवि अक्षर लै युक्ति बनाई॥**[5]

१. बीजक; पृ० ६०।
२. वही; पृ० ३७३।
३. कबीर; पृ० ७५।
४. बीजक; पृ० २२।
५. वही; पृ० ११।

कबीर का कहना है कि चौंतीस अक्षरों में पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। इन चौंतीस अक्षरों में देवता भी मोहित हो गये अतः साररूप में वही राम है जो कबीर का ओढ़ना, बिछौना, अर्थात् सर्वस्व है—

**सकल चराचर पूरन रामा, निरखौ शब्द सनेही !**
**कायम सदा कबहुँ ना बिनसै, बोलनहारा एही ॥[१]**

सगुण एवं निर्गुण के परे भगवान् की स्थिति माननेवाले कबीर यहाँ गोस्वामीजी से भिन्न नहीं लगते। तुलसी ने भी राम को वही साथकता दी जो कबीर ने। राम का नाम ही सर्वशक्तिमान् है। यह राम दार्शनिक ऊँचाई पर प्रतिष्ठित है। यही बीजमन्त्र है।

कबीर ने इसी बीजमन्त्र की साधना की थी और इसी का आधार लेकर उनकी योगसाधना फलवती हुई; क्योंकि कबीर ने स्पष्ट कहा कि विवेक के अभाव से राम के अनुभव द्वारा संशय का निवारण नहीं करके लोग अनहद शब्द के अनुभव की आशा करते हैं।[२] कबीर का राम निश्चय ही अनहद की सीमा से ऊपर है। इसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि

**अनहद के गुरु और हैं, कनफुकवा गुरु और।**
**हद अनहद दोनों तजै, लखै ठिकाना ठौर ॥[३]**

सत्यलोक :

हद और अनहद की सीमा से परे राम का लोक है जो कबीर का सत्यलोक है। कबीर की आत्मा इस सत्यलोक की अंश है।

अतः कबीर जिस सत्यलोक की चर्चा करते हैं वह न हद में है और न अनहद-लोक में। कबीर का यह लोक ही शाक्तों का परासंवित् है जहाँ शक्ति-शक्तिमान् की अद्वय स्थिति है। कबीर की आत्मा स्त्रीरूपिणी शक्ति तो है ही और वह इसी अद्वयलोक की निवासिनी है। विचारणीय है कि कबीर अन्य वैष्णवों की भाँति न तो साकेत का और न वृन्दावन का वर्णन करते हैं। फिर उनका सत्यलोक उसी अद्वयलोक को ही कहा जायगा।

---

१. बीजक; पृ० ५७५।
२. वही; पृ० ४१।
३. वही; पृ० ६८६।



'हंस' शब्द का अर्थ :

कबीर ने बार-बार 'हंस' शब्द का प्रयोग किया है और यह हंस शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

**हंसा तू सुबरन बरन, कहा बरणकौं तोहि।**
**तरुवर पाय पहेलि हौ, तबहि सराहौं तोहि ॥[१]**

हंस (आत्मा) के पास वह सामर्थ्य है कि अपने वास्तविक रूप (रामरूप) को जानने पर अज्ञानादि के कारण अपने सत्यस्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता।[२]

शाक्तभावना में 'हंस' शब्द की व्याख्या दूसरे ढंग से की गयी है। 'हं' शिवतत्त्व है तथा 'सा' शक्तितत्त्व। शंकराचार्य ने 'आनन्दलहरी' में उस हंसयुग्म की वंदना की है जो अनाहत कमल में निवास करता है।[३] यह आत्मा ही हंस है जो श्वास एवं उच्छ्वास से युक्त है। इस हंस को योगी ही जानते हैं। इसका चंचु तारा (प्रणव या ओम् रूप) है। निगम तथा आगम इसके दोनों डैने हैं। शिव एवं शक्ति इसके दो पैर हैं। त्रिविन्दु इसकी तीन आँखें हैं। यह परमहंसस्वरूप है, अर्थात् जीवात्मा का ज्ञानप्राप्तरूप। किन्तु जब यह हंस निष्प्रपंच हो जाता है तो इसका पक्षीत्व समाप्त हो जाता है और यह 'सोऽहं' रूप में अवस्थित हो जाता है।[४]

सोऽहं की हंस के रूप में परिणति—जहाँ हंस का केवल शिव-शक्ति-युक्त आत्मा के रूप में प्रयोग होता है—शाक्तों की ही देन है।

कबीर ने शाक्तों के हंस शब्द को बिना किसी दार्शनिक मान्यता के ले लिया है और उसे आत्मा के ही रूप में स्वीकार किया है—

**बोल अबोल एक है सोई। जिन यह लखा सो बिरला होई ॥[५]**

श्री हनुमानदासजी इसकी टीका करते हुए कहते हैं कि अक्षर जीव एवं निरक्षर ईश्वर दोनों में सच्चिदानन्द ईश्वर ही भासता है, जीवता आदि बाधित हो जाती है—

---

१. वही; पृ० ४९७।
२. वही; पृ० ४९७।
३. आनन्दलहरी; ३९।
४. The Garland of Letters, P. 156.
५. बीजक; पृ० ५८०।

**राम कबीरा एक है, कहन-सुनन को दोय।**
**दो करि सोई जानई, सद्गुरु मिला न कोय ।।[1]**

इस प्रकार कबीर अद्वयता को भी स्वीकार करते दिखाई देते हैं।

**नाद-विन्दु का अर्थ :**

कबीर ने शाक्तों के अन्य शब्द 'नाद-विन्दु' को स्वीकार कर लिया है, पर जैसा कि ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है, कबीर ने कभी किसी धर्म के मर्म में जाने की चेष्टा नहीं की और विभिन्न धर्मों के शब्दों को लेकर अपनी स्वतन्त्र व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यही हालत 'नाद' और 'विन्दु' शब्दों की भी हुई है।

कबीर ने 'नाद' को प्राणवाचक शब्द के रूप में तथा 'विन्दु' को रजोवीर्य के रूप में स्वीकार किया है—

**एक चाक सब चित्र बनाया।**
**नाद विन्द के मध्य समाया ।।[2]**

**अथवा—**

**मनमथ कर्म धरे सब कोई।**
**नाद विन्द विस्तारा ।।[3]**

नाद का शाक्त मातानुसार अर्थ है— जीवनी शक्ति। कबीर उसी को 'प्राण' कहते हैं। नाद से ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि होती है एवं सृष्ट विश्व के अन्दर नाद ही प्राण के रूप में निहित रहता है। यही अनन्त विश्व को गर्भ में धारण कर प्रसुप्त सर्पाकार में रहता है। आगमवेत्ता इसको स्वयं उच्चरणशील हकार अथवा परमबीज कहते हैं। नाद की स्थूल अनुभूति कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर अल्पाधिक मात्रा में सभी प्राप्त कर सकते हैं।

विन्दु सृष्टि की उन्मुख अवस्था को कहते हैं। अनन्त में प्रवेश करने का प्रथम द्वार विन्दु ही है। यह विन्दु ही कूटस्थ आदिशक्ति है जिससे विततत्त्वादि उत्पन्न होते हैं। इसी विन्दु पर ब्रह्मशक्ति स्थित रहकर सृष्टिचक्र का संचालन करती है। श्रीयन्त्र के केन्द्र में इसी विन्दु का स्थान माना जाता है।[4]

१. बीजक; पृ० ५८२।
२. वही; पृ० ४८३।
३. वही; पृ० २३८।
४. द्रष्टव्य : दर्शनखण्ड।



कबीर नाद और विन्दु के वास्तविक दार्शनिक तत्त्व को जानते थे या नहीं यह जानने का हमारे पास कोई आधार नहीं पर उन्होंने नाद और विन्दु का प्रयोग शाक्तों के अर्थ में ही किया है जो ऊपर की चर्चा से स्पष्ट है।

राम और गुरु का अभेद :

कबीर के सम्बन्ध में एक अन्य विचारणीय तत्त्व है उनकी गुरु के प्रति श्रद्धा। कबीर के विचारों में गुरु की कृपा ही आत्मा को परमात्मा से मिलाती है। कबीर इसलिए गुरु और गोविन्द में गुरु को श्रेष्ठ मानते हैं। गुरु आत्मा और परमात्मा में मध्यस्थ हैं। इसलिए वह ज्ञानस्वरूप हैं—

**बिन गुरु ज्ञान दुंदमयी ।।[1]**

पुनः जैसे विष खाने से प्रथम विष की निवृत्ति नहीं होती है, अपितु अन्य औषधि आदि से विष की निवृत्ति होती है, वैसे ही राजसी प्रवृत्ति विषय-भोगादि से कामवासना मोहादि की निवृत्ति नहीं होती है, अपितु सात्त्विक प्रवृत्ति गुरुभक्ति आदि से होती है, जैसे गारुडी से विष की निवृत्ति होती है। इससे गारुडी-तुल्य सत्यगुरु वह है जो विषयवासनादि से वशीभूत जीव को मुक्त करता है—

**विष के खाये विष नहीं भाजे।**
**गारुड सो जो मरत जिआवे ।।[2]**

इसी कारण गुरु का महत्त्व, ईश्वर के महत्त्व से बढ़कर है। कबीर गुरु को माता के समान ज्ञान की घूँटी देनेवाला मानते हैं।[3] सद्गुरु का उपदेशरूपी शब्द जीव को ज्योतिस्वरूप आत्मा के दर्शन करवाता है।[4] यही कारण है कि कबीर राम में और गुरु में कोई अन्तर नहीं मानते।[5] फिर तो गुरु और शिष्य में भी कोई अन्तर नहीं रह जाता है—

**गुरू समाना शिष्य में, निज कर लागी नेह।**
**बिलगाये, बिलगे नहीं, एक प्राण दुइ देह ।।[6]**

१. बीजक; पृ० १३।
२. वही; पृ० ६३।
३. वही; पृ० ७४।
४. वही; पृ० ७६।
५. वही; पृ० १७१।
६. वही; पृ० २२७।

शाक्तों के अनुसार गुरु व्यक्त और अव्यक्त रूप से समग्र विश्व में व्याप्त हैं। वे विश्व के बाहर शब्दब्रह्म के रूप में एवं शब्दब्रह्म का अतिक्रमण कर परब्रह्म सच्चिदानन्दरूप में नित्य विराजमान् हैं। पूर्णब्रह्म का परमस्वरूप अव्यक्त है और वह बद्धजीव के लिए अवाङ्मनसगोचर है। इसीलिए वे जीव को स्वरूप देने के निमित्त गुरुरूप से नीचे उतर आते हैं एवं जीव को पुनः उसी धाम में पहुँचा देते हैं। यही उनकी महाकृपा का विलास है।[1]

कबीर के गुरु इसीलिए राम से अभिन्न हैं। मध्यकालीन धर्मसाधना में गुरु का सर्वाधिक महत्त्व है। गुरु की आवश्यकता किसी रहस्य का उद्घाटन करने के निमित्त ही होती है। गुह्यसाधना में कतिपय ऐसे आचार होते हैं जो ऊपरी दृष्टि से निन्द्य लगेंगे किन्तु गुरु की कृपा से ही उनका वास्तविक अर्थ प्रकट होता है। अतः गुरु की महत्ता सर्वाधिक रूप से शाक्तसाधना में ही रही होगी। कबीर ने योग की साधना की थी और गुरु का महत्त्व उन्हें ज्ञात था। पुनः रामानन्द के सम्पर्क से उन्हें भक्ति का प्रसाद मिला। शाक्तों में शक्तिपात की चर्चा है जो गुरु की कृपा के विना सम्भव नहीं है। गुरु का यह महत्त्व शाक्तों की ही देन माना जाना चाहिए।

## आध्यात्मिक विरह :

कबीर का एक अन्य पक्ष उनका आध्यात्मिक विरह है। यह आध्यात्मिक विरह रहस्यवाद की देन है जो अद्वैतवादी भूमि पर उत्पन्न हुआ है। शंकर के अद्वैतवाद ने आत्मा और परमात्मा की एकता को स्वीकृति दी जो माया के परदे से विलग है। जब उपासना या ज्ञानार्जन होता है तब माया का विनाश हो जाता है। कबीर ने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर रहस्यवाद की सृष्टि की है।[2] पुनः कबीर का जीवन सत्य के प्रयोगों में बीता था। उन्होंने सत्य के विविध प्रयोग विविध धर्मपद्धतियों के आधार पर किये थे। इसलिए उनकी अभिव्यक्ति एवं रहस्यात्मक अनुभूतियों पर उन सबका प्रभाव परिलक्षित होता है। कहीं उनमें सूफियों के प्रेममार्ग का निरूपण मिलता है तथा कहीं हठयोगियों के पारिभाषिक शब्दों एवं प्रक्रियाओं का रहस्यात्मक वर्णन। कहीं वे सिद्धों की संध्याभाषा की शैली का अनुकरण करते हैं और कभी उपनिषदों के ढंग पर रहस्यात्मक शैली में तत्त्व का प्रतिपादन। यही कारण है कि उनकी रहस्य-भावना विविधरूपिणी है तथा उनकी अभिव्यक्ति के विविध स्वरूप, स्तर और

१. गो० ना० क० : ता० वा० में शा० दृ०, पृ० ३१२।
२. रा० कु० व० : कबीर का रहस्यवाद, पृ० २१।



सोपान हैं।[1] इस प्रकार कबीर में चार प्रकार के रहस्यवाद पाये जाते हैं—प्रेममूलक, यौगिक, पारिभाषिक शब्दजनित तथा अभिव्यक्तिजनित।[2]

## दाम्पत्यभाव :

प्रेममूलक रहस्यवाद में कबीर ने दाम्पत्यभाव को प्रतिष्ठा दी है। दाम्पत्यभाव को डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्ति की देन माना है। इस साधना में आत्मा स्त्री के रूप में परमात्मा पुरुष के मिलन के लिए आकुल रहा करती है। कबीर की पंचरंग चुनरी किसी ताने-बाने से नहीं बुनी गयी। यह सनातन है, चिरनवीन है पर यह चुनरी कभी मैली भी हो जाती है तो कबीर मन को प्रबोध देते हैं कि ज्ञान का साबुन पास रहने पर भय का कोई कारण नहीं। कबीर ने इस प्रेमलीला को बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप में देखा है। एक बार जिसे भगवान् की रहस्यकेलि सुनाई दे जाती है वह व्याकुल हो उठता है। प्रियमिलन के लिए उसकी तड़पन संसार के किसी और विरहव्यापार से तुलनीय नहीं हो सकती।[3]

कबीर का परमात्मा सत्पुरुष है और कबीर उसकी नारी हैं—

**एक अंड ऊंकारते, सब जग भया पसार।**
**कहहिं कबीर सब नारि राम की, अविचल पुरुष भतार ॥**[4]

इस अविचल पुरुष को कबीर ने अपना प्रियतम मानकर विवाह रचाया है। वे कहते हैं कि राजा राम अब मेरे भर्तार के रूप में आ गये हैं। अब मैं अपना तन-मन-धन उनके ऊपर न्योछावर कर दूँगी। पंचतत्त्व बराती बन जायेंगे और मैं अपने यौवन के उमंग में मत्त हो जाऊँगी। नाभिकमल विवाह की वेदी बन जायगा, ब्रह्मावाणी (अनाहत) उच्चरित होने लगेगी और मैं अपने राम के साथ भाँवरें लेने लगूँगी। मेरा धन्यभाग है कि इस विवाह को देखने के लिए तैंतीस कोटि देवता और अट्ठासी सहस्र मुनिवर भी आ उपस्थित होंगे और मैं उस एकमात्र अविनाशी के साथ व्याह कर लूँगी।[5]

१. कबीर की विचारधारा : डॉ० गो० त्रि०; पृ० २१२-१३।
२. ,, ,, पृ० २३१।
३. कबीर : ह० प्रसाद द्विवेदी; पृ० १९१।
४. बीजक : पृ० ६०।
५. कबीरग्रन्थावली : श्यामसुन्दरदास, पृ० ८७, पद० १।

### अहं, इदं का विनाश :

इस आध्यात्मिक विरह के अन्तिम रूप में कबीर कहते हैं कि जिस समय मेरे मन का भ्रम, उसमें परिवर्त्तन आते ही दूर हो गया और हरि मेरे सामने सहजहृदय में हो केलि करते दीख पड़े उस समय मुझे इस तथ्य का बोध हो गया कि मैं एवं तै अथवा अहम् एवं इदम् की भावनाओं में कोई अन्तर नहीं है और प्रत्येक घट में उस अखण्ड का ही अस्तित्व है। शाक्तदर्शन में इसी अहम्-इदम् के विनाश के पश्चात् परमतत्त्व की उपलब्धि मानी गयी है और कबीर भी प्रकारान्तर से इसे स्वीकार करते दिखाई देते हैं।

### शिव शक्ति-सयोग की प्रक्रिया :

यहाँ संक्षेप में कबीर की रहस्यभावना का परिचयमात्र ही आवश्यक था। कबीर आत्मा को स्त्री के रूप में स्वीकार करते हैं और सत्पुरुष को पुरुष के रूप में। उनकी चेष्टा स्त्री-पुरुष के मिलन की ही है। आत्मा का मायाच्छन्न संसार में रहना ही उनका विरह है तथा मिलन ही चरमसाध्य। कबीर की पंक्तियों से यह सिद्ध है कि वे संयोग को चरमप्राप्ति मानते हैं। उनका यह संयोग ही शिव-शक्ति-संयोग है। षट्चक्रभेदन से साधक भी शक्ति का शिव से संयोग ही कराता है और कबीर भी इसके अपवाद नहीं कहे जायेंगे। इस संयोग को जब कबीर ने परमपवित्र भावना के रूप में चित्रित किया है तब शाक्तों का शिव-शक्ति-संयोग निंद्य क्यों माना जायगा? पुनः, जब वे समस्त विश्व को नारीमय मानते ही हैं तो शक्तिमय न मानने का तर्क ही कहाँ रह जाता है?

सारांश यह कि कबीर ने वाह्यावरण को ही देखा और शाक्तों की निन्दा की। किन्तु, शाक्ततत्त्व तो सृष्टि का चिरन्तन तत्त्व है क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि को आच्छादित करनेवाले स्त्री एवं पुरुष के जीवनतत्त्व का दर्शन है।[1] जो आचार की भूमि पर हमें निंद्य लगता है वही सामाजिक स्वीकृति होने पर पवित्र माना जाता है। शाक्तों का दर्शन विश्वदर्शन है। ऐसा हो सकता है कि भौतिकता की चरमसीमा पर माया की हमें कोई आवश्यकता न रह जाये पर शाक्तदर्शन जीवन की समरसता का दर्शन है जो अतिभोग से निवृत्ति देने का एकमात्र मार्ग है।

## जायसी में शक्तितत्त्व

मलिक मुहम्मद जायसी का आविर्भाव १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। जायसी हिन्दी-साहित्य में प्रेममार्गी धारा के मूर्धन्य कवि माने जाते हैं।

१. क० ग्र० : पृ० १५७, पद० २०३।



सूफी धर्म एवं साधना के कवि के रूप में ही आपकी प्रसिद्धि है। आपके रचित प्रसिद्ध प्रथम ग्रंथ 'पद्मावत', दूसरा 'अखरावट' एवं तीसरा 'आखरी कलाम' हैं। किन्तु इनमें इनकी अक्षय्य कीर्ति का आधार 'पद्मावत' है। क्या लोकपक्ष में, क्या अध्यात्मपक्ष में दोनों ओर इसकी गूढता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।[1]

### चिरन्तन प्रेमतत्त्व का सन्देश :

'पद्मावत' का मूलस्वर है चिरन्तन सत्य प्रेमतत्त्व। यह प्रेमतत्त्व एक नवीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण का निर्माता है जो जायसी की अपनी सृष्टि है। इसकी विशेषता इस बात में है कि इसने मानव के सीमाभाव को समाप्त कर दिया। प्रेमतत्त्व की शक्ति से सम्पुष्ट होकर मानव ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। प्रेम की साधना का बल प्राप्त कर दो भिन्नधर्मी वस्तुएँ एक-दूसरे का सामीप्य एवं तदनन्तर अद्वयता की उपलब्धि करने में समर्थ होती हैं। यह एक नवीन जीवनदर्शन था जो मानवमूल्यों की भावभूमि पर उत्पन्न हुआ था। जायसी में प्रेम की जितनी व्यापक एवं गूढ व्यंजना हुई उसका आधार लौकिक प्रेम ही था जो उत्कर्ष के द्वारा भगवत्प्रेम को स्पर्श कर जाता है।

### जायसी के ब्रह्म और उनका व्यापार :

जायसी में इसीलिए हम निराकारोपासना के स्थान पर साकारोपासना का तरल हृदयरस पाते हैं। वह परमात्मा अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति एवं अनन्त गुणों का आगार है। वह एक ही है, अनेक नहीं। संसार में जो अनेकत्व दिखलाई पड़ता है वह उसी एक का भिन्न-भिन्न रूपों में आभास है। बिम्ब ब्रह्म है तथा यह जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। वह तत्त्व घट-घट में व्याप्त रहने पर शी, नाम-रूपों से प्रभावित नहीं होता है। वह निर्लिप्त एवं अविकारी है।[2] किन्तु वह अपनी माया का विस्तार कर उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है। नयन की पुतली का विन्दु अपनी शक्ति का प्रसार कर जगत् को देखता है। दृश्य की प्रतीति होना व्यक्त में अव्यक्त का समाना ही है। नित्य अव्यक्ततत्त्व ब्रह्म मायापट का विस्तार करके—अर्थात् दिक्काल आदि का आरोप कर—अपना प्रतिबिम्ब डालता है। अव्यक्त मूल

१. रा० शु० : हि० सा० का इतिहास, काशी (१९४५), पृ० ८७।
२. चख महँ नियर, निहारत दूरी। सब घट माँह रहा भरिपूरी।
प न न उड़ै न भीजै पानी। अगिनि जरै जस निरमल बानी॥
— अखरावट, पृ० ३१४, रा० शु०।

प्रतिविम्ब प्रतीति के रूप में फिर उसी अव्यक्त नित्यचित्तत्त्व में पलटकर समा जाता है।[1] स्वर्गीय अमृततत्त्व इसी धरती में व्याप्त है पर वह पकड़ में नहीं आता। माया के भेद के अनुसार वह एक ओर ईश्वर है, दूसरी ओर जीव है जो उस ईश्वर को सिर नवाता है।[2] इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव तथा आत्मा एवं परमात्मा की एकता है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। पूर्वोक्त (दर्शनखण्ड) आधार लेकर योग के द्वारा पिण्ड के भीतर ही ब्रह्म तक पहुँचने के मार्ग की कल्पना की गयी।

### पिण्ड का महत्त्व एवं योग :

इस रहस्यमयी उक्ति के द्वारा योग की ओर ही निर्देश किया गया है जो वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ हठयोग से समन्वित है। जायसी ने मनुष्य के शरीर में ही विभिन्न ग्रहों की स्थिति कर दी है—पैर, गुह्येन्द्रिय, नाभि, स्तन, कण्ठ, दोनों भौंहों के बीच और कपाल में क्रमशः शनि, बृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध एवं सोम का स्थान माना है। यही 'दसवँ दुआर' है, अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र, जहाँ वृत्ति को ले जाकर लीन करने से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।[3] यह भारतवर्ष के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं थी। शक्ति अथवा कुण्डलिनी को जाग्रत कर षट्चक्रों का भेदन कर शिव-शक्ति का मिलन कराना शाक्तों की प्रधान साधना थी, जो सहज-यानियों एवं नाथपंथियों से होती हुई प्रेममार्गी धारा में भी प्रविष्ट हो गयी। जायसी ने इसे विविध रूपकों के माध्यम से व्यक्त किया है। यही कारण है कि काव्यपक्ष की रसमयता के प्रवाह के भीतर तरलरूप से अध्यात्म-अर्थ झलकता रहता है।[4]

### रहस्यभावना में स्त्री-पुरुष का तत्त्व :

आत्मा और परमात्मा तथा ब्रह्म एवं जगत् की एकता को स्वीकार कर सर्ववाद की औपनिषदिक भावना भारत में ज्ञानक्षेत्र से प्रसूत हो ज्ञानक्षेत्र में ही

१. पुतरी महँ जो विंदि एक कारी। देखै जगत सो पट विस्तारी।
हेरत दिस्टि उघरि तस आई। निरखि सुन्न महँ सुन्न समाई॥
—पृ० ३१२, अखरावट : रा० शु०।
२. भए आपु औ कहा गोंसाई। सिर नावहु सगरिउ दुनियाई॥
३. रा शु० : जायसीग्रन्थावली, पृ० ३१५, काशी, १९४६।
४. यह योग अन्य सूफी कवियों में भी प्राप्त होता है; यथा—चित्रावली, इन्द्रावती हंसजवाहर में—
चित्रावली—(१९१२) पृ० ८५, डॉ० कणक।
इन्द्रावती—(१९०६) पृ० २२, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, १९५६।
हंसजवाहर—पृ० १४६, ३३।



परिबद्ध रही पर फारस में यह मनोहर रहस्यभावना के रूप में फली-फूली। यूरोप इत्यादि देशों में भी यह अद्वैतभावना ईसाई धर्म में रहस्यभावना के रूप में विकसित हुई। भारतीय अवतारवाद के भी मूल में यही रहस्यभावना है जो सर्ववाद की भावात्मक प्रणाली से उत्पन्न है पर अवतारवाद की स्वीकृति हो जाने पर रहस्यात्मकता का कोई स्थान नहीं रहता। प्रेमतत्त्व का अवलम्बन लेकर माधुर्यभाव का जो रूप निखरा उसमें रहस्य का समावेश स्वाभाविक तथा अनिवार्य रहा। यह रहस्यवाद सूफियों का अवलम्ब पाकर बहुत ही उच्चकोटि के रमणीय तथा भावुक रूप में निखार पा गया।

भारत में साधनात्मक रहस्यवाद की परम्परा भी हठयोग, तन्त्र एवं रसायन के रूप में थी जिसे जायसी ने अपनी साधना-पद्धति में समाविष्ट कर लिया।[1] जायसी के पहले से ही प्राकृतिक रूपों एवं व्यापारों को पुरुषसमागम के लिए व्याकुल भावना, परमात्मा को स्त्रीसौन्दर्य का प्रतीक मानना तथा उसे प्रेममार्ग से प्राप्त करना आदि रहस्यात्मक भावनाओं की परम्परा 'मृगावती, मधुमालती' आदि रचनाओं में व्यक्त हो चुकी थी। कथा का आधार लेकर काव्य की प्रणाली से रहस्यवादी भावना को स्वर मिला। यह रहस्यात्मक अनुभूति जो मात्र बुद्धि-ज्ञेय थी अब हृदय का प्रेय हो गयी। जायसी का आत्मसमर्पण सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता पर आश्रित होकर सत् और चित् की एकता में आनन्द की उपलब्धि करने लगा।

विचारणीय है कि 'पद्मावत' में जायसी ने काव्यपक्ष पर विशेष ध्यान रखा। प्रचलित धर्मभावनाओं का प्रभाव इस काव्यवर्णन में स्थान-स्थान में प्रविष्ट हो गया है। कहीं वेदान्त, कहीं तंत्र, कहीं योग तो कहीं भक्ति भी मुखर हो जाती है। पर किसी एक दर्शन का आधार लेकर 'पद्मावत' की रचना नहीं हुई। जो आध्यात्मिक भावना आयी वह अन्य प्रभावों से मुक्त नहीं कही जायगी।[2]

### पद्मावती का अलौकिकत्व :

जायसी ने पद्मावती की उद्भावना परमज्योति और रूप में की है। यह मानवी नहीं है। मानवता का आभासमात्र है जो काव्यवर्णन के लिए अनिवार्य हैं। इसके निर्गुण एवं सगुण रूप दोनों ही हैं। परमज्योति ही निर्गुण रूप है

१. द्रष्टव्य : रा० शु० : जायसीग्रन्थावली, पृ० १५६-५७, काशी : १९४६।
२. डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ के विचार से मेरी सहमति है कि जायसी सम्पूर्ण काव्य में अन्योक्ति तथा समासोक्ति का निर्वाह नहीं कर पाये हैं।
—द्रष्टव्य : डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ : हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य।

तथा रूप ही सगुण है। 'प्रथम सो जोति गगन निरमई' में पद्मावती का निर्गुण रूप ही है।[1] वही चिदात्मक ज्योति है जो परमसत्य है। वह ज्योति आकाश में निर्मित हुई (५०-४)। वह शिवलोक की मणि थी।[2] वह ज्योतिर्मय रूप निखिल-ब्रह्माण्डव्यापिनी है और वही पद्मावती का अमूर्त रूप है (५०-१)। विशुद्ध महाज्योति के रूप में वह रत्नसेन के हृदय में भर जाती है। कवि की शब्दावली में वही सूर्य है। संसार में जितने भी रूप हैं वे सब उसी की छाया हैं।

## शिवलोक या कैलाश :

वह रूप सिंहल द्वीप में उत्पन्न होता है। सिंहल द्वीप शिवलोक की सुन्दरता धारण करनेवाला है (३६।९)। सिंहल द्वीप का वर्णन करने में कवि की दृष्टि में साधनात्मक क्षेत्र के सहस्रार का ही चित्र रहा है (४२-४३)। पर वह संकेतमात्र देता है। पुनः कथा की रोचकता के निर्वाह के लिए लौकिक वर्णन में लग जाता है। राजा का भवन ही कैलाश कहा गया है (४८-१)। सात स्वर्गों के पार वह कैलाश है (४८-८९)। जायसी का कैलाश (५३-८) नाथपंथियों का शिवलोक या शाक्तों का ही परमसंवित् है। उस ज्योति का वहीं पर वास है। जायसी यहाँ उत्पत्ति तथा माता-पिता की कल्पना, कथा का क्रम निबाहने के लिए करते चलते हैं।

## परमज्योति पद्मावती :

वह ज्योति सगुण रूप या प्राकृत रूप धारण कर विश्व में अवतरित होती है (५१-१)। उसका निर्माण सूर्य की किरणों से हुआ है।[3] वह ज्योतिस्वरूपा है। उससे रात्रि का अन्धकार दिन के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा समस्त कैलाश प्रकाश से भर जाता है (५१-३)। ब्रह्म की शक्ति मानो ब्रह्म से निकलकर प्रकाशित करने के निमित्त अवतरित हो गयी हो। उस कला का इतना विस्तार होता है कि अन्य कलाएँ तिरोहित होने लगीं और वही एकमात्र ज्योति अवशिष्ट रहकर समस्त संसार को सुवासित करने लगी (५१।४-७)। उसका नामकरण पद्मावती (कमल = सहस्रार) रखा गया। समस्त सृष्टि के पदार्थ ही उसके अंग-प्रत्यंग हैं

---

१. पद्मावत : तृतीय खण्ड, प्रथम दोहा, ४ चौपाई।
२. द्रष्टव्य : वही।
३. तुलनीय : शंकराचार्य : सौन्दर्यलहरी।
तनुच्छायाभिस्ते तरुणतरणिश्रीसरणिभिः ॥१८॥



(५५।१ से ७)। वह ज्योति (शक्ति) यति, योगी, संन्यासी के लिए काम्य है (५५।८-९)।[1]

शून्य सरोवर में शक्ति का विलास (६१-९) है। हंस-(सोऽहम्) भाव इस समय बेसुध-सा दर्शक है (६१-१)। बिजली की चमक, कोकिल का स्वर एवं इन्द्र-धनुष का सौन्दर्य विलसित हो रहा है (६१-१-९)। उसके नेत्रों को जिसने देखा वे कमल बन गये, शरीर की छाया से जल निर्मल हो गया। इसी से हंस ने और अन्य वस्तुओं में दर्पण की भाँति पद्मावती के अंगों का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लिया (६५-६-९)।[2] यही प्रकृति की अव्यक्त अवस्था का दर्पण है जिसमें चैतन्य-ज्योति का आभास पड़ता है तथा उससे ही प्रथम सृष्टि होती है। जितने भी मूर्त्त-रूप हैं वे उस मातृरूप या ज्योति के ही प्रतिबिम्ब हैं।[3] संसार की सारी वस्तुएँ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। रवि, शशि, नक्षत्र सभी में उसी का प्रकाश है। उसकी स्वाभाविक हँसी से समस्त विश्व में प्रकाश छा जाता है। वह अन्यतम ज्योति है।[4] इस ज्योति के समीप सभी कान्तिहीन हो जाते हैं। इस रूपज्योति को सह सकने की सामर्थ्य किसी में नहीं। सभी पर सम्मोहन छा जाता है।

वही परमेश्वरी मातृका है जिसके दर्शनमात्र से देवताओं की मलिन दृष्टि भी विमल हो जाती है।[5] पद्मावती शिव के मन्दिर में पूजन के निमित्त जाती है। पद्मावती का सान्निध्य प्राप्त कर ईश (शिव) मर गये थे।[6] जायसी ने यहाँ ईहात्मक चमत्कार दिखलाने के लिए शिव का मृत होना लिखा है। शिव परम-सत्य हैं, उनकी मृत्यु नहीं होती। वे तो स्वयं मृत्युञ्जय हैं। जायसी के मन में

---

१. तुलनीय : शिव का निष्पलतत्त्व ही अकेली पद्मावती का प्रतिरूप लगता है। शिवतत्त्व स्वयंप्रकाश है।
२. तुलनीय : प्रकाश का विमर्श में प्रतिविम्बित होना। वही विमर्शशक्ति विश्व बनती और विश्वोत्तीर्णा भी।
—द्रष्टव्य : दर्शनखण्ड।
पुनः तुलनीय—शिवश्चालुप्तविभवस्तथा सृष्टोऽवभासने।
स्वसंविन्मातृमुकुरे स्वातन्त्र्याद्भुवनादिषु ॥
—तन्त्रालोक १-७३ : अभिनवगुप्त (का० सं० ग्र०)।
३. पाए रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होई रहे ॥६५-७॥
४. रवि शशि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी ॥
—पुनि वह जोति और को देखा ॥१०७।५-७॥
५. पद्मावत, १९०।३, ७,२।
६. काटि पवारा जैस परेवा। मर गा ईस और को देवा ॥ १९२।३।

शिव की निष्क्रियता का वर्णन करना अभीष्ट था। जायसी शाक्त तो थे नहीं जो सांगोपांग शक्तितत्त्व की व्याख्या करने में प्रवृत्त होते पर वे प्रचलित शाक्तप्रभाव से अपने को बचा भी नहीं पाये।

ज्योतिर्मय रूप की एक परछाईंमात्र अलाउद्दीन को दिखलाई दे जाती है पर उचित साधना के बिना उसे यह शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। रत्नसेन इस कलामयी (शक्ति) ज्योति पद्मावती की साधना करता है।

## हीरामन : सिद्धगुरु :

इसके लिए उसे हीरामन अर्थात् गुरु का अवलम्ब प्राप्त हो जाता है। हीरा अर्थात् वज्र या शून्यतत्त्व तथा मणि अर्थात् शुक्र या बिन्दु। शुक्र या बिन्दु की वज्ररूप परिणति साधना की पराकाष्ठा थी।[1] हीरामन सिद्धगुरु है जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है। हीरामन शक्तिसम्पन्न गुरु है, उसे पद्मावती (शक्ति) का साक्षात्कार एवं सान्निध्य प्राप्त है। बिना इस गुरु के अनुग्रह के शिष्य (रत्नसेन) कितना भी विद्वान् क्यों न हो गोरखधंधे (नागमती) के चक्कर में पड़ा रह जाता है। पुण्योदय होने से ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है और गुरु शिष्य की शक्ति का जागरण कर उसे शक्ति से युक्त कर देता है। इसके बाद ही शिष्य की अन्तरात्मा स्पन्दित हो जाती है और गुरु मोक्ष का पथपदर्शन करता है। गुरु का शाक्तसम्प्रदाय में बड़ा महत्त्व है। सूफियों में भी गुरु का महत्त्व माना जाता है पर हीरामन के रूप में सिद्ध साधक गुरु ही दृष्टिगत होता है जो तांत्रिक गुरु है और जायसी ने भी हीरामन को गुरु के रूप में ही वर्णित किया है (८।१६)।

## शक्तिपात :

शिवमन्दिर में पद्मावती रत्नसेन के समक्ष खड़ी होती है। रत्नसेन के समक्ष पद्मावती नेत्ररूपी कटोरे का मद ढाल देती है पर वह मद की अपेक्षा नेत्रज्योति से बेसुध है। मधु समक्ष है पर पीने की सुधि नहीं। गोरख के मार्ग का शिष्य रूप-मद में मतवाला हो रहा है। उसके शरीर में जैसे कोई चेतना ही नहीं।[2]

पद्मावती का रूप अलौकिक देवी का रूप है। इस रूप को साधारण मानव सहन नहीं कर सकते। रत्नसेन की स्थिति सम्मोहित की स्थिति है। इस स्थिति को 'शक्तिपात' संज्ञा दी जाती है। पर यह तीव्र शक्तिपात नहीं इसी से रत्नसेन का देहपात नहीं होता।

---

१. वा० श० अ० : पद्मावत, पृ० ८१।
२. पद्मावत : १९४।३,४,५,६। तुलनीय : गो० ना० क०, भा० सं० ओ सा० (पृ० २३१)।



## सूर्य एवं चन्द्र :

रत्नसेन से मिलन होने के पूर्व पद्मावती का वर्णन सूर्य के रूप में हुआ है। परन्तु रत्नसेन से मिलन के समय जायसी रत्नसेन का वर्णन सूर्य के रूप में करते हैं। रत्नसेन सहस्र सूर्य के समान प्रकाशित है।[1] यहाँ अब पद्मावती चन्द्रमा के रूप में वर्णित है। चन्द्र एवं सूर्य के रूप में निरन्तर पद्मावती एवं रत्नसेन का उल्लेख होता है।[2] पद्मावती का गुण सुनते ही रत्नसेन अभिभूत हो जाता है। वह सुन्दर मूर्ति स्थायी रूप से सूर्य के समान उसके मन में बस जाती है। उससे उसका समस्त शरीर प्रकाशित हो उठता है। वह स्वयं ही सूर्य हो जाता है और चन्द्ररूपी पद्मावती की छाया बन जाता है। सूर्य की किरण एवं चन्द्रमा की कला में प्रेम उत्पन्न हो जाता है।[3]

अध्यात्मनियम के अनुसार प्रतिरूप रूप को भासित करता है। रूप के भासित होने के बाद वह रूप ही प्रतिरूप को जानने का साधन बन जाता है। इसे ही प्रकाश का विमर्श कहते हैं, अर्थात् जो शुद्ध प्रकाशरूप था वह विमर्श या आत्मासम्बन्धी ज्ञान से युक्त हो जाता है। फिर इस स्थिति में रूप से प्रतिरूप को पहचानना संभव होता है।[4] यही आकर्षण है जो विवाह तक बना रहता है।

## युगलभाव : समरसता :

विवाह ही दोनों का अद्वय या युगलभाव है। यही समरसता है। यही सिद्धों का युगणद्ध है तथा शाक्तों की कामकला है। जायसी ने सूर्य एवं चन्द्र के माध्यम से इसी शिव-शक्ति या पुरुष-स्त्री-तत्त्व की ओर संकेत किया है। पारमार्थिक दृष्टि से वह स्वयं स्त्री है और स्वयं पुमान्; आत्मतत्त्व में लिंग का भेदभाव नहीं। वह स्वयं माया है और स्वयं मायावी, स्वयं नर है और स्वयं दर्शक, स्वयं ईश्वर भी है और स्वयं दास है, स्वयं प्रेमी है और स्वयं प्रेमिका।[5]

---

१. सहसहुँ कर लेखा तस भानू ॥१९५।१।
२. अब जौं सूर अहै ससि राता। आइहि-चढ़ि सो गँगन पुनि साता ॥१९५।५॥
३. जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरि हिएँ परगसी ॥
अब हौं सुरुज चाँद वह छाया। जल बिनु मीन रकत बिनु काया ॥
किरिति करा भा पेम अँकूरू। जौं ससि सरग मिलौं होइ सूरू ॥९६।३.४,५।
४. डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल : पद्मावत : पृ० ४०, झाँसी, १९५५।
पुनः यही प्रकाशतत्त्व शिवतत्त्व है तथा उसका सक्रिय तत्त्व विमर्श है।
—द्रष्टव्य : म० म० पं० गो० नाथ कविराज, ता० वा० शा० ह०, पृ० १२३।
५. तुलनीय : सौन्दर्यलहरी : शंकराचार्य, १९४७, पृ० ९१।

जायसी ने सर्वत्र चन्द्र-सूर्य का प्रतीक प्रयुक्त किया है। पद्मावती के पैरों के नूपुर एवं कानों के कुण्डल को भी जायसी चन्द्र और सूरज की उपमा देते हैं।[1] जायसी ने इस प्रतीक का प्रयोग कई स्थानों पर किया है; यथा—पद्मावती-स्वप्न के क्रम में। वहाँ पद्मावती कहती है कि चन्द्रमा पूर्व में उदित हुआ और सूर्य पश्चिम में निकला है। वह सूर्य चलकर चाँद के समीप आया और चन्द्र-सूर्य दोनों का मिलन हुआ, मानो दिन और रात दोनों मिलकर एक हो गये हों।[2]

## योगसाधना :

कथाप्रवाह में यत्र-तत्र शाक्तप्रभाव के साथ-साथ योग का भी जायसी ने समावेश कर दिया है किन्तु योग की साधना के लिए भी प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। शाक्तदर्शन में षट्चक्रभेद का महत्त्व है जो सिद्धों एवं नाथपंथियों में भी स्वीकृत हुआ। जायसी में रत्नसेन को महादेव से ज्ञान मिलता है कि वह किस प्रकार गढ़ पर जाकर पद्मावती से मिलन में सफल होगा और कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्रारभेद करने से ही उस ज्योति का साक्षात् संभव है। जायसीकृत सिंहलगढ का वर्णन भी पूर्णतः मानवशरीर पर घटित होता दिखाई देता है।

'पद्मावत' में १८ दोहे-चौपाइयों में जायसी ने इस ब्रह्मरन्ध्र के भेदन की युक्ति बतायी है।[3] श्वास मारकर, मन को एकाग्रचित्त कर, दसवें द्वार गुप्त ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर, कुण्डलिनी को सुषुम्नामार्ग से ले जाकर अन्तिम सिद्धि प्राप्त करना ही साधक का चरमलक्ष्य है।

पद्मावती भी वारंवार यही संदेश भेजती है कि जब रत्नसेन सूर्य बनकर आकाशमार्ग से जायेगा और अपने प्राण देगा तो मेरे पास आ सकेगा।[4] सातवें खण्ड पर विराजमान पद्मावती षट्चक्रभेदन करने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकती है। यह षट्चक्र शरीरस्थ ही है। अतः रत्नसेन भी ध्यान लगाकर समाधि में खो जाता है।[5] अनेक अन्तरायों के पश्चात् उसे सफलता मिल ही जाती है और महामिलन हो जाता है।

---

१. चूड़ा चांद सुरुज उजियारा ॥११८।३।
दुहुँ दिसि चाँद सुरुज चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं ॥११०।३।
२. पद्मावत, १९७/४,५/६।
३. वही, २१५/(१-९), २१६ (१-९)।
४. वही, २३२/७।
५. वही, २३५/३,४,५।



## महामिलन :

यह महामिलन सूर्य एवं चन्द्र का महामिलन है। चन्द्र और सूर्य दोनों ही निर्मल हैं तथा दोनों एक-दूसरे के रूप पर मोहित हैं।[1] सूर्य एवं चन्द्र के मिलन-स्थल का वर्णन जायसी ने प्रतीकपद्धति में ही किया है। वह धवलगृह है तथा सात खण्ड के ऊपर कैलाश नामक हिस्से पर बसा है। उसमें पद्मावती का योग किसी राजा को न देकर योगी को दिया गया है। पर अब योगी ने वह भेद पा लिया है जिससे उसका योग उतर गया और भस्म धुल गया है।[2] यह धवलगृह ही परमज्योति का लोक है। सूर्य ही मूलाधारचक्र में स्थित विषप्रस्रावक सूर्य या पिंगला नाड़ी है तथा चन्द्र आज्ञाचक्र में स्थित अमृतप्रस्रावक चन्द्र या इड़ा नाड़ी। चन्द्रमा सूर्य की उष्णता को स्वयं पान कर लेता है तथा प्रकाश और प्राण-शक्ति को अमृत के रूप में भूमि पर अपनी कलाओं द्वारा बरसाया करता है। यह बाह्यक्रिया प्राणिमात्र के शरीर पर इड़ा और पिंगला नाड़ियों द्वारा प्रभाव डालती है। कुण्डलिनी के जागने पर, उसके उद्ध्वंमुख होने पर उसकी क्रिया चन्द्रमण्डल पर होने लगती है और चन्द्रमण्डल से प्रस्रावित अमृत सब नाड़ियों को सींचने लगता है।[3] इस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त योगी का स्वरूप योगी का नहीं रहता। वह शक्तिमय ही हो जाता है।

शक्तिरूपिणी पद्मावती के वर्णन में कवि ने अपनी काव्यात्मकता का अलौकिक उपमान योजित किया है। बारह आभूषणों एवं सोलहों शृंगार से वह शक्ति सज्जित होती है! वह भी अपने शक्तिमान् से मिलन के लिए उतनी ही आकुल है।[4] शक्तिरूपिणी चन्द्र की सोलह कलाएँ हैं जो सूर्यरूपी शक्तिमान् की सहस्रों कलाओं को अपने में खींच लेती हैं। सूर्य अस्त हो जाता है।[5]

---

१. द्रष्टव्य : पद्मावत : २८५/९-१०।
२. धौराहर पर दीन्हेउ वासू। सातखण्ड जहँवा कविलासू ॥ १ ॥
गंध-प्रसेन धौराहर कीन्हा। दीन्ह न राजहिं योगिहिं दीन्हा ॥ ६ ॥
अब जोगी गुर पाए सोई। उतरा जोग भसम गा धोई ॥ ७ ॥
—पद्मावत : २८८।
३. श्री शंकराचार्य : सौन्दर्यलहरी : देवास, १९४९, पृ० १४६-४७।
अन्यतः सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात्।
मनौन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्ते यदात्मने ॥—योगशिलोपनिषद् (६/३)।
४. द्रष्टव्य : पद्मावत् : २९६ (१-९), २९७ (१-९), २९८ (१-९) एवं २९४।४।
५. सोलह करा दिस्टि ससि कीन्हीं। सहसौंकरा सुरुज कै लीन्हीं ॥
भारवि अस्त तराइन हँसे। सुरुज न रहा चाँद परगसे ॥ ३०३।३-४।

## षोडसी-विज्ञान :

यहाँ जायसी ने शाक्त षोडशीविज्ञान का आधार लेकर उपर्युक्त योजना की है। पूर्णिमा की पूर्ण कला अमावस्या में जाकर अस्त हो जाती है। अमावस्या को पूर्णिमा की कला के अस्त हो जाने पर जो कला शेष रहती है वह १६वीं नित्या कला है। शुद्ध चितिशक्ति की पन्द्रह कलाएँ पंचदशी के पन्द्रह अक्षरों में सम्बद्ध हैं और १६वीं कला शुद्ध चितिशक्ति है जो चिन्मात्र निर्विकला समाधि में विराजमान रहनेवाली स्वयं महात्रिपुरसुन्दरी है। यही शुद्ध चिति-शक्ति-स्वरूपा सहस्रारस्थ चन्द्र की १६वीं कला है। सहस्रार में स्वतन्त्र रूप से चन्द्रकला नित्य पूर्ण रहती है। इसीलिए वह वास्तविक-नित्या कही जाती है। चन्द्रमण्डल में वह सदाख्य कला वृद्धि ह्रास-रहिता है।[1] सहस्रार के मध्यस्थ चन्द्रमण्डल को वैन्दव-स्थान[2] कहते हैं। यह शुद्ध चिति-शक्ति की आनन्दमयी कला का स्थान है जिसे श्री अथवा महात्रिपुरसुन्दरी कहते हैं और रत्नसेन इसी महात्रिपुरसुन्दरी (पद्मावती) को प्राप्त करता है।

विचारणीय है कि इसके पूर्व जायसी ने कहीं भी पद्मावती की सोलह कलाओं का उल्लेख नहीं किया। आगे भी सोलह कलाओं का उल्लेख कवि ने तब किया है जब शरत्काल में पद्मावती सोलहों शृंगार कर प्रियसमागम करती है[3] या जब वह चित्तौड़गढ़ में भी धवलगृह में आभूषणों से सुसज्जित होकर जाती है।[4]

पद्मावती-रत्नसेन के मिलन के काल में रत्नसेन का कथन स्पष्टतः उपर्युक्त शाक्तभावना का प्रतिबिम्ब-सा लगता है। रत्नसेन का कथन है कि हे पद्मावती मैं रात्रि का सूर्य हूँ जिसकी तुम छाँह हो। चन्द्रमा में अपनी ज्योति या कलाएँ कहाँ ? सूर्य की ज्योति से चन्द्रमा निर्मल होता है।[5]

---

१. द्रष्टव्य : ललितासहस्रनाम : भास्करराय टीका, श्लोक ११३ की व्याख्या में, बम्बई, १९३५।
अथवा, षोडशकलात्मिका त्रिपुरसुन्दरीत्यविवादम्। तदहं वासनासुभगोदये दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताया कलाः पंचदशैव तु। षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणीति। चन्द्रमण्डले हि सादाख्या कला वृद्धिह्रासरहितैका ॥ पृ० ७६।

२. जायसी ने वैन्दवी कला अर्थात् आनन्दशक्ति का सप्तदशी कला के रूप में उल्लेख नहीं किया है।—द्रष्टव्य : श्रीराधा। पृ० ४४ शक्ति की सोलह कला के ऊपर (सप्तदशी कला) को वैन्दवी कहा है।

३. पद्मावत : ३३८।२। ४. पद्मावत : ५६९।२।

५ वही, ३०७।१,२॥ तुलनीय : शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष की १४ तिथियाँ पूर्णिमा एवं अमावस्या सहित १६ कहलाती हैं। शुक्लपक्ष में ये कलाएँ सूर्य के योग से उदित होती हैं एवं कृष्णपक्ष में सूर्य में ही अस्त हो जाती हैं।—स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज : सौन्दर्यलहरी : देवास, १९४९, पृ० १८२।



## कामकला :

शाक्तदर्शन के प्रसंग में कामकला का उल्लेख किया गया है। दार्शनिक आधार पर यह शिव का मनोरंजनविधान है। शिव अपनी शक्ति में अपने-आप की छवि देखते हैं और यह छवि ही उनका निर्मल आदर्श है। वह आद्या शक्ति—शिव की शक्ति अपने निरुपम रूप में भासित है। वह शिव के स्वरूप का विमर्श है या स्फुरण है। इस विमर्श को उत्पन्न करनेवाली शक्ति ही है। ऐसा मत 'कामकला-विलास' में आया है।[1] यह शक्ति शिव की सारी इच्छा या काम को पूर्ण करनेवाली है। यह परमशिव और उनकी शक्ति, जो ब्रह्माण्ड को गर्भ में धारण करनेवाली परमेश्वरी हैं, हंसमिथुन के समान नित्यलीला में रत हैं। यह समस्त सृष्टि ही उनका लीला-स्पन्दन है। काम या प्रेम उसी का प्रकाश है। यह शिव-शक्ति-सम्मिलन ही आदिरस या शृंगाररस है। विश्वसृष्टि के मूल में यही रस प्रतिष्ठित है। यही कामेश्वर-कामेश्वरी का मिलन है। गौडीय वैष्णवदर्शन में यही श्रीकृष्ण-राधा है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने इसे इस रूप में स्पष्ट किया है कि शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं, यह सुप्रसिद्ध है। सूफी लोग भी यही बात कहते हैं। उनकी यही चरमवस्तु त्रिपुरा-दर्शन की सुन्दरी अथवा त्रिपुरासुन्दरी है।[2] यही सिद्धों की डोम्बिनी है या सहजसुन्दरी है। उसी के साथ सिद्ध या साधक सदा-सदा के लिए युगनद्ध होकर महासुख में लीन रहता है।

## शिव-शक्ति-संयोग :

जायसी ने इसी का साहित्यिक वर्णन विवाह के अनन्तर रत्नसेन एवं सुखयोग में किया है। जिस प्रकार सहजसुन्दरी निर्मल बोधिचित्त या वज्रसत्त्व से मिलन के लिए अपने को सजाती है, उसी प्रकार सखियाँ पद्मावती का शृंगार करती हैं।[3] इस प्रकार के वर्णन में जायसी ने इतनी अतिशयोक्ति से काम लिया है कि यह अलौकिकता की भावभूमि को स्पर्श करने लगता है। यह मिलन भी पाप-पुण्य की सीमा के परे है। इस महासुख की अवस्था में पाप एवं पुण्य का भेद ही नहीं रह जाता। योग की दृष्टि से भी यही सर्वशून्य की स्थिति या सब रूपों की समष्टि कहा जाता है। यही सहस्रार परमसौन्दर्य के मिलन या महासुख का भी स्थान है।

---

१. कामकलाविलास, २
२. म० म० गो० ना० कविराज : कल्याण : शिवांक, पृ० ९४
३. वा० श० अग्रवाल : पद्मावत, पृ० ४५, पुनश्च—३०२, १·९

जायसी के शब्दों में हम इस मिलन के अवसर पर देखते हैं कि शशि ने अपनी सोलह कलाओं से सूर्य को देखा और उसकी सहस्रों कलाओं को अपने में खींच लिया। तारे हँसने लगे; क्योंकि सूर्य अस्त हो गया तथा उस का कोई चिह्न ही न रहा। एकमात्र चाँद की चमक दिखाई दे रही थी।[1] उस परमज्योति के समक्ष साधक भी उसी की आभा में तिरोहित हो जाता है। साधना की समस्त सिद्धियाँ उसी में जाकर लीन हो जाती हैं और वह शक्तिमय हो जाता है।

## युगनद्ध का भाव—चौपड़ :

चौपड़ के खेल के माध्यम से जायसी ने योगपरक प्रतीकों को ही व्यक्त करने का उपक्रम किया है। यह प्रतीकात्मकता जायसी की निजी विशेषता है, जो स्थान-स्थान पर व्यक्त होती रहती है।[2] चौपड़ के खेल में युगनद्ध का भाव प्रकाशित किया गया है।

सोने में सुहागा के मिलने के प्रतीक के माध्यम से जायसी महामिलन में अलौकिकता की व्यंजना नहीं कर सके हैं। यहाँ का धरातल स्थूल ही रह गया है, फिर भी कुछ पंक्तियाँ सूक्ष्म भाव की अभिव्यंजना करती दिखाई देती हैं।[3] पुनः हंस के प्रयोग के माध्यम से सात्त्विकता का भी द्योतन हो जाता है। अनुभव को व्यक्त करने के क्रम में जायसी कहते हैं :

**आपुन रस आपुहि पै लेई।**
**अधर सहैं लागे रस देई ॥३२५।४॥**

यहाँ परमज्योति की रसमयता की व्यंजना है, यह सागर की तरंग की भाँति उसी से उठकर उसी में विलीन हो जाती है। वही परमज्योति स्वयं भोक्ता है और भोग्या भी है।

## नागमती : पद्मावती = कुण्डलिनी : सहस्रार :

नागमती-पद्मावती-विवाद-खण्ड में भी एक स्थान पर जायसी पद्मावती के शब्दों में परमज्योति की अलौकिकता को स्पर्श करते दृष्टिगत होते हैं। पद्मावती कहती है कि वह मानसरोवर की कमलिनी है (सहस्रार), भँवरे (अनहद) एवं हंस

१. पद्मावत, ३०३।३,४
२. द्रष्टव्य : पद्मावत : वा० श० अ०—३१२ (१-९) की टीका, पृ० ३०६,३११, ३१२ (१-९) तथा ३२१।१
३. कौतुक केलि करहिं दुख नंसा। कुंदहि कुरुलहि जनु सर हंसा ॥३१६-७॥



(सोऽहं भाव) नित्य उसकी सेवा करते हैं। वह मुनियों के और शिव के मस्तक पर चढ़ती है।[1]

नागमती प्रसुप्त कुण्डलिनी की भाँति है—

"तूँ भुँजइलि हौं हंसिनी गोरी"[2] में प्रसुप्त कुण्डलिनी एवं सहस्रार की झलक मिलती है। पर जायसी ने नागमती एवं पद्मावती का रत्नसेन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दोनों को गंगा-जमुना, साँवरी-गोरी, इड़ा-पिंगला का प्रतीक मानकर सुषुम्णा (रत्नसेन) के लिए कलह करते हुए दिखलाकर एक अनोखा रूपक खड़ा कर दिया है।[3]

## त्रिपुरसुन्दरी : 'सौन्दर्यलहरी' से समानता :

पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड में परमाशक्ति त्रिपुरसुन्दरी के अद्वय एवं नित्य सौन्दर्यरूप का ही वर्णन दिखाई देता है। उसके निर्मल शरीर में सूर्य की कान्ति विराजमान है और हम पाते हैं कि नख से शिख तक यह रूप आध्यात्मिकता के रंग से रंजित है।

उसके बाल खोलने से रात्रि हो जाती है। सारे विश्व में अन्धकार छा जाता है।[4] सुवास से लुब्ध भ्रमर चँवर से उड़ाने पर भी नहीं उड़ते। प्रातः और संध्या के सूर्य की जो लाली है सो उसी के सिन्दूर से है :

**दुहुज लिलाट अधिक मनि करा।**
**संकर देखि माँथ भुइँ धरा ॥४७२।१॥**

ललाट की कान्ति द्वितीया के चन्द्रमा से भी अधिक है, जिसे देखकर भगवान् शंकर भी अपना मस्तक भूमि पर टेक देते हैं। यह चाँद नित्य जगत् को दर्शन देता है तथा शशि एवं सूर्य उसी ललाट की कान्ति से निर्मल लगते हैं।

काली भौंहें धनुष के समान हैं, जो मुखरूपी चन्द्रमा की मुट्ठी में हैं। नेत्रों का काजल उसकी प्रत्यंचा तथा बरौनियाँ विष के बुझे बाण हैं।[5] नेत्र कमल की

१. पद्मावत—४४०।१,२
२. पद्मावत—४४०।५
३. वही ४४५।१-९, द्रष्टव्य : वा० श० अ०, पृ० ४५७
४. वही ४७०।१,२, ९९।४; तुलनीय : शंकराचार्य : सौन्दर्यलहरी—४३
५. पद्मावत ४७३।१,२ : तुलनीय—सौ०ल०—४७ में शक्ति भयविनाशिनी, धनुष-रूपी भौंहों को भृकुटी-रूपी मुट्ठी में दबाये नेत्र-प्रत्यंचा से त्यौरी के बाण धारण करनेवाली है।

पंखुड़ियों पर मँडराते भँवरों के समान, समुद्र में उठती लहरों-सी अनुराग की उर्मियाँ विलसा रहे हैं।[१] नासिका के सम्पर्क से सभी फूल सुगन्धित हो जाते हैं, यहाँ तक कि तिल का निर्गन्ध पुष्प भी नाक का उपमान होने के कारण सुवासित हो गया है।[२]

अधरों के प्रेमरस पर लट-रूपी नागिन का पहरा है। नागिन को वश में करने पर अमृत का पान करना संभव है।[३] नागिन ही कुण्डलिनी का पर्याय है, जिसे वश में कर योगी अमृततत्त्व की प्राप्ति करने में समर्थ होता है।

कंठ से निकले वचन सरस्वती को भी विमोहित करनेवाले हैं। इन्द्र, चन्द्र, रवि, देवता तथा सारा जगत् उसके शब्द सुनने की इच्छा करते हैं।[४]

कानों में कुण्डल के रूप में दोनों ओर सूर्य एवं चन्द्र लटक रहे हैं (४४९।२)। वेद-पुराण आदि सभी ग्रन्थों को इन कानों ने सुनकर सीख लिया है तथा ये नादानन्द एवं राग-रस का अनुभव करनेवाले हैं (४७९।८,९)। पुष्पों के पराग एवं अमृत के रस से कपोलों का सँवारा जाना (४८०।२), ग्रीवा का सूर्य-प्रभा की ज्योति से भी निर्मल एवं कमलनालवत् होना (४८१।६,७)—ये सारे वर्णन अलौकिकता की ही सृष्टि करते दिखाई देते हैं।

पुनः 'देवता हाथ हाथ पगु लेहीं, पगु पर जहाँ सीस तँह देहीं' (११८।४) में भक्तिभावना का वही स्वर है, जो भगवती के वर्णन में शंकराचार्य-कृत 'सौन्दर्य-लहरी' के ८५ एवं ८६ श्लोक में वर्णित है। इन्हीं चरणों में चन्द्र एवं सूर्य के चूड़े के बीच पायल का झंकारना[५] स्पष्ट ही अनहद का संकेत है, जो नाड़ी-द्वय को साधने पर संभव है।

इस प्रकार जायसी ने सृष्टि में व्याप्त व्यापक सौन्दर्यमूर्ति की सृष्टि की। यह व्यापक सौन्दर्य एक स्थल पर केन्द्रित होकर नारी के रूप में अभिव्यक्त है, जिसके साथ मनसा-वाचा-कर्मणा साक्षात् सम्मिलन शृंगार का स्थूल मार्ग है। ऐसा ही जो समस्त विश्व में व्याप्त परमात्मप्रकाश या चैतन्यज्योति है वही मानव के हृदय-केन्द्र में भी है। मानव का लक्ष्य दोनों का सर्वात्मना ऐक्य या साक्षात्कार है। परमात्मा का चिदंश होने के कारण—जीव में परमात्मा के प्रति आकर्षण एवं उमंग

१. पद्मावत, ४७४।१,२
२. वही, ४७५।४,९
३. वही, ४७६।९,१०
४. वही, ४७८।८,९; तुलनीय : सौ०ल०—६६
५. चूरा चाँद सुरुज उजियारा। पायल बीच करहिं झनकारा ॥११८।६



है। यह परमात्मा प्रेमिका के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया है; क्योंकि लौकिक आधार पर स्त्री से बढ़कर प्रेममय मधुर प्रतीक पुरुष के लिए इस लोक में नहीं है। भारतीय धार्मिक चिन्ता का यह आदिविश्वास है।

जायसी ने इस आदिविश्वास को लोकतत्त्व से ही ग्रहण किया। यह लोकतत्त्व शाक्तभावना में पगकर सिद्धों में जायसी से पूर्व ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था और उस प्रेम की प्राप्ति के लिए इसीलिए तप एवं योगसाधना की अनिवार्यता थी। विना साधना के रसभोग नहीं हो सकता और यही उदात्त भावना भारतीय धार्मिक चिन्ता का सदा से आदर्श रही है।

## सूफीमत और त्रिपुरा : प्रत्यभिज्ञा तथा गौडीय मत :

विद्वानों ने सूफीमत का अन्य धर्ममतों से सादृश्य आँकने की चेष्टा की है। किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सूफियों की परमात्मभावना पूर्णतः भारतीय चिन्ता की देन है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूफीमत का त्रिपुरामत, प्रत्यभिज्ञा एवं गौडीय वैष्णवमत से अद्भुत सादृश्य है।

परमार्थतत्त्व को चिन्मयी इच्छाशक्ति के रूप में स्वीकार कर इन्होंने जगत् को उसी शक्ति का परिच्छिन्न विकास माना है। पुनः वह परमार्थतत्त्व एक ही है और वह सौन्दर्यस्वरूप है। इस सौन्दर्यस्वरूप का यह स्वभाव ही है कि यह विश्वमुकुर में अपने आत्मरूप को निरन्तर देखता रहता है। यही सृष्टि का कारण है।[१]

उसने अपने स्वातन्त्र्य-बल से एक विराट् अभाव का सृजन किया। इस अभावरूपी दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब पड़ा। वही अभाव-प्रतिबिम्ब विश्व है, जिसमें भाव और अभाव दोनों के स्वभाव वर्त्तमान हैं। विम्व का अंश होने के कारण मनुष्य में भी भाव एवं अभाव दोनों का समावेश है। मनुष्य का उद्देश्य है कि वह अपने अभावांश को दूर कर पूर्णभावरूपी भगवान् में अपने को लीन कर दे। किन्तु, यहाँ बाधकस्वरूप मनुष्य का अहं ही है, जिसका विलयन एकमात्र प्रेम से ही सम्भव है।

यह सौन्दर्य एवं प्रेम अनन्त और मुक्त है; इसमें न आदि है; न अन्त और न इसमें ऊँच-नीच, दक्षिण-वाम का भेद ही है। यहाँ शक्ति एवं शक्तिमान् अभिन्न हैं।

१. तुलनीय : कामकलाविलास, ४

पुनः वह परमात्मा ज्योतिस्वरूप है और नित्यभाव से अपने प्रकाश[1] से विभासित हो रहा है। यही ज्योति भाव है तथा ज्योति का अभाव अर्थात् अन्धकार ही अभाव है। ज्योति का स्वभाव ही है कि वह अन्धकार को प्रकाशित कर दे। यही ज्योति सारी क्रियाओं का मूल है। यह क्रिया स्पन्दात्मक है, जिसके बल से अनन्त रश्मियाँ समस्त विश्व में विकीर्ण हो रही हैं।[2] यही त्रिपुरादर्शन की सुन्दरी या त्रिपुरसुन्दरी है, जिसका वर्णन शंकराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' में किया है। जायसी ने इसी को चन्द्र के रूप में वर्णित किया है—जो अमृतस्वरूपा है, ललिता है, सौन्दर्य एवं आनन्द का परमधाम है। यही षोडशी कला नित्य-ज्योत्स्नामयसहस्रदल कमलासना, नित्यकलात्मक, श्रीचक्रात्मक चन्द्रबिम्ब है।[3]

साधना के प्रत्येक यात्री का लक्ष्य यही रूपनगर है—सौन्दर्यलोक, जहाँ उसकी यात्रा समाप्त हो जाती है। यह कोई भौगोलिक स्थानविशेष नहीं, सौन्दर्य की परमावस्था है, जहाँ संसार प्रेमसमुद्र के समान लगता है। बौद्ध इसे 'निर्वाण' कहते हैं तथा सूफी 'फना हो जाना'।

इस शरीर के भीतर ही उस चैतन्यज्योति को प्राप्त किया जा सकता है। देह का महत्त्व शाक्तों एवं सूफियों में समानभाव से प्राप्त होता है। कमल या हृदयाकाश में उस तत्त्व को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति जो उपनिषत्काल से प्रारम्भ हुई वही शाक्तों एवं सूफियों में समानरूप से पायी जाती है।[4] वह परमतत्त्व हृदय की ज्योति से ही दिखाई पड़ता है।[5] वह प्रियतम हृदय के दर्पण में ही दर्शन देता है।[6]

## प्रतीकत्व तथा लोकतत्त्वानुप्राणित शाक्त-संस्कार :

जायसी की शक्ति-भावना का अन्वेषण करने के क्रम में पुनः हम पाते हैं कि जायसी ने प्रतीकों की स्पष्ट स्वीकारोक्ति की है। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मनुष्य का शरीर ही चौदह भुवनों का आवास है। रत्नसेन ही साधक का मन, पद्मिनी ही ज्ञेयतत्त्व और हीरामन ही गुरु है।[7] इस परमतत्त्व को साधना से

१. द्रष्टव्य : पं० गो० ना० कविराज—कल्याण, शिवांक, पृ० ९३
२. तुलनीय : रवि शशि खनत दिपहिं ओहि ओती।—पद्मावत, १०७-५
३. द्रष्टव्य : दर्शन-प्रकरण
४. द्रष्टव्य : पद्मावत—१२१।८-९
५. हिएं की जोनि दीप वह सूझा।—पद्मावत १२५-४
६. जानु आहि दरपन मोर हिया। तोहिं महँ दरस देखावै पिया।।(४०१-२)
७. पद्मावत : रा० शु०, पृ० ३०१



रत्नसेन ने प्राप्त कर लिया, पर अलाउद्दीन इसे व्यवसायात्मिका बुद्धि से प्राप्त नहीं कर सका। यह प्रतीक है, जो इस कथा की आत्मा में बोल रहा है।

इस प्रकार जायसी पर शक्तिवाद का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। जायसी ने लोकतत्त्व का आधार लिया और शक्तिवाद लोकभूमि में अपनी पूर्णता से विभासित था ही। साधना के क्षेत्र से बाहर भी शक्तिवाद का स्वरूप इतना मनोहारी था कि लोककथा में इसके तत्त्व सहज ही प्रवेश पा सकते थे। पद्मावती सामान्य स्त्री रही होगी, पर वह जायसी के काव्य में त्रिपुरसुन्दरी की शोभा धारण करने लगी। रत्नसेन को, पद्मावती से मिलन में बाधाएँ आयी होंगी, पर जायसी के काव्य में वह साधना के सोपानों पर सफलता से चढ़कर इष्टप्राप्ति में सफल हो गया। प्रायः समस्त तत्त्व ही शाक्तानुप्राणित थे इसलिए उनकी संगति सहजभाव से बैठ गयी। सूफियों में मुस्लिमपना था पर लोकभावना इतनी बलवती थी कि वह समस्त विदेशीपन पर आलेपन बन गयी।

सिद्धों ने साधना को काव्य का आधार ग्रहण कर लोकभूमि पर प्रतिष्ठित कर ही दिया था और यही लोककथा समस्त शाक्त उपादानों से परिपुष्ट होकर जायसी में काव्य बन गयी।

# गोस्वामी तुलसीदास में शक्ति-तत्त्व

**पीठिका :**

श्रीरामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में विक्रम की १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्रीरामानन्द हुए, जिन्होंने रामभक्ति का प्रचार किया। कर्म के क्षेत्र में शास्त्रमर्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध आप नहीं मानते थे।[1] स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा से देश के बड़े भाग में रामभक्ति का प्रचार हुआ और रामभक्त फुटकल पदों में अपने इष्टदेव की महिमा का गान करते रहे, पर साहित्य के क्षेत्र में इसका परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा विकीर्ण हुआ।

गोस्वामीजी के समय तक शक्ति-भावना प्रायः सभी देवताओं की उपासना में विकसित हो चली थी। शिव-शक्ति की भावना का प्रचार तो प्रबल था ही और राधा-कृष्ण की भावना भी लोकप्रिय हो चली थी। इसके अतिरिक्त नाथपंथियों, निर्गुणियों, कापालिकों आदि का भी समाज में प्रभाव था। 'अध्यात्मरामायण' के दार्शनिक स्वरूप का आदर्श भी गोस्वामीजी के समक्ष था ही।[2]

गोस्वामीजी स्मार्त वैष्णव थे। इस कारण उन्होंने राम की भक्ति को प्राप्त करने के निमित्त अन्य देवताओं की भी स्तुति की है। इन स्तुतियों में प्रधान स्तुति शिव-पार्वती को निवेदित है। शिव-पार्वती के संवाद के माध्यम से तो राम की कथा ही कहलवायी गयी है। अस्तु, यह सम्भव है कि शक्तितत्त्व के दार्शनिक स्वरूप ने तुलसीदास को प्रभावित किया हो।

वातावरण में योगमार्ग का चलन था, जो भक्ति के लिए घातक सिद्ध हो रहा था।[3] शाक्तों का वामाचार भी समाज में प्रचलित था। स्पष्ट है कि यह

१. रा० शु०—हि० सा० इ०; पृ० १०३
२. डॉ० माता प्र० गुप्त—तुलसीदास (१९५३), पृ० ३२
३. गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।—तु० ग्रं०, द्वि० खण्ड, २००४, पृ० २१८



सब गोस्वामीजी को रुचिकर नहीं था।[1] ऐसे शृंगारिक एवं अनाचारपूर्ण समाज में सभी प्रभावों से अपने को बचाकर ले चलना तलवार की धार पर चलने के समान था। यही कारण है कि गोस्वामीजी ने सदैव मर्यादा का ध्यान रखा। उनके राम भी मर्यादापुरुषोत्तम रहे। गोस्वामीजी का शृंगारवर्णन भी मर्यादित शृंगार ही रहा और उन्होंने सर्वत्र ईश्वरीय शृंगार या अलौकिक शृंगार की छटा दिखलाने का प्रयास किया।

शक्ति-शक्तिमान् का अभेदत्व :

शाक्तदर्शन का प्रथम तत्त्व है शक्ति और शक्तिमान् का अभेदत्व। गोस्वामीजी 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में ही शक्ति और शक्तिमान् का अभेदत्व प्रदर्शित करते दिखाई देते हैं—गिरा और अर्थ, जल एवं वीचि में केवल कथन में भेद है, पर तत्त्वतः उनमें कोई अन्तर नहीं।[2]

## क. शिव-पार्वती के सन्दर्भ में :

महत्त्व :

भवानी और शंकर का श्रद्धा एवं विश्वास के रूप में स्मरण करना, गोस्वामीजी की एक विशेषता है। भगवान् शंकर गोस्वामीजी के गुरु हैं। उमा-महेश्वर-ऐक्य के भीतर श्रद्धा और विश्वास एक ही स्थान में निवास करते हैं—

**वन्दे बोधमयं नित्य गुरुं शंकररूपिणम्।**
**यमाश्रितो ही वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥**
—बालकाण्ड, ३

इसमें शैवों और रामभक्तों में मैत्री लाने की चेष्टा दिखाई देती है। 'रामपूर्वतापनीय उपनिषद्' भी शिव को राम का अनन्त उपासक मानती है। शंकर की यह उपासना काशी की भूमि पर होती रहती है। राम के 'तारक मंत्र' के साथ मरणान्मुक्ति जगत्तारिणी पुण्यस्थली काशी की महिमा बढ़ जाती है।[3] गोस्वामीजी ने

१. अशुभ वेष भूषण धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेई जोगी तेई सिद्ध नर पूज्य ते कलियुग माँहि॥९८(क)
—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड (गी० प्रे०)
२ गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न॥१८॥
—बालकाण्ड (गी० प्रे०)
३. रामोत्तरतापनीय उपनिषद्, ३।४,५ तथा २।३; वैष्णव-उपनिषद्; मद्रास, १९२३

इन स्रोतों का सहारा अवश्य लिया और यही कारण है कि वे अन्त तक काशी-वास भी करते रहे।[1]

पुनः भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्वों पर विचार करते समय यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि जिन तत्त्वों का सम्बन्ध शिव-पार्वती से बैठता है, उनका मूल लौकिक ही होता है।[2] गोस्वामीजी को भी राम की कथा की प्रतिष्ठा लोक-मानस पर करनी थी और इसी कारण उन्होंने शिव-पार्वती के संवाद में इस कथा को पिरो दिया है।

पुनः गोरखमत का प्रभाव जनमानस पर था, यह 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' से तथा 'तुलसी अलखहि का लखै' से ही स्पष्ट है। गोरख-पंथियों के प्रभाव के भीतर से गोस्वामीजी ने शिव को अपना गुरु मानकर भक्ति का मार्ग निकाला। 'चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते' एवं 'बक्र चन्द्रमा ग्रसहि न राहू' से यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है। शिव को गुरु मानकर गोस्वामीजी ने अपने विरोधियों का मुख बन्द कर दिया।

इसी कारण गोस्वामीजी के शिव विश्वास एवं पार्वती श्रद्धा की प्रति-मूर्त्ति हैं। इन दोनों का स्मरण करके और प्रसाद पाकर बड़े चाव से गोस्वामीजी रामचरित का वर्णन करते हैं।[3] यह शिव गिरिजा के मनरूपी मानसरोवर में निवास करनेवाले हंस हैं, काशी के ईश हैं तथा मसानवासी हैं। गोस्वामीजी आपसे प्रभुचरणों में अविनाशी भक्ति की याचना करते दिखाई देते हैं।[4] तुलसी के शिव राम के भक्त हैं और तुलसी इसी कारण भगवान् शिव के द्वार पर याचक बन आये हैं।

## शक्तितत्त्व :

बालकाण्ड में सती-मोह-प्रसंग में गोस्वामीजी ने उमा-पार्वती के तत्त्व का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है। उमा भगवान् शिव की अर्द्धांगिनी हैं, उनकी

१. रामनिरंजन पाण्डे : रामभक्तिशाखा, पृ० ९
२. डॉ० सत्येन्द्र : म० हिं० सा० का लो० ता० अ०, पृ० ४३५
३. सुमिरि सिवा-सिव पाई पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ॥
—बालकाण्ड, पृ० १३ (गी० प्रे०)
४. गिरिजा मन मानस मराल, कासीस, मसान निवासी।
तुलसीदास हरिचरन कमल, हर, देहु भगति अविनासी॥
—तु० ग्र०, पृ० ४५८



शक्ति हैं। वही दक्षयज्ञ में शरीर-त्याग कर पार्वती के रूप में हिमवान् के गृह में अवतरित होती हैं।[1] वह अनेक नामों से पूजिता हैं।

**सुन्दर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अम्बिका भवानी॥**[2]

यह भगवान् शिव की शक्ति समस्त संसार की माता है। यह माया-स्वरूपिणी है तथा भगवान् शिव ईशरूप हैं।[3] नारद रानी मैना को समझाते हुए कहते हैं :

**मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदम्बा तव सुता भवानी।**
**अजा अनादि सक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥**
**जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला वपु धारिनि॥**[4]

यह शक्ति कभी जन्म नहीं लेतीं। इनका कोई आरम्भ नहीं और यह कभी नाश न होनेवाली शक्ति हैं। यह सदा शिवजी की अर्द्धांगिनी रहती हैं। यही जगत् को उत्पन्न करतीं, पालन करतीं और उसका संहार करती हैं। यह अपनी इच्छा से लीला-शरीर धारण किया करती हैं।

शक्ति का यह महत्त्व इतना अधिक है कि प्राकृत लोक के माता-पिता भी भावविह्वल हो उनके चरणों पर लोटते दिखाई देते हैं :

**तब मयना हिमवंतु अनंदे। पुनि-पुनि पारवती पद बंदे॥**[5]

जगन्माता को लीला-शरीर में भी देखकर देवतागण मन-ही-मन प्रणति निवेदित करते हैं :

**जगदंबिका जानि भव भामा। सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा।**[6]

## जगदम्बिका त्रिपुरसुन्दरी :

इस जगदम्बा का अतुलनीय रूप है। यह सुन्दरता की सीमा हैं, अर्थात् इनसे बढ़कर सुन्दरता कहीं हो ही नहीं सकती। इनकी सुन्दरता करोड़ों मुखों से भी नहीं वर्णित की जा सकती।

१ जगदम्बा जहँ अवतरी सो पुरु बरनि न जाइ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख नितनूतन अधिकाइ॥९४॥—बालकाण्ड, पृ० ५७
२. बालकाण्ड, पृ० ४२
३. जय-जय जगदंबिके भवानी।
तुम्ह माया भगवान शिव सकल जगत पितु मातु॥ पृ० ४९
४. बालकाण्ड, पृ० ५९
५. वही, पृ० ६०
६. वही, पृ० ६१

**सुन्दरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहुँ बदन बखानी ॥**[1]

इस त्रिपुरसुन्दरी के रूप को देखकर सभी देवता विमोहित हो जाते हैं। किस कवि में ऐसा सामर्थ्य है कि इस रूप का चित्रण कर सके।

**देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनै छबि अस जग कवि को है ॥**[2]

जनकपुर के फुलवारी-प्रसंग में इन्हीं जगज्जननी गिरिजा की पूजा करती सीता दृष्टिगत होती हैं। गिरिजा समस्त संसार की जननी हैं। आपके शरीर की आभा बिजली के समान है। आपका आदि, मध्य, अन्त नहीं है तथा अतुल प्रभाव है, जिसे वेद भी नहीं जानते। आप संसार की उत्पत्ति, पालन एवं संहार करनेवाली हैं। जगत् को मोहनेवाली हैं तथा अपनी इच्छा से विहार करनेवाली हैं।

**.... ... ... । जगत जननि दामिनि दुति गाता ॥**
**भव-भव विभव पराभव कारिनि ॥ विश्व विमोहनि स्वबस विहारिनि ॥**[3]

पुनः आपकी सेवा से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा आप त्रिपुरासुर का मर्दन करनेवाले भगवान् शिव की प्यारी हैं।

**सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनी पुरारि पियारी।**[4]

देवीस्तवन :

'विनयपत्रिका' में भी गोस्वामीजी अनेक प्रकार से देवी की स्तुति करते दिखाई देते हैं।

"देवी विश्व ब्रह्माण्ड की मूल, जनसानुकूला तथा दुष्टदलन के लिए हाथ में त्रिशूल धारण किये रहती हैं। आप ही सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाली मूलप्रकृति हैं। आपके सुन्दर शरीर के समस्त अंगों में बिजली-सी चमक रही है, जिसपर दिव्य वस्त्र और आभूषण शोभित है। नेत्र मृगछौनों एवं खंजन के नेत्रों के समान सुन्दर हैं। मुख चन्द्रमा के समान है। इन्हें देखकर करोड़ों रति और कामदेव लज्जित होते हैं। आप रूप, सुख एवं शील की शोभा हैं। दुष्टों के लिए भयानक रूप धारण करनेवाली हैं। आप ही लक्ष्मी, आप ही पार्वती एवं आप ही

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० ६१
२. वही, पृ० ६०
३. वही, पृ० १३२
४. वही, पृ० १३२



श्रेष्ठ बुद्धिवाली सरस्वती हैं। जगज्जननिस्वरूपा आप ही गणेश एवं कार्त्तिकेय की माता तथा शिवजी की गृहिणी हैं। आपकी जय हो।"[1]

काली :

सौम्य के अतिरिक्त भयंकर रूप की स्तुति भी गोस्वामीजी ने की है। देवी का यह रूप भगवती कालिका का रूप है। पर मात्र नाम से ही गोस्वामीजी ने कालिका कहा है। यह देवी 'पर्वशर्वरीश-वदनि' हैं। आपके हाथों में ढाल-तलवार, त्रिशूल, साँगी एवं धनुष-बाण हैं। आप दानवों के दल का संहार करनेवाली हैं तथा रण में विकराल रूप धारण कर लेती हैं। आप पूतना, पिशाच, प्रेत एवं डाकिनी-शाकिनियों के सहित भूत, ग्रह एवं वेताल-रूपी पक्षियों और मृगों के समूह को पकड़ने के लिए जालस्वरूपा हैं। इन देवी के अनेक नाम हैं। यह संसार की स्वामिनी एवं हिमाचल की कन्या हैं।[2]

इस प्रकार गोस्वामीजी ने मसानवासिनी देवी कालिका का नामस्मरण किया तो है, पर वे भयंकर रूप को अस्वीकार करने में सचेष्ट दिखाई देते हैं। उनका यह वर्णन मार्कण्डेयपुराणोक्त 'दुर्गासप्तशती' के आख्यान से मिलता-जुलता है। पर रूप की योजना में गोस्वामीजी ने स्वतन्त्रता से काम लिया है।

शक्ति की क्रीडा :

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी ने भगवान् शिव के अर्द्धनारीश्वर-रूप का भी वर्णन किया है। शक्ति का लास्य अथवा क्रीडा होती है। यह मिथुन का प्रणय-व्यापार गोस्वामीजी ने अपने मर्यादापूर्ण ढंग से ही किया है। भगवान् शिव वन जाते हैं। उनके अर्द्धांग में निवास करनेवाली पार्वती मानो वसन्त-ऋतु बनकर आपको देखने आयी हैं। पार्वती के शरीर की कान्ति मानो चम्पा के फूलों की माला है। सुन्दर नीले वस्त्र नवीन तमाल-पत्र हैं। सुन्दर जंघाएँ केले के वृक्ष और चरण लाल कमल हैं। पतली कमर सिंह की-सी और सुन्दर चाल हंस की सूचना दे रही है। गहने मानो अनेक रंगों के विविध फूल हैं। किंकिणी एवं पैंजनी पक्षियों का मधुर स्वर है। हाथ मौलसिरी एवं आम के पत्ते हैं। स्तन बेल के फल एवं कंचुकी लताओं का जाल है, मुख कमल है तथा बाल गूँजते हुए भँवरे हैं, विशाल नेत्र नवीन नीलकमल की पंखुड़ियाँ हैं। मधुर वचन, कोमल

१. विनयपत्रिका : पदसंख्या १५; गी० प्रे०; सं० २००९
२. तुलसी-ग्रंथावली, द्वितीय भाग, पृ० २४२
३. विनयपत्रिका; पदसंख्या १६, गी० प्रे०

तथा सुन्दर चरित्र मोर एवं तोते हैं। हँसी सफेद फूल और लीला शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर है।[1]

इस प्रकार इस पद में शक्ति एवं शक्तिमान् अनन्त क्रीडा-विलास का वर्णन है, जिसे गोस्वामीजी ने अपने कौशल से मर्यादित कर दिया है। यह संयम गोस्वामीजी ने सर्वत्र ही दिखलाया है। 'रामचरितमानस' में शंकर-पार्वती के विवाह के उपरान्त उनकी क्रीडा के वर्णन के लिए पर्याप्त अवकाश था और भारतीय संस्कृत-साहित्य में इसकी परम्परा भी प्रचुर मात्रा में थी, पर गोस्वामीजी ने कालिदास का अनुकरण न किया। ऐसे अवसर को भी आपने मर्यादा की डोर से बाँध दिया—

**जगत मातुपितु संभु भवानी। तेहि सिंगार न कहउँ बखानी ॥**
**करहिं विविध विधिभोग विलासा। गनह समेत बसहिं कैलासा ॥[2]**

## ख. सीता-राम के सन्दर्भ में :

आदिशक्ति :

भवानी के अतिरिक्त सीता के प्रसंग में यह शक्तितत्त्व और उभरकर आया है। सीता का स्मरण गोस्वामीजी आदिशक्ति के रूप में करते हैं। मनु एवं शतरूपा की तपस्या पर प्रसन्न होकर जब भक्तवत्सल भगवान् 'नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर स्याम' की छटा से अवतरित होते हैं तो उनके वामभाग में जग का कारण तथा सौन्दर्य का सागर आदिशक्ति विराजमान हैं।

**वाम भाग शोभति अनुकूला। आदिशक्ति छविनिधि जग मूला ॥[3]**

शक्तियों की सारभूत एकता :

इस आदिशक्ति के अंशों से ही अगनित उमा, रमा एवं ब्रह्माणी की उत्पत्ति होती है। इन रूपों में भेद है, पर मूलरूपा वही एकमात्र आदिशक्ति है।

**जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्माणी ॥[4]**

इसे स्पष्ट करने के लिए आगे गोस्वामीजी का कथन है कि यह आदिशक्ति और कोई नहीं, वे ही जगज्जननी सीता हैं, जिनकी एक दृष्टि पर ही सृष्टि का उद्भव और प्रलय होता है।

१. विनयपत्रिका; पदसंख्या १४, गी०प्रे०
२. रामचरितमानस (गुटका संस्करण), पृ० ६२-६३
३. वही, बालकाण्ड, पृ० ८५
४. वही, बालकाण्ड; पृ० ८५



सीता ही शक्ति :

**भृकुटि विलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई ॥[1]**

'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में गोस्वामीजी उद्भव, स्थिति एवं संहार—तीनों कार्यों को करनेवाली, समस्त क्लेशों का निवारण करनेवाली तथा कल्याणकारिणी (आदिशक्ति) रामवल्लभा सीता को नमस्कार करते हैं।

**उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।**
**सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥[2]**

इसके अतिरिक्त 'कवितावली' में भी गोस्वामीजी शक्तितत्त्व का उद्घाटन करते दिखाई देते हैं :

**रचित विरंचि, हरि पालन, हरत हर**
**तेरे ही प्रसाद जग अगजग पालिकै।**
**तोहि में विकास विस्व, तोहि में विलास सब**
**तोहि में समान मातु भूमिधर बालिकै ॥[3]**

मायाशक्ति :

आदिशक्ति का मायारूप में भी कथन हुआ है। यह वही आदिशक्ति है, जिससे सारा जग उत्पन्न है और यह सीता ही ब्रह्म की माया और मूलप्रकृति हैं।

**आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया।**
**सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥**

परमशक्ति :

यही शक्तिमान् की परमशक्ति भी है, जिसका उल्लेख गोस्वामीजी ने अन्यत्र किया है :

**नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥[4]**

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, ८६
२. वही ,, २।—तुलनीय कवितावली तथा अध्यात्मरामायण (१।१।३२—३४, १/२)
३. ,, ,, पृ० ८८।
४. ,, ,, १०७।

मूलप्रकृति :

इस लोक में राम ही परमात्मा हैं और सीता ही मूलप्रकृति हैं। इनके अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है। इसीलिए समस्त संसार को सीताराम में व्याप्त मानकर गोस्वामीजी शक्ति एवं शक्तिमान् की एक साथ ही वन्दना करते हैं :

**सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥**[1]

सीता लक्ष्मी हैं। जिस नगर में माया नारी (सीता) के रूप में निवास करती हैं, उस नगर की सम्पदा का बखान शारदा और शेष भी नहीं कर सकते।

**बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर बेषु।**
**तेहि पुर के शोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु ॥**[2]

तुलसीदासजी ने 'रमा' नाम से भी परमशक्ति का कई बार स्मरण किया है :

**राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि ॥**[3]

इसके अतिरिक्त राम को कई स्थलों पर रमानिवास, इन्दिरापति, रमा-रमण, इन्दिरारमण कहकर सम्बोधित किया गया है।

लक्ष्मी-सीता-अभेद :

इन सभी स्थलों पर वे सीता का स्मरण लक्ष्मी के ही रूप में करते दिखाई देते हैं। ऐसा लगता है कि पौराणिक लक्ष्मी एवं सीता में गोस्वामीजी ने कोई अन्तर ही नहीं माना है, क्योंकि राम एवं सीता विष्णु एवं लक्ष्मी, शक्तिमान् एवं शक्ति के अवतार हैं।

लक्ष्मी-सीता भेद :

किन्तु अन्यत्र गोस्वामीजी ने लक्ष्मी का पृथक् अस्तित्व भी स्वीकार किया है। सीता-राम-विवाह में लक्ष्मी विष्णु के साथ सम्मिलित होती हैं और वह भी विष्णु के साथ ही दूल्हा राम को देखकर मुग्ध हो जाती हैं :

**हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे ॥**[4]

१. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० ७
२. ,, ,, पृ० १६०
३. ,, उत्तरकाण्ड, पृ० ५६८
४. ,, बालकाण्ड, पृ० १७४



तथा रनिवास की अन्य स्त्रियों के साथ, छद्मवेष में जाकर मिल जाती हैं :

**सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥**
**कपट नारि नर बेष बनाई। मिली सकल रनिवासहिं जाई ॥**[1]

पुनः तुलसीदासजी सीता को लक्ष्मी से श्रेष्ठ भी बताते हैं और उन्हें राम की भाँति अपरिवर्त्तनशील मानते हैं। मोह के अवसर पर सती राम के ब्रह्मत्व पर शंका करती हुई राम को विविध रूपों में परिवर्तित होनेवाले देवताओं के बीच अपरिवर्तित पाती हैं और सीता को भी अपरिवर्तित पाती हैं—जबकि इन्दिरा आदि अनेक रूपों में दिखायी पड़ती हैं—

**सती बिधात्री इन्दिरा देखीं अमित अनूप।**
**जेहिं-जेहिं बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप ॥**
**देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते।**
.... .... .... ....

**अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे।**
**सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता ॥**[2]

स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने परम शक्ति का उल्लेख बड़ी सावधानी से दार्शनिक तत्त्वों को ध्यान में रखकर किया। वही शक्ति, आदिशक्ति है, वही राम की प्रकृति-शक्ति है और वही सीता भी है।

सीता-राम अभेदत्व :

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से ही अपना कार्य कर सकती है। उसी प्रकार सीता भी परम शक्तिमान् राम की ही शक्ति हैं तथा उनसे सर्वथा अभिन्न हैं।[3] प्रकृति एवं पुरुष की अभिन्नता, माया और ब्रह्म की अभिन्नता का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के माया-विशिष्ट ब्रह्म के सिद्धान्त के समान ही है। इस सिद्धान्त में माया और ब्रह्म दोनों एकतत्त्व और सत्य हैं। ये दोनों शरीर और शरीरी के समान अभिन्न हैं। राम और सीता भी एक ही तत्त्व हैं और दोनों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

१. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० १७५
२. वही, पृ० ३५ एवं ३६
३. तुलनीय : अथर्ववेद के सीतोपनिषद् में सीता-शक्ति का रहस्य वर्णित है। वहाँ सीता ऊँकार से उत्पन्न, ब्रह्म की शक्ति तथा व्यक्त प्रकृति को रूप देने-वाली मूल प्रकृति है।

इसीलिए गोस्वामीजी ने सीता की वन्दना करते हुए राम के साथ उनका यही अभेद-सम्बन्ध दिखलाया है। सीता एवं राम का सम्बन्ध वाणी एवं अर्थ, जल एवं उसकी लहर के समान है।

**गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न-न-भिन्न।**
**बन्दउँ सीताराम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न ॥[1]**

उपर्युक्त दोहे में पहला दृष्टान्त गिरा एवं अर्थ का है, जो कालिदास से मेल खाता है—

**वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।**
**जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥**

वाक् और अर्थ की अभिन्नता शब्दशास्त्र का विषय है। सर्वसाधारण की प्रतीति के लिए उन्होंने सर्वबोधगम्य जल-वीचि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल पर आते समय गोस्वामीजी ने शब्द-योजना की विशेषता के कारण एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। पहली बार स्त्रीलिंग-द्योतक उपमान पहले रखा गया है, दूसरी बार पीछे। शक्ति के उपासकों के लिए शक्ति की प्रधानता है, शक्तिमान् की गौणता। पर, शक्तिमान् के उपासक के लिए शक्तिमान् की प्रधानता है, शक्ति की गौणता।

इस प्रकार दो प्रकार के उदाहरणों को रखते समय गोस्वामी जी ने इसे सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य ही नहीं बनाया है, प्रत्युत शक्तिरूपिणी सीता और शक्तिमान्-स्वरूप राम के द्विविध उपासकों को पृथक् रूप से पर्याप्त मात्रा में सन्तुष्ट कर दिया है। इस प्रकार युगल तत्त्व की वास्तविक एकता को गोस्वामीजी ने स्पष्ट किया है।[2]

## राम का प्रकाशकत्व :

अपने परम शक्तिमान् राम के सम्बन्ध में भी गोस्वामीजी का उद्देश्य यद्यपि सगुण अवतार की प्रतिष्ठा ही है, तथापि वे शक्तिमान् को कई स्थानों पर सच्चिदानन्द के नाम से सम्बोधित करते दिखायी देते हैं।

**राम सच्चिदानन्द दिनेशा। नहिं तहँ मोह निसा अवलेसा ॥[3]**

१. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० १५
२. ब० प्र० उपाध्याय : भागवतधर्म, पृ० २९४
३. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० ६९



राम का यह सत्, चित् एवं आनन्दमय स्वरूप सहज प्रकाश-रूप है। वहाँ अज्ञान-रूपी रात्रि का अन्धकार नहीं है। वहाँ कोई प्रभात नहीं। अहर्निश अखण्ड ज्योति विभासित है :

**सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना ॥[1]**

वे ही पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हैं, प्रकाश की निधि हैं और ब्रह्मा, इन्द्र आदि तथा शिव के स्वामी हैं :—

**पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।[2]**

'वैराग्य-संदीपनी' में राम के इस परमशक्तिमान् रूप को गोस्वामीजी ने और भी स्पष्ट कर दिया है :

**अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो।**
**मायापति सोइ राम, दास-हेतु नर-तनु धरेउ ॥[3]**

यही राम समस्त जीव-जगत् को प्रकाशित करनेवाले हैं :

**सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥[4]**
**जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। ... ...**

राम का यह प्रकाश-रूप गोस्वामीजी के राम का प्रकृत रूप नहीं। उनका तो रूप है सगुणात्मक, जो शोभा की खान है और जिसके रूप का वर्णन करने में शारदा और शेष की भी मति सकुच जाती है।

**स्याम सरीरु सुभायँ सुहावन।**
**सोभा कोटि मनोज लजावन ॥** (बालकाण्ड, पृ० १८३)

## महामायापति :

यही नहीं, गोस्वामीजी ने महामायापति के रूप में भी भगवान् राम का स्मरण किया है। एक ओर उनकी शक्ति विश्वमोहिनी है, जिससे उनके स्वरूप को देखते ही लक्ष्मी भी विमोहित हो जाती हैं।[5] इसलिए तुलसी के राम 'महामाया-पति' हैं—

१. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० ६९
२. वहीं
३. तु० ग्रं०, द्वि० खण्ड, पृ० ९
४. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० ७०
५. बिश्वमोहिनी तासु कुमारी।
श्रीबिमोह जिसु रूप निहारी ॥ ( बालकाण्ड, पृ० ७७ )

**अस बिचारि मन माँहि भजिअ महामाया पतिहि ।**[1]

अतः गोस्वामीजी की शक्ति-भावना के साथ शक्तिमान् का तत्त्व भी शाक्त-दर्शन से प्रभावित जान पड़ता है। निर्गुण ब्रह्म का तो प्रकाश-रूप होता ही है, पर शाक्त-दर्शन में वर्णित शक्तिमान् का परम ज्योतिर्मय रूप ही है। वही शक्तिमान् महामायापति है। और सत्-चित्-आनन्द का स्वरूप है। राम का सगुण रूप तो लीला के निमित्त वर्णित हुआ ही है, पर राम का शक्तिमान् ब्रह्म-रूप भी यत्र तत्र झलक उठता है। गोस्वामीजी ने राम के प्रकाश-रूप और उनकी विमर्श-शक्ति को अपने काव्यमय स्वरूप में निखारकर रख दिया है।

अभेदात्मकता :

राम और सीता का अभिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए गोस्वामीजी ने शक्ति और शक्तिमान् के अभेद को सिद्ध कर दिया है। मनु-तपस्या के प्रसंग में मनु की अभिलाषा केवल प्रभु के दर्शन की ही पायी जाती है :

**उर अभिलाष निरन्तर होई । देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥**
**अगुन अखंड, अनंत अनादी । जेहि चिन्तहि परमारथबादी ॥**
**नेति नेति जेहि बेद निरूपा । निजानन्द निरुपाधि अनूपा ।**
**संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना । उपजहिं जासु अंसते नाना ॥**[2]

मनु की कामना के अनुसार तो ब्रह्म को एक विग्रह के रूप में ही प्रकट होना था। पर गोस्वमीजी ने ऐसा न करके सीता एवं राम के दो विग्रहों को प्रस्तुत कर डाला है।

**बाम भाग सोभति अनुकूला । आदिशक्ति छबि निधि जगमूला ॥**[3]

इसके पीछे कोई कारण तो अवश्य ही होगा और वह कारण है शक्ति एवं शक्तिमान् का अविभाज्य सम्बन्ध। शक्ति के बिना शक्तिमान् की स्थिति हो ही नहीं सकती, यह गोस्वामीजी को ज्ञात था। यही कारण है कि 'नील सरोरुह नीलमणि' की अतुलित शोभावाले राम के साथ 'आदिशक्ति' भी प्रकट होती हैं और उनकी महत्ता को स्पष्ट करने के निमित्त गोस्वामीजी आगे चलकर—

**जासु अंस उपजहिं गुनखानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥**[4]

१. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० ८२
२. वही, पृ० ८३,८४
३. वही, पृ० ८५
४. वही, पृ० ८५



कहकर आदिशक्ति का पूर्ण प्रभाव दिखलाते हैं। अतः राम का स्वरूप भी शक्ति-रहित कहीं नहीं है। वह नित्य शक्ति संयुक्त है।

तात्पर्य यह है कि गोस्वामीजी को पूर्णतः ज्ञात है कि सर्वविशेषणों से विशिष्ट परब्रह्म नित्य-द्विधाविग्रह-सशक्ति-ब्रह्म है, शक्ति-रहित ब्रह्म नहीं है। यही कारण है कि परम प्रभु अपने पूर्ण स्वरूप से अर्थात् शक्ति-संयुक्त होकर अवतरित होने का देवताओं को आश्वासन देते हैं :

**... ... ...। पराशक्ति समेत अवतरिहौं ॥**[1]

इसके साथ मनु एवं शतरूपा को भी स्पष्ट आश्वासन मिलता है कि—

**आदिसक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।**[2]

अयोध्याकाण्ड में भी राम-वन-गमन के प्रसग में जब शृंगवेरपुर में सुमन्त्र श्रीराम से महाराज दशरथ का संदेश कहते हैं—

**जेहि बिधि अवध आव फिर सीया । सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया ॥**
**... .. ... ...**
**पितु सदेसु सुनि कृपानिधाना । सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना ।**[3]

श्रीराम के मुख से इस शिक्षा को सुनकर श्री सीताजी ने स्वयं अपनी नित्य एकता एवं अभिन्नता के तत्त्व को प्रकट किया है :

**प्रभु करुनामय परम बिबेकी । तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी ॥**
**प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई । कहँ चन्द्रिका चदु तजि जाई ॥**[4]

छाया शरीर को छोड़कर भला किस प्रकार स्थित रह सकती है। सूर्य को छोड़कर उसकी प्रभा तथा चन्द्रमा को छोड़कर चाँदनी की भला कहीं स्थिति है। शरीर एवं छाया से नित्य अन्तर्भाव, सूर्य एवं प्रभा से दिन का सम्बन्ध तथा चन्द्रमा एवं चाँदनी से रात्रि का सम्बन्ध कहकर अहर्निश एकता का स्वरूप सीता ने स्पष्ट कर दिया है। इसीको प्रारम्भ में ही गोस्वामीजी ने गिरा-अर्थवाली उपमा से पुष्ट किया है तथा 'जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी' कहकर भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

१. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १०७
२. वही, पृ० ८८
३. वही, अयोध्याकाण्ड, प० २५४
४. वही

क्रिया-शक्ति सीता :

महर्षि वाल्मीकि से मिलन के प्रसंग में भी यह प्रमाण गोस्वामीजी वाल्मीकि के द्वारा दिलाते हैं :

**श्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।**
**जो सृजति जगु पालति हरति, रुख पाइ कृपानिधान को ।।**[1]

ब्रह्म की यही सीता-शक्ति सूर्यादि समस्त ज्योतिष्पिण्डों को प्रकाशित करती है। काल की समस्त प्रकार की कल्पनाओं में सीता-शक्ति का ही अनन्त विस्तार है। अतः सीता प्रकाशरूपा एवं कालरूपा भी हैं। उनका अग्निरूप विभिन्न तापमानों में जगत् की विभिन्न वस्तुओं के भीतर-बाहर स्थित रहकर उनका पोषण और संहार दोनों करता रहता है। समस्त जीवों में भूख और प्यास बनकर वही व्यक्त होता है। हवि ले जाने के लिए वही देवताओं का मुख बनता है। नित्य व्यापक अग्नितत्त्व उन्हीं की शक्ति है तथा सीमित काल में जलनेवाली आग में उन्हीं का निवास है।[2]

संभवतः इसी आधार पर गोस्वामीजी के राम पंचवटी में सीताहरण के पहले 'तुम पावक महँ करहुँ निवासा' के लिए सीता को भेजकर माया सीता के साथ निवास करने लगे हैं। माया-सीता ही रावण की लंका में जाती हैं और रावण-वध के बाद अग्नि में विलीन होकर मूल रूप में पुनः उसी अग्नि से आविर्भूत हो जाती हैं।

सीता के प्रकाश-रूप का वर्णन गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में भी किया है :

जयति श्री स्वामिनी सीय शुमनाशिनी, दामिनी कोटि निज देह दरसे[3] ।।

यही सीता, राम की आह्लादिका-शक्ति है :

**राम आनन्द-चैतन्य घन-विग्रहा शक्ति आह्लादिनी साररूपे ।।**[4]

निष्कर्ष यह कि सनातन ब्रह्ममय अनन्त रूप धारण करनेवाली क्रियाशक्ति ( सीता ) भगवान् की साक्षात् शक्ति हैं। उनके ( श्रीराम ) संकल्प-मात्र से सीता अपनी क्रियाशक्ति से जगत् को उत्पन्न कर स्वयं सगुण रूप में अवतीर्ण हो गयी हैं।

१. रा० च० मा० : अयोध्याकाण्ड, पृ० २६९
२. रामभक्ति-शाखा : रा० नि० पा०; पृ० १८
३. तुलसी-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड : पृ० ४७५, पाद में उद्धृत पद।
४. वही, पृ० ४७४, ,, पाद में उद्धत पद।



भगवान् का संकेत पाकर अपनी क्रियाशक्ति से वे व्यक्त एवं अव्यक्त जगत् की रचना करती हैं। निमेष, उन्मेष, सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह आदि समस्त शक्तियों में रहने के कारण वे भगवान की अभिन्न शक्ति मानी जाती हैं।[1]

त्रिपुरसुन्दरी सीता :

लीला-रूप में यही शक्ति (सीता) अपूर्व रूप, गुण एवं शक्ति की खान है। रावण की सभा में शूर्पणखा इसी रूपराशि का वर्णन करती हुई कहती है कि शत कोटि रति भी उसपर न्योछावर की जा सकती है :

**रूप रासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी ।।**[2]

'गीतावली' में ग्रामवधुएँ ऐसी रूपराशि को देखकर मोहित हो जाती हैं :

**सखि सरद-विमल-विधु बदनि बधूटी।**
**ऐसी ललना सलोनी न भई, न है, न होनी,**
**रत्यो रची विधि जो छोलत छवि छूटी ।।**[3]

पुनः—

**रूप की सी दामिनी सुभामिनी सोहति संग**
**उमहुँ रमा तें आछे अंग अंग ताके हैं ।।**[4]

यह शोभा सुन्दरता को भी सुन्दर करनेवाली है। वह ऐसी है मानों किसी कान्तिमय घर में दीपक की लौ जलाकर अपूर्व रूपच्छवि विच्छुरित कर रही हो। यही कारण है कि कवियों की सारी उपमाएँ इस सौन्दर्य का वर्णन करने में अशक्त-सी हो जाती हैं—

**सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई ।।**
**सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेह कुमारी ।।**[5]

प्रस्तुत सौन्दर्य-वर्णन में स्निग्धता है। रूप की वह जलती आग नहीं, जो वासनाओं के उद्दीपन का कारण बनती है। इसमें सात्त्विक सम्मोहिका शक्ति है :

१. तुलनीय : सीतोपनिषद् शक्त्यासना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः
साक्षाच्छक्तिरिति ।। —प्रयाग, १९२४।
शश्वद् ब्रह्ममयंरूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता ।।
२. रा० च० मा० : अरण्यकाण्ड, पृ० ३९२
३. वही, द्वि० ख०, पृ० ३३४
४. वही, पृ० ३३८
५. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १३०

**रंगभूमि जब सिय पगु धारी । देखि रूप मोहे नरनारी ।।**[1]

और, यही कारण है कि जहाँ गोस्वामीजी अन्यत्र '**मोह न नारि नारि के रूपा**' कहते हैं वहाँ यहाँ की स्त्रियों के विमोहित हो जाने का भी उल्लेख करते हैं। यह त्रिपुर-सुन्दरी का ही रूप है, जो गोस्वामीजी के विमल मानस में स्थल-स्थल पर प्रकट हुआ है।

सीता की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह जगत् की माता हैं तथा रूप का आगार हैं। सभी उपमाएँ लघु जान पड़ती हैं; क्योंकि वे प्राकृत नारियों के रूप-वर्णन में प्रयुक्त हो चुकी हैं। सीता के रूप-वर्णन के लिए यदि कोई उपमा दी भी जाय तो वह ठीक न होगी और ऐसा अपयश भला कौन कवि लेगा? अगर किसी स्त्री से उपमा दी जाय तो ऐसी रमणीय स्त्री संसार में कहाँ है? यदि सरस्वती की उपमा दें तो वे बहुत मुखर हैं। यदि पार्वती की उपमा दें तो वे आधी ही हैं (अर्द्धांगिनी) हैं। रति, पति के अंग-रहित होने के कारण महादुःखी ही हैं। जिस लक्ष्मी के विष एवं वारुणी दोनों भाई हैं, उससे तो सीता की उपमा दी ही नहीं जा सकती।[2] इस प्रकार उपमानों की व्यर्थता सिद्ध करते हुए गोस्वामीजी अपनी विलक्षण प्रतिभा से एक दिव्य कल्पना करते दिखायी देते हैं :

**जो छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ।।**
**सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ।।**
**एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल ।**
**तदपि सँकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल ।।**[3]

अगर छवि-रूपी अमृत का समुद्र हो और दिव्यरूप का ही कच्छप हो, शोभा की रस्सी हो, शृंगार की मथानी हो और स्वयं कामदेव अपने हस्त-कमल से उसका मंथन करें और ऐसी विधि से सुन्दरता एवं सुख का मूल कारण एक लक्ष्मी (शोभा) की उत्पत्ति हो, तब भी संभवतः संकोच ही करते हुए कविगण उस शोभा से सीताजी की तुलना कर सकेंगे।

विवाह के प्रसंग में भी गोस्वामीजी पुनः इस सौन्दर्य का वर्णन करते दिखायी देते हैं :

**सिय सुन्दरता बरनि न जाई । लघुमति बहुत मनोहरताई ।।**
**.............................। रूप रासि सब भाँति पुनीता ।।**
**सबहिं मनहिं मन किए प्रनामा ।.............................।।**[4]

---

१. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १३९
२. वही, पृ० १३८, १३९
३. वही, पृ० १३९
४. रामचरितमानस : बालकाण्ड, पृ० १७८



पुनः रंगभूमि में सीता की शोभा का वर्णन गोस्वामीजी विश्वविजयी शोभा के रूप में करते हैं :

**सखिन्ह मध्य सिय सोहत कैसे । छबिगन मध्य महाछबि जैसे ।**
**कर सरोज जयमाल सुहाई । बिस्व बिजय सोभा जेहि छाई ।।**
(बालकाण्ड, पृ० १४७)

जगदम्बा सीता :

यह रूप सब प्रकार से पवित्र है, यही कारण है कि समस्त संसार इनके चरणों में प्रणत है और देवतागण भी जगदम्बा को प्रणाम कर सुमन की वृष्टि करने लगते हैं :

**सुर प्रनाम करि बरसहिं फूला ।..........।।**[1]

गोस्वामीजी इसी जगदम्बा की कृपा के याचक हैं और इन्हीं का अवलम्ब लेकर अपने इष्टदेव को प्राप्त करना चाहते हैं। विनयपत्रिका में यह याचना निम्न रूप से व्यक्त की गयी है :

**कबहुँक अम्ब अवसर पाई ।**
**मेरिवो सुधि द्याइ बो कछु करुण कथा चलाई ।।**
⊠ ⊠ ⊠
**जानकी जगजननि जन की किये वचन सहाई ।।**[2]

रामचरितमानस में वन-यात्रा के प्रसंग में गोस्वामीजी ने एक तापस का प्रवेश कराया है। विद्वानों की राय में यह तापस स्वयं गोस्वामीजी ही हैं। गोस्वामीजी ने अपना भाव वहीं पर स्पष्ट कर दिया है :

**पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा । जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा ।।**[3]

अन्यत्र भी गोस्वामीजी जगदम्बा के श्रीचरणों के दर्शन के अभिलाषी दिखाई देते हैं :

**मेरी साहिबिनि सदा सीस पर बिलुसति**
**देवि क्यों न दास को देखाइत पायजू**[4]

जगदम्बा का यह रूप और अनेक स्थानों पर तुलसी-साहित्य में प्रकट हुआ है। यह मातृभाव गोस्वामीजी का भाव है। शक्ति (सीता) की आराधना में इसी

---

१. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १७८
२. तु० ग्र०, द्वि० खण्ड, अन्यत्र भी कवितावली—
जगदम्बा जानकी जगत पितु राम भद्र—द्रष्टव्य : तुलसी ग्र०, भाग २, पृ० १५९
३. रा० च० मा० : अयोध्याकाण्ड, पृ० २६२
४. तु० ग्र०, भाग २, पृ० २३१

भाव का सहारा लेकर भक्त भगवान् को प्राप्त करता है। इसी हेतु गोस्वामीजी बहुविध रूपों में जगदम्बा की प्रसन्नता की याचना करते दिखाई देते हैं। यह नहीं कि उन्होंने मातृभावना को पूर्ण प्रधानता देकर राम को गौण कर दिया हो। पर, अभेद मानकर ही दोनों का अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। पुनः वे निरन्तर सीता से राम की भक्ति की ही याचना करते दिखाई देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि सीता का महत्त्व इस रूप में गौण हो गया हो। उत्तरकाण्ड में गोस्वामीजी ने इसे अधिक स्पष्ट कर दिया है।

## सीता का आश्रिता रूप :

जगज्जननी सीता, जिनकी उमा, रमा, ब्रह्मा आदि देवता निरन्तर वंदना करते हैं, जो सदा प्रशंसनीया हैं तथा जिनके कृपा-कटाक्ष की दृष्टि के सभी देवता अभिलाषी हैं, वे ही, निश्चल भाव से भी राम के चरण-कमलों में अपने भाव को पूर्णतः विलीन कर, आसक्ति रखती हैं :

**उमा-रमा-ब्रह्मादि वन्दिता। जगदम्बा संततम निंदिता॥**
**जासु कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ।**
**राम पदारविंद रति करति सुभावहि खोइ॥[१]**

उपर्युक्त पंक्तियों में जहाँ सीताजी की स्वतंत्र स्थिति है वहाँ आश्रिताभाव भी साथ ही कथित है। ये दोनों भाव एक होते हुए भी विलग हैं तथा विलग होते हुए भी एक ही हैं।

## सहज आकर्षण : अनन्त आकर्षण :

फलतः लीला-शरीर में भी दोनों का एक-दूसरे के प्रति सहज आकर्षण है। शक्ति शक्तिमान् से विलग रह ही नहीं सकती। शक्ति से युक्त होकर ही शक्तिमान्, शक्तिमान् की संज्ञा प्राप्त करते हैं। बालकाण्ड में फुलवारी के प्रसंग में यह आकर्षण बड़े ही पवित्र तथा मर्यादित रूप में वर्णित हुआ है

नारद के वचनों का स्मरण होते ही सीताजी के हृदय में पवित्र प्रीति का उदय होता है।[२] वह प्रीति सहज है, स्वाभाविक है। यह रूप-दर्शन का आकर्षण नहीं है। इसकी सहज चुम्बकीय स्थिति है।

१. रा० च० मा० : उत्तरकाण्ड, पृ० ५७८
२. वही, बालकाण्ड, पृ० १२९ :
सुमिरि सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत॥



**अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।**
**सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥[१]**

यहाँ पर यह विचारणीय है कि शक्ति के लिए 'शशि' उपमान का प्रयोग भी शाक्त-मतानुसार प्रतीकात्मक ही है।

पुनः **भए बिलोचन चारु अचंचल।**
**मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल॥[२]**

में पूर्ण सम्मोहन की स्थिति का उल्लेख है।

इधर सीता की भी स्थिति पूर्ण सम्मोहिता की ही है :

**देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥**
........ ......... .......
**अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥[३]**

सीता, **'लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।'**
से भावात्मक रूप में पूर्णतः राम की हो जाती हैं, राममय हो जाती हैं और राम भी सीता के चित्र को हृदय में धारण कर लेते हैं :

**परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्हीं॥[४]**

यही शक्ति एवं शक्तिमान् के अनन्त आकर्षण का प्रतिफल है। सृष्टि में यह संयोग निरन्तर होता रहता है। यही अभेदत्व की स्थिति है।

पुनः बालकाण्ड में ही रंगभूमि में जब राम और लक्ष्मण का प्रवेश होता है, तब वहाँ भी—

**'रामहि चितव भायँ जेहि सीयः। सो सनेहु सुख नहिं कथनीया॥'[५]**
में इसी अनन्त आकर्षण के स्नेहसुख की अनिर्वचनीयता को प्रकट किया गया है। विवाह के समय भी यह दृष्टि-विनिमय होता है :

**सिय राम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै।**
**मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रकट कवि कैसे करै॥**
—बालकाण्ड, पृ० १७८

१. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १३०
२. वही, पृ० १३०
३. वही, पृ० १३१
४. वही, पृ० १३२
५. वही, पृ० १३६

**शक्तिपात :**

सीता ने चकित चित्त से श्रीराम को देखना चाहा और इस चेष्टामात्र में सभी राजा मोहवश हो जाते हैं :

**सीय चकित चित रामहि चाहा । भए मोहबस सब नरनाहा ॥**[1]

यह शक्ति का सहज गुण है । राजाओं की यह विमोहावस्था-मात्र नहीं है । शाक्त-सिद्धान्त के अनुसार यह शक्तिपात या अनुग्रह है । श्रीसीता का यह अनुग्रह ही है, जिसमें समस्त प्राणियों की विमोहावस्था हो जाती है ।

समस्त कथा-प्रवाह में राम और सीता का यह चिरन्तन आकर्षण चलता रहता है ।

(१) **नीके निरखि नयन भरि सोभा ।.................।**[2]
(२) **प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।**
**खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल ॥**[3]
(३) **पुनि-पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मनु सकुचैन ।**
**हरत मनोहर मीन छबि प्रेम पियासे नैन ॥**[4]
(४) **प्रभु तन चितइ प्रेम तन ठाना ।.................।**[5]

**आलौकिक प्रीति :**

और, यह प्रेम अत्यन्त गूढ़ है, जहाँ अद्वय-स्थिति हो जाती है :

**तन सकोचु मन परम उछाहू । गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू ॥**
**जाइ समीप राम छबि देखी । रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥**[6]

गोस्वामीजी सात्त्विक भावों का वर्णन करने में भी नहीं चूकते—

**सुनत जुगल कर माल उठाई । प्रेम बिबस पहिराइ न जाई ॥**[7]

माला पहनाने के उपरान्त राम और सीता की जोड़ी मानों छवि एवं श्रृंगार की मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें परस्पर अलौकिक प्रीति है ।

---

१. रा० च० मा० : बालकाण्ड-पृ० १३९
२. वही, पृ० १४४
३. वही, पृ० १४४
४. वही, पृ० १८३
५. वही, पृ० १४५
६. वही, पृ० १४७
७. वही



**सोहति सीय राम कै जोरी । छबि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी ।**[1]

इस शोभा को देखकर उमा-समेत पुरारि में भी सात्विक भाव का उदय हो जाता है—

**पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि ॥**[2]

तथा अन्य दर्शकों की राजा जनक के समान विदेह-स्थिति हो जाती है :

**भए मगन सब देखनिहारे । जनक समान अपान बिसारे ॥**[3]

यह अलौकिक प्रीति वन-गमन के प्रसंग में और भी मुखर हो गयी है । सीता, राम के बिना लौकिक शरीर में एक पल के लिए भी विलग नहीं रह सकतीं । यद्यपि यह प्राकृत लोक की लीला है, पर आचरण प्राकृत नहीं । यह शक्ति एवं शक्तिमान् की अहर्निश लीला है :

**जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥**[4]

में भी इसी तर्क को प्रतिष्ठित किया गया है । नदी की सार्थकता तथा देह की सार्थकता क्रमशः जल एवं प्राण से है । उसी प्रकार शक्ति भी शक्तिमान् से विलग नहीं रह सकती ।

**सीता का व्यक्त तथा अव्यक्त रूप**

पावक में निवास करने पर सीता के दो रूप दिखलाई देते हैं—एक अव्यक्त रूप तथा दूसरा व्यक्त रूप । व्यक्त रूप की मानुषी लीला है । अव्यक्त रूप में यह अग्नि-तत्त्व बनकर अहर्निश राम के साथ है, सृष्टि-तत्त्व के साथ जुड़ी है । यह भानु की प्रभा अथवा चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान है ।[5] एक के बिना दूसरे की स्थिति संभव ही नहीं है ।

वन में निवास करते समय भी इनके परस्पर नेह-सम्बन्ध का गोस्वामीजी उल्लेख करते हैं :

**छिनु छिनु पिय बिधु बदन निहारी । प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी ॥**
**नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी । हरषित रहति दिवस जिमि कोकी ॥**
**सिय मन राम चरण अनुरागा । अवध सहस सम बनु प्रिय लागा ॥**[6]

---

१. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १४८
२. वही, पृ० १७३
३. वही, पृ० १८१
४. वही, अयोध्याकाण्ड, पृ० २३८
५. रा० च० मा० : अयोध्याकाण्ड—प्रभा जाई कहँ भानु बिहाई ।
कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई ॥ (पृ० २५४)
६. वही, पृ० २७६

यह सुख अनुभवगम्य है। इसे वचनों से प्रकट नहीं किया जा सकता। यह सतत वर्त्तमान स्नेह है। इस स्नेह-व्यापार में देश एवं काल की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। गीतावली में गोस्वामीजी ने इस प्रेम-व्यवहार का संकोच-रहित वर्णन किया है—

**निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।**
**निजकर राजीवनयन पल्लव-दल उचित सयन।**
**प्यास परसपर पियूष प्रेम-पान की॥**
**सिय अंग लिखें धातुराग, सुमननि भूषण-विभाग,**
**तिलक करनि का कहौं कलानिधान की।**
**माधुरी विलास हास, गावत अस तुलसिदास,**
**बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥**[१]

तुलसीदास इस मिथुन-द्वय की लीला का जय-जयकार करते हैं—

**जय-जय रघुनन्दन जय जनकनन्दिनी।**[२]

श्रीराम के साथ 'वाम अंग वामावर विश्व वन्दिनी' सीता हैं। गीतावली के उत्तरकाण्ड में गोस्वामीजी ने प्रिया के प्रेम में पगे श्रीराम का वर्णन किया है :

**स्यामल सलोने गात आलसबस जँभात प्रिया प्रेमरस पागे॥**[३]

### कामकला में सात्त्विक अनुभव :

गोस्वामीजी ने राम एवं सीता की काम-कला का अन्य वैष्णव कवियों की तरह खुलकर वर्णन नहीं किया, कारण गोस्वामीजी मर्यादावादी थे। यही कारण है कि शुद्ध सात्त्विक अनुभवों का ही वे वर्णन करते दिखाई देते हैं। पर, संकेत अवश्य दे देते हैं।

इन्हीं आधारों पर डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने उनको रसिक-भावना का समर्थक होने का दावा किया है।[४] रसिक-भावना के मूल में शाक्त-भावना की कामकला की ही भावना विद्यमान है। इस हेतु गोस्वामीजी का उपर्युक्त वर्णन केवल लीला नहीं, लीला का मानवी व्यापार नहीं, यह शाक्त-तत्त्व से अनुप्राणित चिरन्तन सृष्टि-लीला ही है।

---

१. तुलसी-ग्रन्थावली, भाग-२, पृ० ३४५
२. वही, पृ० ३४५
३. वही, पृ० ४०४
४. रामभक्ति में रसिक-भावना का विकास, पृ० १०३



### साकेत लोक :

शक्ति एवं शक्तिमान् के इस लीला-क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने धाम के अधिष्ठातृ देव को नारायण, विष्णु, राम एवं कृष्ण नाम से सम्बोधित किया है तथा उनकी पुरियों को वैकुण्ठ, गोलोक अथवा साकेत की संज्ञा दी है। रामभक्त साकेत को अपने आराध्य की लीला-भूमि मानते हैं। द्वारका, मथुरादि अयोध्या के ही अंशभूत हैं। अयोध्या, नन्दिनी, सत्या, साकेत, कोसला, राजधानी, ब्रह्मपुर, अपराजिता इत्यादि नाम अयोध्या के ही हैं।[१] श्रीवशिष्ठ-संहिता में भी ३६वें अध्याय में साकेत-लोक का वर्णन आया है।[२] इस लोक में ही सीता के साथ राम की निरन्तर लीला होती रहती है।

भगवान् की अवतारी लीला का स्वरूप नित्य माधुर्यमय है। अतएव साकेत उनकी नित्यलीलास्थली है। यह साकेत दिव्यलोक है।

पुनः अयोध्या को ऐश्वर्य की लीला-भूमि माना गया है। इस प्रकार लीलामय के दो रूप हैं—एक दिव्यलोक में साकेत तथा दूसरा भूलोक में अयोध्या।[३]

अथर्ववेद में अयोध्या अथवा साकेत का वर्णन दिव्य प्रकाश से वेष्टित देवताओं की पुरी अथवा स्वर्ग के रूप में किया गया है तथा उसे अष्टचक्रों और नवद्वारों से युक्त बताया गया है :

**अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या।**
**तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥**[४]

वाल्मीकि रामायण में उसे अष्टपादपुरी कहा गया है, जो अष्टचक्रा का ही एक अन्य रूप है।

**चित्रामष्टपदाकारां वरनारी गणायुताम्।**
**सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्॥**[५]

इस प्रकार 'अष्टपदाकारां' से भाव यह निकलता है कि मूलाधार से लेकर शिव-शक्ति के केन्द्र तक जो आठ चक्र अवस्थित हैं, उनका प्रतीक यह मानव-शरीर अयोध्या है। दिव्य साकेत का दर्शन भी साधक सर्वप्रथम पिण्ड में ही करता है।

---

१. माधव : रा० भ० सा० में मधुरोपासना, बि० रा० प०, पटना, १९५७, पृ० ११०
२. वही, पृ० १५५। दे०, पृ० १८१
३. भ० प्र० सिंह : रा० भ० में र० स०, बलरामपुर, १९५७, प० २७३
४. अथर्ववेद १०।२।३१
५. वाल्मीकि-रामायण, १।५।१६

ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्कर व्याख्या) में स्पष्ट निर्देश है कि ईश्वर का आवास अयोध्या नगरी ही मर्त्यलोक की अयोध्या है। यह आठ चक्रों तथा नव द्वारों से वेष्टित है। यह त्रिकोणरूपा है तथा स्वर्ग के समान सुख देनेवाली है।[१]

यहाँ देखा जाता है कि वैष्णवों का साकेत शाक्तों के मणिद्वीप के वर्णन से मिलता-जुलता है। यहाँ सुधा-सिन्धु है और उसके मध्य में मणिद्वीप है।[२] इस द्वीप में नवरत्नमय नौ खण्ड हैं, जिनमें नौ रसों की लीला निरन्तर चलती रहती है। उसके मध्य खण्ड में, जो पद्मराग मणिमय है, वही शृंगारशाला है। यही आनन्द-भूमि है। अष्टकमल-दल की मानों यही कर्णिका है और इसके आठ और आठ खण्डों की अवस्थिति है।[३]

इसी साकेत धाम में रामचन्द्र, अपनी आह्लादिनी शक्ति सीता तथा अन्य परिकरों-सहित निवास करते हैं। यही दिव्य साकेत है।

रामचरितमानस में साकेत के लिए कोसलपुरी तथा अवध नाम आये हैं। गोस्वामीजी को साकेत का महत्त्व ज्ञात है, किन्तु उनकी भक्ति का पथ था अतएव, उन्होंने दिव्य साकेत का वर्णन नहीं किया। उनका उद्देश्य तो भगवान् राम का गुणगान करना था, गुह्य तत्त्वों का प्रकाश करना नहीं। फिर भी प्रसंगवश साकेत-धाम का वर्णन तुलसी-साहित्य में बार-बार आता है।

बालकाण्ड में ही विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति के प्रसंग में गोस्वामीजी अति पावन तीर्थ के रूप में अवधपुरी का वर्णन करते हैं, जिसके पार्श्व में कलिकाल के समस्त कलुष का निवारण करनेवाली सरयू नदी प्रवाहित है :

**बंदउँ अवध पुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि॥**[४]

इसी सिद्ध स्थल में गोस्वामीजी ने रामचरितमानस की रचना भी की थी; क्योंकि इस स्थल पर रामनवमी के दिन समस्त तीर्थों का आगमन होता है और इसी तिथि को असुर, नाग, खग, नर, मुनि तथा समस्त देवता आकर श्रीराम की सेवा करते हैं :

१. ललितासहस्रनाम, पृ० १७९
२. सुधाविद्धस्तल विततः कोटि योजनकस्य च।
तस्य मध्ये च कोट्यर्द्धयोजनं मणिद्वीपकर्म॥
—म० गो० ना० क० : ता० वा० में शा० द०, पृ० १७६
३. ता० वा० में शा० द० : म० गो० ना० कविराज; पृ० १७६ (पाद-टिप्पणी)
४. रा० च० मा० : बालकाण्ड, पृ० १३



**नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित्र प्रकासा।**
**जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥**
**असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा॥**[१]

पुनः इस धाम की महिमा का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि राम की यह पुरी बड़ी सुहावनी है। समस्त लोकों में विश्रुत यह अति पवित्र स्थल है। इस धाम की महिमा काशी की तरह है। यहाँ पर शरीर छूटने से मुक्ति मिल जाती है। यह पुरी मनोहर तो है ही साथ ही समस्त सिद्धियों की दायिका एवं मंगलकारिणी है—

**राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त विदित अति पावनि।**
**चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा॥**
**सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी॥**[२]

रामराज्य-अभिषेक के पश्चात् गोस्वामीजी लौकिक अयोध्या का अलौकिक वर्णन करते दिखाई देते हैं। पुरी की शोभा ऐसी अलौकिक है जिसे देखकर नारद एवं सनकादि मुनियों का वैराग्य भी भूल जाता है—

**नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा।**
**दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥**[३]

स्वयं भगवान श्रीराम भी अयोध्या को लौटते हुए कपियों को पुष्पक-विमान से नगर दिखलाते हुए उसकी महिमा का विशद वर्णन करते हैं—

**सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा।**[४]

यद्यपि भगवान का निवासस्थान वैकुण्ठ कहा जाता है जिसका भूरिशः वर्णन वेद और पुराणों ने किया है, फिर भी यह अति गुह्य तत्त्व है कि भगवान श्रीराम को अवधपुरी के समान अन्य कोई धाम प्रिय नहीं है। इसका भौगोलिक वर्णन भी श्रीराम कपियों से करते हैं—

**जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥**
**अवधपुरी सम प्रिय नहिं कोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ-कोऊ॥**
**जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उतर दिसि बह सरजु पावनि॥**

१. रा० च० मानस—बालकाण्ड—पृ० २४।
२. वही, बालकाण्ड —पृ० २४।
३. वही, उत्तरकाण्ड—पृ० ५७९।
४. वही, उत्तरकाण्ड—पृ० ५६३।

**जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं वासा।**
**अति प्रिय मोहि इहां के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी।।**[१]

यह भूमि राम की मात्र जन्मभूमि नहीं है,। यह उनकी लीलाभूमी भी है। यह लीलाभूमि एक ओर लौकिक है, दूसरी ओर अलौकिक है।

अवध के इस तत्त्व और प्रभाव को स्पष्ट रूप में काकभुशुण्डि ही जानते हैं। पहले तो उनको भी अवध के प्रभाव का पता ही नहीं लगता है। किन्तु, भक्ति के तत्त्व को जान लेने पर उनको अवध के प्रभाव का ज्ञान हो जाता है जिसका निगम-आगम एवं पुराणों ने वर्णन किया है—

**जदपि रहेऊँ रघुपति रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी।**
**अब जाना मैं अवध प्रभावा। निगमागम पुराण अस गावा।।**[२]

पुनः काकभुशुण्डि के माध्यम से गोस्वामीजी ने अवध का रहस्य उद्घाटित किया है—अर्थात् विना राम को हृदय में बसाये प्राणी को अवध के सत्य स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता—

**अवध प्रभाव ज्ञान तब प्राणी। जब उर बसहिं रामु धनुपानी।।**[३]

अस्तु, अवध और राम का अत्यन्त गूढ़ सम्बन्ध है। इसी हेतु, सुमित्रा अपने पुत्र लक्ष्मण के प्रति इसी तथ्य को प्रकट करती कहती हैं कि जहाँ राम का वास है, वहीं अवध है; दिन उसे ही कहा जायगा जहाँ सूर्य का प्रकाश हो। इस प्रकार, राम का अवध के साथ अविभाज्य सम्बन्ध है—

**अवध तहां जहां राम निवासू। तहँहि दिवस जहँ भानु प्रकासू।।**[४]

गोस्वामीजी यह स्पष्ट ही स्वीकार करते दिखाई देते हैं कि जिस प्रकार जगत् में भगवान के अवतारों की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार जीव के हृदय में भी उनकी आवश्यकता रहा करती है। इसीलिए गोस्वामीजी के सुराकार राम प्रत्येक मानव-हृदय का अयोध्या में विद्यमान बताए गये हैं।[१] यह धाम राम का निज धाम है।

**जे रामेश्वर दर्शन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक, सिधरिहहिं।।**[५]

---

१. रा० च० मानस—उत्तरकाण्ड—पृ० ५६३।
२. वही, — ,, —पृ० ६१९।
३. वही, —अयोध्याकाण्ड—पृ० २४३।
४. डा० बलदेव प्र० मिश्र—तुलसी दर्शन--पृ० १४५।
५. रा० च० मा०—लंकाकाण्ड—पृ० ४७५।



भगवान राम ने जिसे मम लोक कहा है, वही दिव्य साकेत है। अवध या कौसलपुरी उसका ही अपर नाम है। इसको जान लेने पर साधक स्वयं भगवत-स्वरूप हो जाता है—

**सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।।**[१]

अतः यह स्पष्ट है कि गोस्वामीजी साकेतधाम का महत्त्व वर्णित करते हुए उसे शरीरस्थ साकेत ही मानते हैं। यह शरीरस्थ साकेत शाक्तों के परासाम्बित् का पर्याय है, तथा इसी लोक की प्राप्ति के लिए गोस्वामीजी को श्रद्धा और विश्वास-रूपी भवानी और शंकर की ओर पदार्पण करना पड़ा।

नाम एवं मन्त्र :

भगवान के रूप, लीला और धाम की भाँति उनका नाम भी अप्राकृत एवं चिदानन्दमय है। इस नाम में अलौकिक शक्ति है। नाम के प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष एवं भगवत्प्रेम तक की प्राप्ति सम्भव है। नाम के जाग्रत होने पर इसके प्रभाव से सद्गुरु की प्राप्ति और तदनन्तर सद्गुरु से इष्टमंत्ररूपी विशुद्ध बीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के क्रमविकास से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और देह एवं मन की सारी मलिनता दूर होकर सिद्धावस्था का उदय हो जाता है।

भक्त के भाव-देह के विकास के साथ-साथ उसकी भावरंजित दृष्टि के सम्मुख इष्टदेवता का ज्योतिर्मय धाम आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। इसके पश्चात् भजन के प्रभाव से भावरूपी भक्ति के प्रेमभक्ति में परिणत होने पर पूर्ववर्णित ज्योतिर्मय धाम में इष्टदेवता का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। यही प्रेम की अवस्था है। इसके बाद भक्त और उसके इष्टदेव की पृथक् सदा विगलित होकर दोनों के स्वीभूत हो जाने पर रस की अभिव्यक्ति होती है। यही अद्वैत अवस्था है। इसी अद्वैतावस्था में भक्त के स्थायी भाव के अनुरूप अनन्त प्रकार की नित्य लीलाओं का आविर्भाव हुआ करता है।[२]

भगवान का नाम इस प्रकार रस के रूप में अपने-आपको प्रकट करता है। श्रीराम नाम भगवान का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रों ने इसी को तारक-ब्रह्म कहा है। यह प्रणव से अभिन्न है, जिसका ऋषि-मुनियों ने बार-बार संकेत किया है।

गोस्वामीजी ने नाम की महत्ता को अच्छी तरह परख लिया था। यह नाम

---

१. रा० च० मानस—अयोध्याकाण्ड—पृ० २७०।
२. गो० ना० क०—भारतीय संस्कृति और साधना—पृ० ४४९।

रघुवर का 'राम' नाम है। यह शब्द ब्रह्मरूप है और ब्रह्मा-विष्णु-महेश का प्राण है।

**बिधि हरिहरमय वेद प्रान सों। अगुण अनुपम गुण बिधान[१] सों।**

यही वह मन्त्र है जिससे भगवान शिव काशी में प्राणियों को मुक्ति दिया करते हैं। इसी का भगवान शिव तथा भवानी भी निरन्तर जाप करती रहती हैं—

**महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।**
**सहस नाम सम सुनि शिव बानी। जपि जेई प्रिय संग भवानी ॥[२]**

जो इस नाम का निरन्तर जाप करते हैं, वे ही गूढ़ रहस्यों को जानने में समर्थ होते हैं—

**जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥[३]**

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जप को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा है और उसे अपना ही रूप बताया है।[४] आगम-ग्रन्थों में जप की महिमा सर्वोपरि है ही, पर आगमाचार्यों ने मन्त्रों को दुर्गति से बचाने के निमित्त गोपनीय रखा। गोस्वामीजी पुराणों के स्वर में स्वर मिलाकर जपयज्ञ को त्रेता का साधन कहते हैं और कलियुग में केवल नाम को ही आधार मानते हैं।

**नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥[५]**

पर वह नाम राम ही है। वैसे तो भगवान के नामों की संख्या अपरिमित है।[६] पर उन मन्त्रों और नामों में राम की विशेष महिमा गायी गयी है। स्वयं नारदजी ने भगवान से यह वरदान माँगा था कि—

**राम सकल नामन्ह ते अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका ॥[७]**

रामोत्तरतापन्युपनिषद् में भी—

**गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरेष्वभीष्टदः।**
**वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममन्त्रः फलाधिकः ॥[८]**

१. रा० च० मा०—बालकाण्ड—पृ० १५।
२. वही, ,, —पृ० १५।
३. ,, ,, —पृ० १७।
४. यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि—गीता, अध्याय १०, श्लोक २५।
५. रा० च० मा०—बालकाण्ड—पृ० १९।
६. द्रष्टव्य—विष्णुसहस्रनाम।
७. रा० च० मा०—अरण्यकाण्ड—पृ० ४०७।
८. रा० उ० ता०-५/६।



यही राँ मन्त्र है जिसके विषय में गोस्वामीजी विलक्षण युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

**एक छत्र एक मुकुट मणि सब बरननिपर जोउ।**
**तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ ॥[१]**

रा का ˆ रूप तथा म का ˙ रूप सब वर्णों पर विराजमान रहनेवाला है। हम देखते हैं कि रेफ और बिन्दु की विस्तृत चर्चा गोस्वामीजी ने 'रामनामकला-कोषमणि-मंजूषा' में की है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। यह रकार और मकार दोनों वर्ण मधुर और मनोहर हैं! नाम और रूप में विचार करने पर नाम ही गोस्वामीजी को श्रेष्ठ जान पड़ता है। नाम से रूप की कल्पना की जा सकती है। तथा, नाम-स्मरण से स्नेह का प्रादुर्भाव होने पर रूप की झाँकी भी हृदय में प्रकाशित हो जाती है। परन्तु नाम के बिना रूप का पूरा परिचय न तो स्वयं हो सकता है और न दूसरों को कराया जा सकता है।

**देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।**
**रूप बिशेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहचाने ॥[२]**

राम से अधिक नाम के महत्त्व को सिद्ध कर एक ही पंक्ति में गोस्वामीजी रहस्य का उद्घाटन करते हैं—

**कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥[३]**

नाम जपते रहने से कभी-न-कभी श्रद्धा, विश्वास, प्रेम इत्यादि उमड़ ही पड़ेंगे। इसीलिए गोस्वामीजी ने भाव, कुभाव, अलख और आलस्य—सभी स्थितियों में नाम का जाप मंगलप्रद बताया है—

**भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥[४]**

मन्त्रों की शक्ति प्रबल होती है, यह गोस्वामीजी को ज्ञात है—

**मन्त्र परम लघु जासु बस बिधि हरिहर सुर सर्ब ॥[५]**

और, इसीलिए मन्त्र को गोस्वामीजी 'महामणि' कहते हैं—

**मन्त्र महामनि बिषम ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥[६]**

१. रा० च० मा०—बालकाण्ड—पृ० १६।
२. वही, ,, —पृ० १६।
३. ,, ,, —पृ० १९।
४. रा० च० मा०—बालकाण्ड—पृ० २०।
५. वही, ,, —पृ० १४३।
६. ,, ,, —पृ० २३।

उपर्युक्त चर्चा में 'नाम' और 'मन्त्र'—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। नाम से गोस्वामीजी का तात्पर्य स्पष्टतः राम से है, परन्तु मन्त्र नाम से भिन्न है। भगवान का कोई भी नाम सिद्धि के लिए मंत्र बन सकता है। पर प्रत्येक मन्त्र नाम नहीं हो सकता। गोस्वामीजी मन्त्र के प्रसंग में सर्वदा महामन्त्र का प्रयोग करते हैं। यही 'रा' रामाय नमः महामन्त्र है जिससे काशी में भगवान शंकर मुक्ति दिया करते हैं। गोस्वामीजी नाम और मन्त्र में स्पष्ट अन्तर मानते हैं। नाम का जाप उलटा भी हो तो लाभप्रद हो जाता है जैसा वाल्मीकि के साथ हुआ; पर मन्त्र की साधना तो कठिन साधना है, उसमें क्रम नहीं बदल सकता।

## मन्त्रों की तांत्रिक व्याख्या :

अथर्ववेदीय रामपूर्वतापन्युपनिषद् इस तथ्य को स्वीकार करती है कि राम मन्त्र का प्रभाव अनन्त है। शक्तिपुंज मन्त्रों के सभी गुण राममन्त्र में है। इस उपनिषद् ने तान्त्रिक विचार-परम्परा और योजना का उपयोग कर बड़े तर्कपूर्ण ढंग से राम की व्यापकता सिद्ध की है। र को तन्त्रों ने अग्नि-शक्ति का रूप माना है। यह अक्षर अग्नि-शक्ति से गर्भित अग्नि-बीज माना गया है, अतः र और आ युक्त राम अनन्त तेजोमय अग्नि-रूप हैं।

सीता से युक्त राम सम्पूर्ण विश्व के रूप हैं। और, उनके नाम का वर्णन सीताजी का ही वाचक है। तन्त्रों में म् बीज चन्द्रमा की शक्तियों से गर्भित माना गया है।[1]

विश्लेषण करने पर राम नाम में पाँच कलाओं की प्राप्ति होती है। इनके नाम क्रमशः—तारक, दण्डक, कुण्डल, अर्द्धचन्द्र एवं विन्दु हैं। साधक को स्थूल देह के समस्त तत्त्वों को नाम की प्रथम कला 'तारक' में लीन करना पड़ता है। पंचतत्त्वमय स्थूल देह के पाँचों तत्त्व जब साधना के प्रभाव से तारक में लीन हो जाते हैं तब सूक्ष्म देह के पाँचों तत्त्वों को दूसरी कला 'दण्डक' में लीन करना पड़ता है। इधर तारक भी स्थूल तत्त्वों को लेकर दण्डक में लीन हो जाता है। इसके बाद कारण देह के तत्त्व, नाम की तीसरी कला 'कुण्डल' में लीन हो जाते हैं। कारण देह की निवृत्ति के पश्चात्, शुद्ध सत्यमय महाकारण देह को नाम की चतुर्थ कला 'अर्द्धचन्द्र' में लीन करना पड़ता है। यह महाकारण देह जड़ होने पर भी शुद्ध है पर स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देह जड़ एवं अशुद्ध हैं। महाकारण देह के अर्द्धचन्द्र में लीन हो जाने के बाद कैवल्य देहमात्र बच जाता है।[2] यह विशुद्ध चित्स्वरूप है

१. रा० नि० पाण्डे : रा० भ० शा०—पृ० ५।

२. मनुष्य का स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह होता है, मायाचरण हट जाने पर महाकारण देह की प्राप्ति होती है।



और जड़-सम्बन्ध से रहित है। अर्द्धचन्द्र के बाद पाँचवी कला 'विन्दु' रूप से प्रसिद्ध है। विन्दु पराशक्ति सीताजी का स्वरूप है। विन्दुरूपा सीताजी का आश्रय लिये बिना श्रीराम का सन्धान नहीं मिल सकता है। रेफ ही भगवान श्रीरामचन्द्रजी हैं। विन्दुरूपिणी सीताजी और रेफरूपी भगवान राम मे जब अनुराग दृढ़ हो जाता है तब भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है।

तुलसी भेटें रूप निज बिन्दु सीय को रूप।
देखि लखै सीता हिये राघव रेफ अनूप॥[1]

## निष्कर्ष :

इस प्रकार, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गोस्वामीजी पर शाक्त-प्रभाव नहीं था। शक्ति-तत्त्व के व्यापक प्रभाव से यह सम्भव ही नहीं था कि कोई भी मत या कवि असम्पृक्त रह जाये। गोस्वामीजी ने तो लोकभाषा का सहारा लिया था और लोकमानस का शक्ति-तत्त्व दार्शनिक सिद्धान्तों से पुष्ट होकर गोस्वामीजी की रचनाओं में प्रकट हुआ। गोस्वामीजी को जनता में रामभक्ति का प्रचार करना था। उसके लिए उन्हें जब भवानी और शंकर का आधार लेना पड़ा तो साथ ही शक्तिवाद के तत्त्वों को भी अनायास ही स्वीकार करना पड़ा। लोकमानस के समीप रहकर ही गोस्वामीजी अपना ईप्सित सन्देश पहुँचा सकते थे और गोस्वामीजी ने यही किया भी; क्योंकि इस प्रकार रामभक्ति को सभी सम्प्रदायों में तीव्र विरोध का सामना नहीं करना पड़ा और प्रचार एवं प्रसार की सहज सुविधा प्राप्त हो गयी।

□

१. गो० तुलसीदास—श्री रामनामकला-कोषमणि-मंजूषा, दोहा ३५, पंचम सम्पुट।

# आचार्य केशवदास

## पीठिका :

यह सिद्ध है कि समाज प्रचलित एवं परम्परा से उठती शाक्त-भावना ने प्रायः सभी वैष्णव कवियों को प्रभावित किया। दर्शन-प्रकरण में यह निवेदित हो ही चुका है कि दर्शन का काव्य पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। यह दर्शन भावनात्मक रूप धारण कर काव्य को प्रभावित करता है। महाकवि केशवदास की शक्ति-भावना पर विचार करते समय कुछ मूल बातों पर विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह ध्यान में रखना होगा कि केशवदास किसी वैष्णव सम्प्रदाय से आबद्ध नहीं थे। अतः यह स्वाभाविक है कि उनकी काव्य-प्रेरणा का आधार समाज में रामभक्ति का प्रचार रहा हो। अथवा, संभव है उनके इष्टदेव भगवान राम रहे हों।[१] अथवा, शुद्ध काव्यरचना की दृष्टि से सारे सम्प्रदायों से मुक्त होकर उन्होंने अपने काव्य का नायक श्रीराम को लोकप्रचलित कथा के आधार पर बनाया हो।[२] इन सारे तथ्यों की नींव पर ही महाकवि केशवदास की शक्ति-भावना पर विचार किया जाना चाहिये।

केशवदास गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। अनुश्रुति है कि गोस्वामीजी द्वारा साक्षात्कार अस्वीकार कर दिये जाने पर केशवदास ने मात्र एक ही रात्रि में रामचंद्रिका की रचना कर डाली। अनुश्रुति में सत्यता न भी हो, पर केशव की रामकथा का विकास अनियमित है तथा कई स्थलों पर कथासूत्र टूटता-सा दिखाई देता है। केशव ने अपने पाण्डित्य एवं ऐश्वर्य-ज्ञान[३] का रामकथा में सुन्दर उपयोग किया है।

---

१. केशवदास राम के भक्त थे पर उन्हें अपने पाण्डित्य का विशेष ध्यान था। रा० पृ० १ —भाग २।

२. द्रष्टव्य : हि० सा० इ०—रा० शु०—पृ० १८१।

३. रामचन्द्रिका—उत्तरार्द्ध।



## राम-तत्त्व :

केशवदास की दृष्टि में राम पूर्ण ब्रह्म हैं और उन्होंने अवतार धारण किया है—

**सोई परब्रह्म श्रीराम हैं अवतारी अवतार मणि।।[१]**
**सब जानि बूझियत मोहि राम। सुनिये सो कहौं, जग ब्रह्म नाम।।[२]**

यह ब्रह्मपूर्ण ब्रह्म हैं जैसा उपनिषद्कारों का वचन है—

**पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरन।**
**बतावै न बतावैं और उक्ति को।।[३]**

राम का यह रूप, पूर्ण ज्योतिर्मय रूप है जिसने सगुण रूप में अवतार धारण किया है।[४] देखा जाता है केशवदास ने राम के सगुण रूप का नख-शिख-वर्णन किया है।[५] उनकी दृष्टि में, यह रूप आनन्द का धाम है।[६]

पुनः केशव ने राम और शिव में सम्बन्ध-योजना की है। वे गोस्वामीजी की तरह शिव को राम का भक्त कहते हैं।[७]

**उमा रमापति देव नहि रंग न रूप न भेद।।[८]**

पंचवटी का शिव के रूप में वर्णन केशव की अपनी उद्भावना है। यहीं पर सीताराम का निवास है और इससे शिव और राम का सम्बन्ध पुष्ट ही होता है।

केशव के राम ने अपनी प्रिया सीता की प्रसन्नता के लिए निर्गुण से सगुण रूप धारण किया है। साकेत में नित्य रूप से निवास करते हुए श्रीसीताजी ने भगवान राम से रण-लीला देखने की कामना की थी—

**निर्गुणते मैं सगुण भौ, सुनु सुन्दरि तव हेत।।[९]**

पर केशव के राम, रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में महल की स्त्रियों के साथ

---

१. रा० च०—पहला प्रकाश—१७।
२. वही, —उत्तरार्द्ध २५/२।
३. ,, —पूर्वार्द्ध १/३।
४. ,, ,, ६/१८, उत्तरार्द्ध २५/६।
है परिपूरण ज्योति तिहारी।
जाय कही न सुनी न निहारी।।
५. वही, —पूर्वार्द्ध ६/४६-५८।
६. ,, ,, २३/११।
७. ,, ,, ७/४५।
८. ,, —उत्तरार्द्ध २५/२७।
९. ,, ,, ३३/२२।

जल-क्रीड़ा करते हुए और सबको सुख देते हुए, रसिक-भक्तों के राम के रूप में दिखाई देते हैं। यहाँ वे ऐश्वर्य की मूर्ति हैं। पर केशव ने कहीं भी राम की मर्यादा में स्खलन नहीं आने दिया है :

सीता-शक्ति :

केशव ने अपनी मति की तुलना श्रीसीताजी से की है। कहा जा सकता है कि केशव ने अपनी भावना का तादात्म्य सीता से कर दिया था। और, सीता राम के चरणों में निरन्तर लीन रहा करती हैं—

**रामचन्द्र पदपद्मं, वृन्दारथ वृन्दाभिवंदनीयम् ।**
**केशवमति नूतनया, लोचनं चंचरीकायते ॥**[1]

रामाश्रिता-शक्ति :

राम के वक्ष पर शोभित होनेवाली मणि मानो जानकीजी के नित्य अनुराग का प्रतीक है।[2] सीताजी की लीनावस्था सर्वतोभावेन है। सीता और राम में कोई अन्तर ही नहीं है।[3] क्योंकि, सीता के मानस में, वचन में और कर्म में निरन्तर श्रीराम का वास है—

**मनसा वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम ।**
**तो सब सेना जी उठै होहि घटी न विराम ॥**[4]

रूपच्छवि :

सीता का रूप अतुलनीय है, अनेक उपमानों की संयोजना के परिश्रम से थक-कर केशवदास कह उठते हैं—

**रूप के ही रूपक तो बारि बारि डारिये ॥**[5]

पुनः सीताजी के मुख के वर्णन में व्यक्तिरेक-योजना के उपरान्त एक ही आश्रय शेष रह जाता है और वह अनन्वय-आश्रय अर्थात् सीताजी के मुख की तुलना सीताजी के मुख से ही हो सकती है—

**ताते मुख मुखै सखी कमलै न चन्द री ॥**[6]

यह रूप ऐसा अपूर्व है कि सात द्वीप, सात लोक एवं सातो रसातल को समस्त स्त्रियों के रूप सीता के समक्ष तुच्छ हैं।[7]

१. रा० च०—पूर्व०—१/१६ ।
२. ,, ,, ६/५४ ।
३. ,, —उत्त०—२६/२८ ।
४. ,, ,, ३६/१० ।
५. ,, —पूर्वा०—६/५६ ।
६. रा० च० –पूर्वार्द्ध—६/४२ ।
७. वही, ,, १२/५ ।



माया-शक्ति :

रावण जब सीता को हरकर ले जाता है तो हरी गयी सीता वास्तविक सीता नहीं। यह सीता की छाया है अर्थात् मायामयी सीता है।

शक्ति की मूलभूत एकता :

अग्नि-परीक्षा के समय सीता को केशवदास ने प्रचण्ड आभावाली चण्डिका से, भवानी से, सिद्ध कन्या एवं सरस्वती से उपमा दी है। ये सारी उपमायें संदेहालंकार के माध्यम से वर्णित हैं। स्पष्ट है कि उमा, रमा, ब्रह्माणी एवं सीता में केशवदास कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते थे। केशवदास ने सीता का चित्रण यद्यपि मानुषी भाव से किया है, फिर भी शक्ति की मूलभूत एकता का ज्ञान उन्हें था।

सीता-राम-अभेद :

सीता और राम का अद्वय सम्बन्ध है। केशवदास अगर श्रीराम को सिद्ध मानते हैं तो सिद्ध के भीतर निवास करनेवाली समस्त सिद्धियों का एकत्रीभूत रूप श्रीसीताजी का है।[1] अग्निदेव भी सीता की अग्नि-परीक्षा के उपरान्त भगवान राम को कहते है कि—

**हूजै कृपालू गहिजे जनकात्मजा या ।**
**योगेश-ईश तुम हो । यह योग माया ॥**[2]

सीता और राम का संयोग सुन्दरता एवं शृंगार का संयोग है। देखा जाता है कि गोस्वामीजी से यह भाव पूर्णतः मिलता-जुलता है।[3]

**छवि सिंगार मानहु एक ठौरी ॥** बालकाण्ड– पृ० १४८ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों की मण्डली ही सूर्यमण्डल हो और मानो इस सूर्यमण्डल के बीच में लक्ष्मीनारायण विराज रहे हों—

**केशव तीनहु लोकन को अवलोकि बृथा उपमा कवि टोहैं ।**
**सोभन सूरज मंडल मांझ मनो कमलापति सोहैं ।**[4]

सीता और राम के अविभाज्य सम्बन्ध का संकेत एक अन्य स्थल पर केशव-दास देते हैं जब सीता का निष्कासन हो गया है। सीता के वनगमन के पश्चात्

१. रा० च० २०/५, ६,७ ।
२. ,, ,, ६/२७ ।
३. रा० च० – पूर्वा—०२०/१३ ।
४. ,, उत्तरार्द्ध—२६/२२ ।
५. ,, पूर्वा०—६/४५ ।

रघुवंशियों का अपयश हो रहा है। शक्ति के बिना शक्तिमान की कोई स्थिति ही नहीं है। यही कारण है कि सीता के बिना सारी शक्तियाँ ही समाप्त-सी लगती हैं।[1]

सीता और राम के अद्वय सम्बन्ध के साथ-साथ केशवदास शिव और पार्वती का भी अद्वय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं।[2]

**साकेतधाम :**

साकेत के वर्णन में केशवदास ने उसे अष्ट द्वारों से युक्त वर्णित किया है। यह अष्टद्वार अष्टकमल दल का ही पर्याय है।[3] अयोध्यानगरी वैकुण्ठ के समान है। ब्रह्मा का कथन है कि जब से श्रीराम ने अयोध्या में अवतार लिया है वैकुण्ठ ही जैसे अयोध्या में उत्तर आया है।

**वरुणपुरी धनपतिपुरी, सुरपतिपुर सुखदानि।**
**सप्तलोक वैकुण्ठ कब, बस्यौ अवध में आनि॥[4]**

अयोध्या के वर्णन में केशव ने चमत्कारों की भरमार कर दी है और एक स्थल पर उसे भगवान शिव के ललाट के रूप में वर्णित किया है।[5] पर कहीं भी उसे शरीर के रूप में नहीं माना है। अवधपुरी का महत्त्व उससे ही है कि वहाँ भगवान राम का वास है।

**नाम-तत्त्व :**

केशबदास को राम के नाम का महत्त्व भी ज्ञात था। आपने रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में वशिष्ठ के मुख से राम नाम का माहात्म्य कहवाया है। राम नाम का मन्त्र स्वयंसिद्ध है। इसके लिए किन्तु विधि से सिद्धि की आवश्यकता नहीं। इसके उच्चारणमात्र से ही सिद्धि हो जाती है।

**कहैगो सबै नाम श्रीराम ताको। स्वयंसिद्ध है, शुद्ध उच्चारण जाको।[6]**

भगवान शिव मरणकाल में इसी नाम के आधार पर काशी में मुक्ति दिया करते हैं। नाम-तत्त्व के इस प्रभाव को वेद जानते हैं तथा वाल्मीकि-जैसे ऋषि भी इस तत्त्व को जानते हैं।[7] संसार में समस्त साधनों का मूल श्रीराम का नाम

१. रा० च०—उत्त०—३६/३०।
२. ,, —पूर्व०—४/२३।
३. ,, —उत्त०—३०/२३, एवं पूर्व०—८/४।
४. रा० च०—उत्त०—३३/६।
५ वही, ,, —१/४६।
६. ,, ,, —२६/५।
७. ,, ,, —२६/६, ११।



ही है, ऐसा केशवदास का विश्वास है—

**सबको साधन एक जग राम तिहारो नाम॥[1]**

केशवदासजी ने राममन्त्र और रामनाम को एक ही माना है। केशव के विषय में ऐसा लगता है कि वे साधक तो थे नहीं, इसी कारण इस अन्तर से अनभिज्ञ रहे हैं। लोकधर्म के निर्वाह के लिए रामनाम का महत्त्व वे स्वीकार करते थे और यही कारण है कि गोस्वामीजी के स्वर में स्वर मिलाकर उन्होंने उन्हीं के आदर्श पर रामनाम की महिमा का वर्णन किया है।

**प्रणायाम तथा तांत्रिक मन्त्रों का उल्लेख :**

शाक्त-भावना से केशवदास का परिचय था, इसमें किसी शंका का कारण नहीं दीखता। केशवदासजी के ग्रन्थों में डा० हीरालाल दीक्षित ने आनन्दलहरी का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ अनुवाद है। अगर यह केशव की प्रामाणिक रचना सिद्ध हो तो केशव के शाक्त-भावना से प्रभावित होने में कोई शंका ही नहीं रह जाती। प्राणायाम पर केशव ने अच्छी तरह विचार किया है और योग से भी उनका परिचय था।[2] तान्त्रिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित अस्त्रों की भी केशव ने चर्चा की है—

**वेद मंत्र तत्र शोधि अस्त्र शस्त्र दै भले॥**
**रामचन्द्र लक्खनै सुविप्र छिप्र लै चलै॥[3]**

**सरस्वती :**

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही सरस्वती की वन्दना की गयी है। पुराणों के अनुसार सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी हैं और विद्यादायिनी कही जाती हैं। किन्तु तन्त्रों में सरस्वती की महत्ता है जहाँ उन्हें चित्, स्वप्रकाश, नित्य-निरालम्ब और ज्ञान-स्वरूपा कहा गया है। ये तान्त्रिकों की कुण्डलिनी हैं।[4]

**निष्कर्ष :**

केशवदास ने राम-चरित के साधानात्मक तथा धार्मिक पक्ष की विशद व्याख्या नहीं की। उनका उद्देश्य था काव्य का सृजन करना। उन्होंने रामकथा की सम्यक् शृंखला का परित्यागकर केवल उन्हीं मनोरम स्थलों को चुना जहाँ उनकी काव्य-प्रतिभा चमक सकती थी। वैसे ही, उन्होंने शाक्त-प्रभावों से मूलतः परिचित होते हुए भी मात्र काव्य के प्रणयन की ओर ही दृष्टि रखी।

१. रा० च०—उत्तरार्द्ध—२५/४०।
२. रा० च०—उत्तरार्द्ध—२५/२२।
३. वही, —पूर्वार्द्ध—२/८८।
४. द्रष्टव्य : भारतीय प्रतीकविद्या, डा० जनार्दन मिश्र—पृ० ४६।

केशव-जैसे आचार्य के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे इससे अधिक विस्तृत वर्णन दे पाते, क्योंकि उनका उद्देश्य चमत्कारी प्रभाव दिखलाना था और चमत्कारी होने के लिए संक्षिप्तता का ही आश्रय लिया जाता है। सम्भवतः, यही कारण है कि केशव में काव्यास्वाद तो है, पर न तो वैष्णव और न शाक्त का ही गहरा रंग है। एक प्रचलित सामाजिक रिक्थ के रूप में उनका धार्मिक मतवादों से जितना परिचय था वही काव्य में अवतरित होकर आया है।

□

# मधुर-भाव के कवियों की शक्ति-भावना

## मधुर-भाव का परिचय :

'युगल सरकार श्री सीताराम' की मधुर लीलाओं के ध्याता और गायक सन्त रसिक अथवा भाविक नाम से जाने जाते हैं। इस वर्ग के भक्तों की अपनी एक अलग साधना-पद्धति और पृथक् भक्तमाल भी है। परिमाण की दृष्टि से सम्पूर्ण राम-भक्ति-साहित्य का दो-तिहाई से अधिक भाग रसिक-भक्तों द्वारा ही विरचित मिलता है। प्राचीनता के विचार से, साम्प्रदायिक विश्वासों के अनुसार, यह तुलसी की ऐश्वर्यप्रधान भक्ति-पद्धति से कम पुरानी नहीं है। रसिक-सम्प्रदाय के आचार्य बाल्मीकि रामायण को अपने आराध्य की शृंगारी लीलाओं का आदि-स्रोत मानते हैं। डा० भगवती प्रसाद सिंह ने रघुवंश, उत्तर रामचरित, जानकीहरण, हनुमन्नाटक इत्यादि का उद्धरण देकर इन कवियों की शृंगारभावना का परिचय दिया है। "वास्तव में, ये साधक नहीं, कवि थे; किन्तु थे इस भावना के समर्थक। अतएव उनकी रचनायें स्वयं साधनात्मक न होते हुए भी रसिक-साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि बन गयीं।"[1]

## मधुर-साधना का इतिहास :

राम की मधुर लीलायें कबसे शृंगारी भक्ति की प्रेरक बनीं, यह कहना निश्चित रूप से सम्भव नहीं है। ऐसा सम्भव है कि इस उपासना का प्रचलन हो जिससे इन कवियों ने प्रेरणा ली हो। आलवार-सन्तों से पहले ऐतिहासिक काल में अबतक माधुर्य-भाव से साधना में प्रवृत्त होनेवाले किसी रामभक्त का पता नहीं चलता। अग्रदासजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी भाषा में 'ध्यान मंजरी' की रचना कर रसिक-साधना का एक व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया। इसका कारण अधिकाशतः तत्कालीन परिस्थितियों का आग्रह था। मुसलमानों की छत्र-छाया में कृष्णभक्ति के प्रसार से बढ़ती हुई शृंगारी प्रवृत्ति समृद्ध हो चली थी। सूफी सन्तों के लिखे हुए प्रेमकथानकों तथा कबीरपंथियों की साखियों और शब्दों में उसके आध्यात्मिक रूप की अभिव्यक्ति निरन्तर हो रही थी। परम्परा से प्रसिद्ध राम-कथा में ऐश्वर्य की ही प्रधानता थी और माधुर्य के अंश को नगण्य समझा जाता था। यह भाव जब एकान्तसेवी साधकों के दायरे से निकलकर व्यापक

---

१. डा० भगवती प्रसाद सिंह—रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय—पृ० ७६।

रूप में भक्तों के बीच प्रचारित होने लगा तो सबसे पहले कृष्णभक्त प्रतिस्पर्धी के रूप में सामने आए। अग्रदासजी ने रामरसिकों का एक साम्प्रदायिक संगठन संगठित कर उन्हें कृष्णभक्तों के गोलोक से अधिक वैभवपूर्ण साकेत अथवा 'दिव्य अयोध्या' के लीला-विहारी सीताराम का ध्यान करने का उपदेश दिया। कृष्णभक्ति में भगवान की लौकिक लीलायें थीं। रामभक्ति को इस शाखा में उनका अलौकिक अथवा दिव्य साकेत विचार ही प्रमुख माना गया।[1]

गोस्वामी तुलसीदास की वाणी में चरम अभिव्यक्ति पाकर, गोस्वामीजी के तिरोहित होते ही, रामभक्ति की शाखाओं में गतिरोध उत्पन्न हो गया और वह न्यूनाधिक मात्रा में लगभग एक शताब्दी तक बना रहा। इस काल में कोई उत्कृष्ट चरितकाव्य नहीं रचा गया। जो रचनायें प्राप्त भी हैं वे शृंगारी साधना से सम्बन्ध रखती हैं।

## उत्तर तुलसीकाल में हीनभावना :

तुलसी के साहित्य की भावगरिमा, कलात्मकता और आदर्शों की श्रेष्ठता तथा उनकी अलौकिक वाणी से अभिभूत नये भक्त-कवियों को अपनी विद्वत्ता का कौशल दिखलाने का अवकाश नहीं रह गया। उनमें हीनभावना परिव्याप्त हो गयी थी।

दूसरे, शाहजहाँ तथा औरंगजेब के शासन की दमन नीति, नैतिक पतन तथा दशनामी गोसाइयों के आतंक से समाज में ऐसी अशान्ति एवं अव्यवस्था फैल गयी थी, जिसमें उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं था।

## मधुर-भाव का विकास :

उन्नीसवीं शती रसिक-साधना के साम्प्रदायिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण काल सिद्ध हुआ। इस काल में रसिक-भक्तों ने साधनापरक प्राचीन साहित्य का आलोड़न कर उसका एक व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया। वास्तव में, अग्रदास, बालकली, मधुराचार्य तथा रामसखे ऐसे तत्त्वज्ञ पूर्वाचारियों द्वारा प्रवर्तित एवं पोषित 'रहस्य-साधना' का पूर्णतम विकास इसी काल में हुआ। रसिक-भक्ति का जो स्वरूप आज हमें प्राप्त है उसका बहुलांश इसी काल के सन्तों की देन है।

किन्तु एक बात विचारणीय है कि ये रसिक-साधना के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रवर्तक नहीं थे। इन्होंने परम्परा से प्रचलित मूल ग्रन्थों को पल्लवित एवं प्रतिपादित किया। इन्होंने साम्प्रदायिक साधना को सुबोध, सुगम एवं सुरम्य बनाया जिससे रसात्मिका-रामभक्ति जिज्ञासु साधकों को अपनी ओर आकृष्ट करने

१. द्रष्टव्य—डॉ० भगवती प्र० सिंह—रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, पृ० ६६।



में समर्थ हो सकी। इस काल के भक्तों का आचार-विचार निर्मल एवं पवित्र था। ये सांसारिक प्रपंचों से विरक्त रहनेवाले प्राणी थे। ये युगलसरकार के दिव्य शृंगार में रस लेते थे और इनका सारा समय आराध्य के नाम, रूप, लीला और धाम के चिन्तन में बीतता था। इन्हें उपास्य को जिस रूप में चाहें पूजने की स्वतन्त्रता थी।[1] इस सम्बन्ध का ये आजन्म निर्वाह किया करते थे। इससे स्वभावतः सांसारिक सम्बन्धों से विरक्ति भी हो जाती थी।

## मधुर-भावना की विशेषतायें :

संक्षेप में इन रसिकों की निम्नलिखित विशेषतायें हैं जो इनकी साधना को समझने में सहायक हो सकती हैं :

**मध्यममार्ग**—रसिक साधकों ने भक्ति-पद्धति में व्यक्तिगत भाव-साधना के साथ लोकधर्म को भी उचित स्थान दिया है। अधिकांशतः शील एवं मर्यादा को तिलांजलि नहीं दी गयी। इनकी माधुर्यरति अथवा रसिकभावना की स्थिति ऐश्वर्य एवं शृंगार के मध्य में मानी गयी है।[2] इस नाते इन्हें मध्यममार्गी मानना चाहिये।

**भक्त-भगवान का सम्बन्ध**—भक्त एवं भगवान के बीच पारिवारिक भाव-सम्बन्ध की स्थापना इनकी दूसरी विशेषता कही जायेगी। भगवान से सम्बन्ध स्थापित होने पर इष्टदेव की अवतार-लीला में विविध पात्रों से भी भावनामय सम्बन्ध स्थापित करते हैं किन्तु सखीभाव के उपासकों का स्वामी से सीधा सम्बन्ध न होकर सम्बन्ध-स्थापना सीताजी के माध्यम से होती है। दार्शनिक दृष्टि से वे सीताजी की अंशभूता तथा अंगभूता हैं। यही कारण है कि सीताजी से पृथक् इनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इन रसिक सन्तों ने राम को, सामाजिक सम्बन्ध के जितने रूपों में और जितने निकट से देखा है वह अन्यत्र नहीं है। भक्तों ने यह सम्बन्ध युगल-उपासना के सिद्धान्त के अनुसार राम और जानकी दोनों पक्षों को लेकर स्थापित किया।

**मर्यादा-भाव**—माधुर्य-भाव की उपासना करते हुए भी इन भक्तों ने मर्यादा को सर्वदा अक्षुण्ण रखा है। सखीभाव के उपासकों ने भी राम के एक-पत्नीव्रत के सिद्धान्त के निर्वाह के लिए अपने को राम की आह्लादिनी शक्ति

१. द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत गीता—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

२. कहूँ प्रगट ऐश्वर्य अति, कहूँ संयोग वियोग।
जुगल संधि माधुर्य रति, नित्य दिव्य सुख भोग॥ —मामादास।
(डा० भगवती प्र० सिंह—पृ० १४८ से उद्धृत)।

सीता का अंश माना है। ये सभी सखियाँ मिथिला की हैं जो राम-विवाह के अवसर पर सीता के साथ परिणीता होकर राम के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई हैं। अतः कहीं भी मर्यादा का भंग नहीं है।

### दिव्य-रसाचार्य हनुमान :

दासों के लिए तो हनुमानजी भक्ति के आदर्श हैं ही पर वे हनुमानजी रसिक भक्ति के भी आचार्य माने जाते हैं। रसिक भक्ति दिव्य रस की साधना है और हनुमानजी को इस दिव्य रस का आचार्य कहा गया है। इसका कारण श्रीहनुमान का चरित्र ही है जिसमें विषयवासना का लेश नहीं है एवं एकनिष्ठ भक्ति है।

### तुलसी के प्रति निष्ठा :

पाँचवीं विशेषता है तुलसी के प्रति अगाध निष्ठा। इस सम्प्रदाय के भक्तों ने तुलसी के प्रति जो आदर एवं पूज्यभाव रखा है वह अद्भुत है। दास-भक्तों में तो तुलसी पूज्य हैं ही, पर उन रसिकों ने भी तुलसी को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

### तीर्थ-निष्ठा :

पुनः इस सम्प्रदाय के भक्त अयोध्या, मिथिला एवं चित्रकूट—इन तीन तीर्थों में गहरी आस्था रखते हैं। ये तीर्थ हैं और इन साधकों की साधनाभूमि। मिथिला—जगज्जननी जानकी की जन्मभूमि, अयोध्या—भगवान श्रीराम की जन्मभूमि एवं चित्रकूट युगलसरकार की विहार-स्थली है। यही कारण है, इन तीर्थों का सर्वाधिक महत्त्व है।

### मधुरालम्बन राम :

संक्षेप में इन साधकों की सामान्य विशेषताओं पर विचार करने के उपरान्त इनकी इष्टदेव-सम्बन्धी भावना पर विचार करना आवश्यक है। रसिक साधकों ने भगवान राम में अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। इनके विचार से भगवान राम के अलौकिक सौन्दर्य में जीवमात्र रम जाते हैं। यही इनके राम नाम की सार्थकता है। रामचरितमानस में भी गोस्वामीजी ने इस पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है।[1] यही रूपासक्ति है। राम का एक अन्य अर्थ विहारबोधक भी

१. द्रष्टव्य रा० च० मा०—नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधोर स्याम
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥
—बालकाण्ड—१४६



माना गया है। यही राम नित्य साकेत में दिव्य विहार करते हैं।

**रसिक सर्व सब ले कहत, रमु विहार को नाम।**
**रसविहार में जो रमहिं, रमु क्रीड़ा सो राम ॥[1]**

### राम का दार्शनिक रूप :

यह 'राम' शब्द स्वयं ब्रह्म का पर्याय है। बीजरूप से सभी कुछ राम में ही निवास करता है। वह नाम प्रणव का मूल है। इस नाम के सच्चिदानन्द विग्रह स्वरूप में ही रूप, लीला और धाम के चारों तत्त्व विद्यमान हैं। अतएव उनकी उपासना से साधक के हृदय में ज्ञान, योग, ध्यान, भक्ति इत्यादि साधना के सभी अंग आ बसते हैं और प्रभु का नित्य कैंकर्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है।[2]

### सीता का दार्शनिक रूप :

श्रीसीताजी का नाम षट्कलाओं का आश्रय है। वह सभी रसों का कोष और अनन्त ज्योतिर्मय है। वह कृपा, करुणा, वत्सलता, अनुकम्पा इत्यादि असंख्य दिव्य गुणों का धाम है। सांसारिक मोह में पड़े जीवों के लिए तो वह संजीवनी ही है। भगवान राम अपने नाम से अधिक सीताजी के नाम को महत्त्व देते हैं। अतएव भगवान राम का स्मरण रसिकलोग 'जानकीवल्लभ' के रूप में करते हैं।

सीता का अर्थ है—अपनी मधुर चेष्टाओं से वश में करनेवाली—'सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता'। इस शब्द को त्रिवर्णात्मिका माया का स्वरूप माना गया है।[3]

सीतोपनिषद् में 'सीता' शब्द में 'सकार' विष्णु का, 'ईकार' माया का, 'तकार' मोक्षप्रद सत्य का तथा 'आकार' अमृत का प्रतीक माना गया है। यह नाम अव्यक्तरूपिणी महामाया का विग्रह है।[4]

इन तीन वर्णों के अनुसार श्रीसीता के तीन रूप हैं—प्रथम, शब्द ब्रह्ममयी मूल प्रकृति, द्वितीय, पृथ्वी पर राजा जनक के द्वारा सीत (लांगल-पद्धति) से

१. नामशतक—श्रीरामचरण दास—पृ० ५।
२. डा० भगवती प्रसाद सिंह—रा० में र० सम्प्र०—पृ० २०५।
३. सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्माया मया भवेत्।
—सीतोपनिषद्—५,४।
४. सीतोपनिषद्—पृ० ४।

उत्पन्न होने के कारण जानकी या सीता, और तृतीय, अव्यक्तरूपा साकेत-विहारिणी सीता।[१]

अभेद-भावना :

सीता श्रीराम से अभिन्न हैं। सीता और राम एक ही ब्रह्मतत्त्व के दो रूप हैं। अतएव श्रीराम के सारे गुण सीताजी में भी हैं। साधना में प्रियापरत्व की विशेषता के कारण रसिकों ने उनमें सर्वांग सुन्दर प्रकाशमय रूप, स्वरमाधुर्य, पुरुषकारत्व, अखण्ड सौभाग्य, किशोरवय, संगीत-नृत्य-प्रवीणता, पराशक्तित्व, स्वाधीनपतित्व इत्यादि विशेषतायें मानी हैं? रसिकों का विश्वास है कि बिना प्रिया की अनुकम्पा से प्रियतम की कृपा नहीं प्राप्त हो सकती।

लीलानायिका सीता :

अस्तु, साकेत की लीलानायिका श्रीसीताजी ही हैं। वे भगवान राम की परा आह्लादिनी शक्ति हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इन तीन शक्तियों से समन्वित मूल प्रकृति रूप में वे पुरुष श्रीरामचन्द्र की नित्य भोग्या हैं। उनका आविर्भाव ही ब्रह्म की रमणेच्छा से हुआ है।[२] लीला में एक ही परमतत्त्व पति-पत्नी-रूप धारण कर आत्मविहार करता है।

**एकाकी नहिं रमन होइ, चहत सहायहि सोइ॥**
**रमत एक ही ब्रह्म तहँ, पतिपत्नी तन होइ॥**[३]

अंगजा सखियाँ :

श्रीसीताजी की अंगजा ३३ सखियाँ उनकी नित्य सखियाँ या लीला सहायिकायें हैं। रास में इसके अतिरिक्त अपने अंगों से वे सहस्रों उपशक्तियाँ उत्पन्न कर प्रियतम को सन्तुष्ट करती हैं।

राम और सीता का सम्बन्ध :

श्रीसीताजी मूलप्रकृति हैं और भगवान राम आदिपुरुष। उनकी साकेत-लीला पुरुष के साथ प्रकृति की नित्य क्रीड़ा का प्रतिरूप है। उनका नित्य सम्बन्ध है।[४] सीता के बिना राम और राम के बिना सीता के अस्तित्व की

१. प्रथमा शब्द ब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना उद्भावनकरी सात्मिका, द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना, तृतीय ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपा भक्तीति सीता इत्युदाहरन्ति। —सीतो० पृ० ४।
२. तुलनीय : बृहदारण्यक।
३. हरिबाल अली—नेह प्रकाश—पृ० २।
४. रामो न सीतया शून्यः सीतारामं न हि। —भु० मि० माधव—रा० म० में भ० पृ० १०६।



कल्पना ही नहीं हो सकती। वे अभिन्न हैं। राम और सीता शृंगार के नायक और नायिका हैं। वे जितेन्द्रिय और सच्चिदानन्दरूप हैं। उनके नित्य संयोग में वासना का लेश नहीं। उनकी समस्त क्रियायें एवं चेष्टायें भक्तों के भावोत्कर्ष के लिए है, अपनी इच्छापूर्त्ति के लिए नहीं। वे तो आप्तकाम हैं। रसिक भक्त उनकी विविध क्रीड़ाओं का ध्यान कर आनन्दमग्न होते हैं। रसिम भक्त निज सुख के भाव का परित्याग करते हैं। उनका विचार है कि लौकिक काम-भावना होने से दण्डकारण्य में सूर्पणखा की जो गति हुई, वही दशा होगी। लीला के ध्यान से विषयभोग की भावना समूल नष्ट हो जाती है।

अतः राम एवं सीता में सामरस्य है। स्वरूप एक ही हो तो रस न हो वहाँ भोक्ता भोग्य नहीं—एक ही लीला में दो हो जाता है—लीला में और लीला के रसास्वादन के लिए। यह अद्वैत में द्वैत है।[१]

लीला-रस :

लीला के रस में यह सारा विश्व डूबा हुआ है। विश्व की सारी सरसता का निर्माण उसके कणमात्र से हुआ है। आनन्द का मूलस्रोत लीला ही है। उसकी कणमात्र छींट भी जिन्हें लग गयी वे प्रभु की लीलाओं के चिन्तन और गान में विभोर हो जाते हैं। जो साधना से इसके आस्वाद के अधिकारी हो जाते हैं, वे मोक्ष की याचना नहीं करते। इसका स्वाद अनिर्वचनीय है। रसना उसका अनुभवमात्र कर सकती है, बखान नहीं कर सकती।

**छिन छिन पीवें छके नहिं, अमल अमी सरसाय।**
**बनादास जिमि गूंग गुड़, स्वाद कहा नहि जाय॥**

दिव्य-दंपति की साकेत-लीला के ध्यान की महिमा का गान करते हुए अग्रदासजी ने इसे आगम-साहित्य पर आधारित बताया है—

**सुनि आगम-विधि अर्थ कहुक जो भनहिं सुहायो।**
**यहु दंपति वर ध्यान यथामति बरनि सुनायो॥**[२]

शाक्त-प्रभाव :

अग्रदासजी के पहले से ही पाँचरात्र एवं वैष्णव तन्त्रों की परम्परा चलती आ रही थी। इसके अतिरिक्त शैव और शाक्तागमों का भी प्रचुर साहित्य

१. भु० मि० माधव : रा० म० में मधुरोपासना—पृ० १०६ (शिवसंहिता के आधार)
२. ध्यानमंजरी—पृ० २३।

निर्मित हो चुका था।[1] डा० भगवती प्रसाद सिंह ने अपने ग्रन्थ में उन शैव, शाक्त एवं वैष्णव ग्रन्थों के नाम गिनाये हैं जिनको महात्मा रामचरणदास ने आधार-ग्रन्थ माना है। विद्वानों की राय में भगवान राम की उपासना एक ओर तो वैदिकी है और दूसरी ओर तांत्रिकी भी। जहाँ एक ओर श्रुतियों में राम को पूर्ण ब्रह्म के रूप में माना गया है, वहाँ दूसरी ओर नारद-पाँचरात्र और शारदातिलक में रामोपासना का वर्णन है।[2] अग्रदास और गोस्वामी तुलसीदास के आविर्भाव के बहुत पहले से ही आगमग्रन्थों में विकसित रामोपासना में राम परात्पर ब्रह्म मान लिये गये थे और उनकी विहार-लीला का चित्रण होने लगा था।[3]

अगस्त्यसंहिता के अन्तर्गत तांत्रिक पद्धति के अनुसार क्रिया, राम-मन्दिरों का निर्माण, पूजन, मूर्ति-प्रतिष्ठा इत्यादि तथा रामावतार-सम्बन्धी उत्सवों आदि का वर्णन मिलता है। शाक्त तन्त्रों के आधार पर मंत्र, बीज, यंत्र-कवच, न्यास और मुद्रा की योजना कर इस ग्रन्थ को रामपूजा के सभी अंगों से परिपूर्ण बनाने का यत्न किया गया है।

अग्रदास के पूर्ववर्ती तथा समसामयिक राम-काव्यों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि रसिकसम्प्रदायों के सिद्धान्त के प्रसार के पहले भी, आगम-साहित्य के प्रभावस्वरूप, अद्वैत तथा श्रीसम्प्रदाय के अन्तर्गत रामोपासना में शृंगारी भावों का समावेश होने लगा था।[4] डा० बुल्के ने आनन्दरामायण, महारामायण आदि के प्रमाण देकर राम-कथा के ऊपर शाक्त-प्रभाव को स्वीकार किया है।[5]

विद्वानों के इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आगमों तथा साम्प्रदायिक रामकाव्यों के प्रणेता, राम-भक्ति में उत्तरोत्तर माधुर्य का गहरा पुट देते आ रहे थे। महात्मा अग्रदास के आविर्भावकाल में शृंगारी साधना एक प्रकार से युगधर्म का रूप धारण कर चुकी थी। अब तक की प्रचलित राम-कथा में ऐश्वर्य का ही प्राधान्य था। कृष्ण-भक्तों की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण गोलोक से भी अधिक

१. द्रष्टव्य : प्रस्तुत ग्रंथ का प्रथम अध्याय।
२. भुवनेश्वर मिश्र माधव : रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना—पृ० १०२।
३. भ० प्र० सिं० : रामभक्ति में रसिकसम्प्रदाय—पृ० ९३।
शारदातिलकम्—पृ० ३७० में स्कन्दयामल के निर्वाण-खण्ड का उद्धरण।
४. डा० भ० प्रसाद सिंह—रा० भ० में रसिकसम्प्रदाय—पृ० ९५।
५. डा० कामिल बुल्के—राम-कथा : पृ० ४७७-७८।



वैभवपूर्ण साकेत की सृष्टि हुई। कृष्ण के लीलामय रूप से अधिक लीला-विहारी सीताराम का ध्यान किया जाने लगा। कृष्ण-भक्ति में जहाँ भगवान की लौकिक लीलायें थीं, रामभक्ति की इस शाखा में भगवान राम के अलौकिक एवं दिव्य साकेत-विहार को स्थान मिला।

### पिण्ड-साधना एवं साकेत का महत्त्व :

साकेत को मानवशरीर का प्रतीक मानकर मूलाधार से लेकर आठ चक्रों की स्थिति बतायी गयी है। मध्य में ब्रह्मपुर-चक्र को ब्रह्म का निवासस्थल माना गया है। यह अयोध्या के मध्य में स्थित कनकभवन का प्रतीक है। इसी को आधार मानकर कनकभवन के मध्य में शयन-कक्ष की कल्पना की गयी है जिसमें परमपुरुष राम अपनी मूलप्रकृति सीता के साथ नाद-विन्दु-रूप शयन करते हैं।[1] यह शयन-कक्ष कनकभवन के अष्टकक्षों अथवा अष्टकुंजों में से एक है जहाँ अहर्निश, लीला-पुरुष की लीलायें चलती रहती हैं। साधक पहले अपने शरीर के भीतर हृदय-कमल में आराध्य के दर्शन करता। साधना पूरी हो जाने पर अर्थात् अपने दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करने के पश्चात् वह उसी रूप से साकेत की लीलाभूमि में प्रवेश करता है।

### मंत्र एवं आचार्य का महत्त्व :

इस लीला-राज्य में प्रवेश भगवान के अनुग्रह से और **आचार्य की मध्यस्थता** से प्राप्त होता है। मंत्र और आचार्य के बिना लीला-दर्शन नहीं होता है। रसिक भक्तों का विश्वास है कि भगवान का लीला-विहार नित्यधाम की भाँति, अवतार-लीला में भी, प्रकाश भेद से चलता रहा। चित्रकूट तक उनका रूप प्रपंच-गोचर था, किन्तु उसके बाद वह अप्रकट अथवा अदृश्य हो गया।

उपर्युक्त विवेचना से वह स्पष्ट है कि शाक्त-दार्शनिक तत्त्वों को रसिक-साधना में विशेष स्थान मिला। सीता को भगवान राम से अधिक महत्त्व दिया गया। उनकी कृपा की अधिक आवश्यकता समझी गयी। पुनः शरीर को ही साधना का स्थल मानकर चक्रों के आधार पर साकेत का वर्णन किया गया और साकेत-साधना शरीर-साधना का पर्याय बन गयी।

मंत्रों का महत्त्व बढ़ गया और मन्त्र में रां, श्रीं इत्यादि बीजों का समावेश किया गया। रामतापनीयोपनिषद् में षड्क्षर मन्त्र को तारक-मन्त्र कहा गया है। इस उपनिषद् में एक और उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इसमें रामपंचायतन का

१. तुलनीय : कामकला का यही अद्वय रूप शाक्त-दर्शन में स्वीकृत किया गया है।

आसन दो त्रिकोणों की पद्धति पर उल्लिखित है। दो त्रिकोणों का यह संयोग श्रीयन्त्र की ही पद्धति है। विदित है कि शाक्तों में त्रिकोण को योनि का प्रतीक माना गया है।

## तिलक की प्रतीकात्मकता :

हम देखते हैं कि वैष्णवों, शाक्तों एवं शैवों में तिलक धारण करने की प्रथा है। वैसे तो तिलक सम्प्रदाय का सूचक है पर तिलक की रेखायें निरुद्देश्य रेखायें नहीं, वे प्रतीकात्मक हैं। शैव तीन सीधी रेखायें ललाट के आर-पार धारण करते हैं। शाक्त इन तीन रेखाओं के अतिरिक्त एक रक्त-विन्दु भ्रू-मध्य के ऊपर धारण करते हैं तथा वैष्णव तीन उर्द्ध्व रेखाओं से तिलक खींचते हैं। शैवों का त्रिपुण्ड त्रिशक्ति का ही प्रतीक है। त्रिशूल का भी यही अर्थ है। शाक्तों का रक्त-विन्दु शक्ति का प्रतीक है। वैष्णवों की तीन उर्द्ध्व रेखायें भी ज्ञान, इच्छा एवं क्रियाशक्ति का ही प्रतीक हैं। दो श्वेत या दो पीत रेखाओं के बीच रक्त-रेखा ही क्रिया-शक्ति है। इस त्रिशक्ति में ही समस्त विश्व की साकार कल्पना है।[1] रसिकों में रक्त-रेखा के नीचे एक विन्दु भी धारण करने की प्रथा है। तिलक का यह विन्दु शाक्तों के रक्त-विन्दु का ही रूपान्तर है जो जगज्जननी सीताजी का प्रतीक है।

## रामार्चा-यन्त्र :

सम्प्रति वैष्णवों में रामार्चा-पूजन प्रचलित है। भगवान राम की यह सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सबसे बड़ी पूजा मानी जाती है। इस पूजन में पीले कपड़े पर इक्कीस कोष्ठ बनाकर यन्त्र का निर्माण किया जाता है। यह यन्त्र उपरिचर्चित साकेतधाम के वर्णन से मिलता-जुलता लगता है। विभिन्न कोष्ठकों में भगवान राम के विभिन्न परिकरों की क्रम-क्रम से पूजा करते हुए, तीन आवरणों की पूजा के पश्चात् अन्तिम आवरण में भगवान राम एवं सीता की षोडसोपचार पूजा की जाती है। यन्त्र होने के कारण इसमें भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्त्तियाँ नहीं बनायी जातीं, केवल ध्यान तथा मन्त्र से पूजा सम्पन्न होती है। रामार्चा-पूजन तथा कोष्ठकों के मात्र दर्शन का भी वैष्णवों में बड़ा महत्त्व है। दर्शन-खण्ड में श्रीयन्त्र पर बिचार किया गया है। यद्यपि श्रीयन्त्र एवं रामार्चा-कोष्ठकों में अन्तर है। किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही जान पड़ता है। श्रीयन्त्र को साधना से सिद्ध करना पड़ता है और यह सर्वसुलभ है भी नहीं; किन्तु रामार्चा सर्वसुलभ है और मात्र पूजा के अतिरिक्त किसी साधना-सिद्धि की आवश्यकता नहीं है। (देखिये चित्र)।

१. द्रष्टव्य : दर्शन-खण्ड।



अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शक्ति का चरम उत्कर्ष मधुर-भावना के कवियों में आकर हुआ। यहाँ (सीता) शक्ति अपने दार्शनिक एवं भावनात्मक दोनों रूपों में सर्वाधिक महत्त्व की हो गयी है।

यहाँ एक और तथ्य पर प्रकाश डालना आवश्यक है। रसिक-साधना अधुना गुह्य-साधना हो गयी है। रागात्मकता का आधार लेकर रसिक सीताजी की अंगजा सखी बनकर जो लौकिक आचरण करते दिखायी देते हैं—वह समाज में श्रद्धा से अधिक कौतुक का विषय हो गया है। इन लौकिक आचरणों में, माथे पर स्त्री की भाँति पल्लू ओढ़ना, सहयोगियों को सखी कहकर सम्बोधित करना तथा सखीभाववाले भक्तों के साथ मजाक करना आदि का उल्लेख किया जा सकता है। गुह्यता तभी आवश्यक होती है जब साधक को अपनी साधना में उपहासादि का भय हो या साधना-पद्धति का, सामाजिकता के स्तर पर सहज ही दूसरा निन्द्य अर्थ लगाये जा सकने की संभावना हो। मधुर-साधना की इस गुह्य साधना में अनेक गुह्य साधनाओं की तरह विकारग्रस्त हो जाने की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

□

# कृष्णाश्रयी शाखा

## सूरदास

### शक्ति-तत्त्व का भावनात्मक पक्ष :

वल्लभसम्प्रदाय के कवियों की पृष्ठभूमि में, शक्ति-तत्त्व की एक वृहद् परम्परा थी; किन्तु जयदेव से लेकर विद्यापति एवं चैतन्यदेव तक सगुण लीला-भाव में शक्ति-तत्त्व का अलौकिकता से भरा अगम एवं दुर्बोध रूप साधना की सुगमता और शक्ति का अवलम्ब धारण कर मानवीय कार्यकलापों में अपनी सहज दार्शनिकता से हाथ धो बैठा। शक्ति-तत्त्व के इस रूप-परिवर्तन में, लोकभूमि पर शक्ति-भावना को आसीन करनेवाले सिद्धों, सहजिया वैष्णवों का बड़ा हाथ था। पुराणादि वर्णित लीलाओं के साथ यह भाव मिल-जुलकर व्यक्ति-व्यक्ति के हाथों अनेक-अनेक लीला-व्यापारों को जन्म देनेवाला हुआ।

साधना का स्वरूप योग से हटकर भक्ति पर आ गया। भक्ति में नयी भाव-वृद्धि के कारण ज्ञेयता में आबद्ध रहनेवाला तत्त्व अब भावना में विलास करने लगा।

### वल्लभाचार्य की शक्ति-भावना :

वल्लभाचार्य ने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर अपने मत का प्रतिपादन किया था उसमें ब्रह्म की शक्ति श्रीराधा अद्वयभाव से श्रीकृष्ण (ब्रह्म) के साथ विराजमान हैं। धर्म-धर्मी की मूलभूत अभेद भावना के कारण वे दोनों पृथ्वी एवं गन्ध, तेज एवं प्रकाश, आकाश तथा व्याप्ति, जल एवं शैत्य के समान नित्य स्वाभाविक संयोगात्मक स्थिति में हैं। यहाँ न वह स्वकीया है न परकीया, वह सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम की मुख्य शक्ति स्वामिनी के रूप में ही हैं।[1] जगत् का निर्माण करने के पूर्व ब्रह्म की विभूति शक्तियाँ प्रकट होती हैं। उनमें श्री (लक्ष्मी) पहली शक्ति हैं। ये जगत्-निर्माण के पूर्व भगवान में ही स्थित रहती हैं। किन्तु जब भगवान जगत् के स्वामी के रूप में प्रकट होते हैं तब वे

१. व० उपाध्याय—भा० वा० में श्रीराधा—पृ० ७६।



उनकी भोग्या होकर स्वरूप धारण करती हैं। यही शक्ति आनन्दरूपा है।[1] ये ही राधा हैं और ये ही गोपियाँ हैं। सुबोधिनी (२।४।१४) में राधस को परम सिद्धि कहा गया है। तथा, उसी सिद्धि से भगवान अपने घर में रमण किया करते हैं। यह स्वरूपानन्द-विहार है।[2]

### बिट्ठलनाथ की शक्ति-भावना :

वल्लभाचार्य के उपरान्त बिट्ठलनाथ ने शक्ति-तत्त्व की राधा-रूप में उपासन की। अपने स्तोत्रों में उन्होंने श्रीकृष्ण की प्रेयसी राधा के चरणकमलों में अपनेको पूर्णतः निवेदित कर दिया है। राधाजी का कृपापात्र बनने की अभिलाषा ही उनकी चरमाभिलाषा है। उनके स्तोत्रों को पढ़ते समय अनायास श्रीमद्शंकराचार्य-रचित सौन्दर्यलहरी आँखों के समक्ष नाच उठती है। बिट्ठलनाथ की प्रार्थना दिव्य है और इसमें शक्ति का उदात्त तत्त्व मूर्तिमान हो उठा है। प्रियतम के समागम के समय जिस महान् उल्लास का आविर्भाव होता है, उसके दर्शनमात्र से मन की साध पूरी हो जाती है। वही जीवन का तर्पण है।

**भवतीनां प्रियसंगमसञ्जातमनोमहोत्सवेक्षणतः।**
**तर्पणमिह सर्वेन्द्रिय तृप्तिर्भवतात् मनोरथाधामे॥**

**—चतुःश्लोकी प्रार्थना**

बिट्ठलनाथ की राधा-भावना को हम शुद्ध शक्ति-भक्ति के रूप में मान सकते हैं। राधा त्रिपुर-सुन्दरी का पर्याय है तथा उनकी ही भक्ति से शक्तिमान-तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति एवं शक्तिमान का युगलरूप उपासना के क्षेत्र में राधा-कृष्ण हैं। अलौकिक शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों का ऐक्य तथा परमानन्द रस का पूर्ण परिपाक ही श्रीराधा-कृष्ण-तत्त्व है जिसमें लीला-भावना के अतिरिक्त अन्य स्वरूपात्मक विभेद नहीं है। दोनों ही एक रस हैं, एक स्वरूप हैं और एकात्मा हैं।[3]

१. यदा भगवान् स्वशक्ति रूपेणाविर्भूतस्तदा शक्तीनां मध्ये श्री : प्रथमा। सा शरीर एव बलवत् पूर्वस्थिता। यदा भगवान् प्रभुत्वेनाविर्भूतस्तदा सापि भोग्यत्वेनाविर्भूता भार्येव। ? सा ह्यरस्यानन्दरूपा॥ —भागवत सुबोधिनी (२।६।१३)।

२. न तादृक् सिद्धिः क्वचिद्न्यत्र, न वातमाऽप्यधिका।
तथा सिद्ध्या भगवान स्वगृहे एव रमते........॥

३. बलदेव उपाध्याय—भा० वा० में श्रीराधा—पृ० ८५।

## अष्टछाप के कवियों की विचारभूमि और शक्ति की लीला :

अष्टछाप के कवियों ने अपने काव्य में युगल भाव को अनेक रूपों में व्यक्त किया। इन कवियों ने अपने कविकर्म में सम्प्रदाय की भावना की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया। अतः पूर्वोक्त आचार्यों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही इनके काव्य में विराजमान हैं। पर कट्टरवादी बनकर दर्शन-सिद्धान्त या साम्प्रदायिक धर्म-सिद्धान्त के ही रूप में इन्होंने युगल-लीला को ग्रहण नहीं किया प्रत्युत भक्ति का जो अजस्र प्रवाह है, उसी में यह युगल-लीला परिपुष्ट होने लगी। इन्होंने अपने को राधा-भाव में प्रतिष्ठित कर महाभाव की उपलब्धि की। इस गोपी-भाव में ये कवि स्वयं राधा बन गए, स्वयं गोपी बने तथा सखी भी बने। प्रत्येक रूप में इन्होंने कृष्ण-प्रेम की ही आकांक्षा की। वल्लभसम्प्रदाय के अनुसार स्वयं आचार्य वल्लभ एवं उनके पुत्र बिट्ठलनाथ भगवान श्रीकृष्ण के अवतार माने गये हैं तथा अष्टछाप के कवि दिन को आठ सखाओं का तथा रात्रि को आठ सखियों का भाव धारण करते थे। सख्य भाव से सखा-रूप तथा मधुर-भाव से सखी-रूप में ये कवि श्रीकृष्ण के गोचारण इत्यादि में सखा-रूप हैं तथा शृंगारिक—कुंजलीला में सखी रूप हैं।[1]

इस लीला-भाव के कारण शक्ति-भावना पूर्णतः ब्रह्माश्रिता दिखलाई देती है। शक्ति की स्वतन्त्र स्थिति का अष्टछाप में वर्णन नहीं। ब्रह्म अपने अवतारी रूप में नाम, रूप, गुण एवं लीलाश्रित हैं। शक्ति भी उसी प्रकार नाम, रूप, गुण एवं लीलाश्रित हैं। शक्ति की शक्तिमान से मिलने की चेष्टा सर्वत्र है। साथ ही, शक्तिमान की भी शक्ति के लिए व्याकुलता है। प्रेम-तत्त्व का आधार ही शक्ति एवं शक्तिमान को परस्पर समीप खींच लाता है और यह प्रेम भक्ति से संवलित है। यह शक्ति शक्तिमान की प्रसन्नता के लिए निरन्तर सचेष्ट है। यह लोकलाज, समाज, परिवार सभी का परित्यागकर मिलन एवं विरह दोनों प्रकार के सुख-दुःख का भोग करने के लिए प्रस्तुत है। सारांशतः, सर्वत्र लीला ही लीला है।

## वृन्दावनधाम :

यह लीला वृन्दावन में निरन्तर चलती रहती है। ऐसा इन भक्तों का सामान्य विश्वास है। वस्तुतः, यह वृन्दावन ही कैलाश है तथा यही साकेत है।

---

१. द्रष्टव्य—दीन दयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय : पृ० ५०६, प्रयाग, १९४७
चैतन्य के भी गदाधर आदि पार्षद राधादि अष्टसखियों के अवतार माने जाते थे।—पृ० २८४ (भा० वा० में श्रीराधा)



## सूर का वृन्दावन-वर्णन :

सर्वप्रथम सूर के सन्दर्भ में हम उपर्युक्त तथ्यों की परीक्षा करें। सूर ने भी वृन्दावन को ही नित्य लीला का धाम माना है—

> नित्य लीला, नित्य आनंद नित्य मंगल गान।
> सूर सुर मुनि मुखनि अस्तुति, धन्य गोपी कान्ह ॥ ३४६० ॥

पुनः इस स्थान का निर्देश स्पष्ट शब्दों में सूर करते हैं—

> **नित्य धाम वृंदावन[1] स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजधाम ॥**
> **नित्य रास, जल नित्य बिहार। नित्य मान, खंडिताऽभिसार ॥**
> **ब्रह्म रूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येइ सार ॥**
> **नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर ॥**
> **सदा बसंत रहत जहँ बास। सदा हर्ष, जहँ नहीं उदास ॥**
> ॥ सू० सा० —३४६३ ॥

वृन्दावन की लोकोत्तर स्थिति को स्पष्ट करते हुए पद्मपुराण के अध्याय ७५ श्लोक ८ में वृन्दावन को निजरम्य धाम कहा गया है। कालिन्दी परमामृत-वाहिनी सुषुम्ना नाड़ी है। इसमें स्नान कर नारद भी स्त्री-रूप धारण करते हैं और एक वर्ष तक कामकलात्मक, योषितानन्द-हृदय, सच्चिदानन्द एवं सनातन कृष्ण के साथ उनकी प्रिय पुरी वृन्दावन में रमण करते हैं।[2]

यह वृन्दावनधाम सहस्रार कमल का समकक्ष ही है। जिस प्रकार सहस्रार में शिव विराजते हैं उसी प्रकार यहाँ वृन्दावन में कृष्ण का निवास है। यहीं शिव-शक्ति का दिव्य मिथुन-भाव या राधा-कृष्ण की रासलीला चलती रहती है।

---

१. पद्मपुराण के पातालखण्ड में अध्याय ६९ में वृन्दावन का महत्त्व दिखलाया गया है :

> सात्वतां स्थान मूर्धन्यं विष्णोरत्यन्त दुर्लभम्।
> नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम् ॥ ८ ॥
> पूर्ण ब्रह्म सुखैश्वर्यं नित्यमानन्दभव्ययम्।
> बैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि ॥ ९ ॥

२. डा० मुंशीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूर-साहित्य (१९५३) पृ० ४२६।

लोक में मधुररस सबसे नीचा समझा जाता है। इससे श्रेष्ठ बात्सल्य, सख्य, दास्य, फिर शान्त रस की क्रमशः प्रतिष्ठा है। वैष्णव भक्ति में शान्त-रस का निर्गुण या ब्रह्मलोक सबसे नीचे हैं। उसके ऊपर दास्य रूप वैकुण्ठ तत्त्व है। यहाँ नारायण का निवास है। उसके ऊपर सख्य का गोलोक और सबसे ऊपर मधुररस का वृन्दावन है जहाँ परमब्रह्म अपनी शक्तियों के साथ क्रीड़ा करते हैं।[1]

### महाभाव :

शक्ति से अभिन्न होकर लीला में सहयोगी बनना ही महाभाव है। यह सांसारिक विषय नहीं, अलौकिक भाव है। साधक को शक्ति के रूप में अभिन्नता प्राप्त करने के लिए शक्ति की भक्ति आवश्यक है। बिना शक्ति की भक्ति के शक्तिमान को प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्रेम मधुरा भक्ति होने के कारण कायिक साधना के लिए अवकाश नहीं। भक्ति के नवधा-रूप से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

### राधा का दार्शनिक रूप :

सूरदास ने श्रीमद्भागवत् की लीला को अपना आधार बनाया। राधा (शक्ति) सूर की दार्शनिक दृष्टि में प्रकृति हैं। कृष्ण पुरुष हैं। इन दोनों में अद्वय सम्बन्ध है। केवल कथन में ही ये अलग-अलग कथित होते हैं। यह शक्ति वेदों एवं उपनिषदों में सर्वशक्तिमान, सर्वत्रव्यापिनी के रूप में वर्णित है। इनकी उत्पत्ति या शरीर धारण करने का कारण महाभाव है, लीला है।[2]

ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड (अध्याय— १५।५८,५९,६०,६१ एवं ६२) में राधा को मूल-प्रकृति माना गया है। वे श्रीकृष्ण का अर्द्धांश हैं। श्रीकृष्ण एवं राधा में कोई भेद नहीं है। दूध में धवलता, अग्नि में दाहकता तथा पृथ्वी में गन्ध के समान कृष्ण अपनी मूलप्रकृति राधा में लीन रहते हैं। जैसे कुंभकार या स्वर्णकार क्रमशः मिट्टी या सोने के बिना घड़ा या कुण्डल नहीं बना सकता

---

१. डा० मुंशीराम शर्मा—भारतीय साधना और सूर-साहित्य—पादटिप्पणी—पृ० ३२९।

२. ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।
प्रकृत पुरुष एके करि जानो, बातनि भेद करायो।।
जल थल जहाँ रहौ तुम बिनु नहीं भेद उपनिषद् गायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजायो
ब्रह्म रूप द्वितीया नहिं कोई तव मन तिया जनायो
सूर श्याम मुख देखि अलप हँसि आनंद पुंज बढ़ायो।।
—सूरसागर।। २३०५।।



वैसे ही कृष्ण राधा के बिना सृष्टि-रचना नहीं कर सकते। राधा सृष्टि का आधार हैं और कृष्ण अविनश्वर बीज रूप हैं।

### परमाद्या राधा-शक्ति का स्वरूप :

सूरदास ने राधा को सभी गोपियों में श्रेष्ठ स्थान दिया है। राधा की छवि अनिद्य है। इस रूप पर कृष्ण लुब्ध हो जाते हैं। प्रथम दर्शन में सूर ने इस शक्ति के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

**औचक हो देखो तहँ राधा, नैन बिशाल भाल दिए रोरी।**
**नील बसन, फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।।**
**संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन-थोरी, अति छवि तन-गोरी।।**
।। सू० सा०—१२९० ।।

ऊपर के वर्णन में शक्ति का रूप नीलवसनावृत गौर वर्ण है। कृष्ण साँवले हैं, राधा गोरी हैं। श्यामल-गौर का परस्पर आकर्षण ही सृष्टि-तत्त्व है, साधना की पहली सीढ़ी है। कृष्ण के श्याम-रूप को हम ब्रह्म का शून्य-रूप कह सकते हैं जिसमें गौर वर्ण ज्योति का विलास होता रहता है। शाश्वत आकर्षण के फलस्वरूप 'नैन-नैन मिलि परी ठगोरी' ही रूपलुब्धा की स्थिति है। कृष्ण राधा के नयनों में अपनी छवि देखते हैं और राधा कृष्ण के नयनों में अपनी छबि निरखती है। प्रथम स्नेह में ही दोनों ने एक दूसरे को जान लिया। गुप्त प्रेम प्रकट हो गया और आँखों आँखों में बातें हो गयीं।[1] अन्यत्र राधिका के लोचन 'अति बिशाल दीरघ अनियारे हरि हाथनि न समाये'[2] शरीर का रंग 'कनक वरन सुठार सुन्दरि'[3] और 'चन्द्र-वदनी' के रूप में[4] वर्णित है।

यशोदा राधा का शृंगार कर रही हैं। बड़े-बड़े बालों को सीमन्त कर प्रेम से संवार रही हैं। माँग निकालकर वेनी सजाती हैं। गोरे भाल पर चन्दन का विन्दु लगाती है मानो कमल पर प्रातःरवि की कान्ति विभासित हो रही हो —

**बड़े बार सीमन्त सीस के, प्रेम सहित मिलवारति।**
**माँग पारि वेनी जु संवारति, गूँथी सुन्दर भाँति।।**

---

१. प्रथम सनेह दुहुँति मन जान्यो।
नैन-नैन कीन्हीं सब बात, गुप्त प्रीति प्रगटान्यो।।

२. सू० सा० १२९३—अन्यत्र—नैन बिशाल, वदन अति सुन्दर, देखत नीकी छोटी ?।। १३२०,५।।

३. वही १९९४—५ पंक्ति

४. वही १३०१४ पंक्ति

**गोरे भाल विन्दु वदन मनु, इंदु प्रातरवि कांति ॥**[1]

राधा को किशोरी के रूप में देखकर चन्द्रमा का बिम्ब भी धूमिल पड़ जाता है। रक्तिम नयन, कमल के समान विकसित हैं तथा पाप का विनाश करनेवाले हैं। बड़ी-बड़ी आँखें आकर्ण फैली हैं मानो कर्णमूल के पास तक जाकर चुगली कर रही हैं। गोरे ललाट पर घुँघराले केश ऐसे हैं मानों स्वर्ण-कमल का पराग-पान करते-करते भँवरे नहीं अघाते। नाक के बेसर में वंसी का भ्रम हो जाने के कारण नैन-रूपी मछलियाँ चंचल हो गयी हैं तथा ताटक-रूपी कछुए घूँघट-रूपी जाल में फँसकर अकुला रहे हैं। स्याम कंचुकी में कंचन कलश ऐसे हैं मानों मस्त हाथियों के मस्तक पर नीली ध्वजा फहर रही हो।[2]

इस विश्व-विमोहिनी की वंकिम दृष्टि से रात्रि का चन्द्रमा भी निष्प्रभ हो जाता है। धनुषाकार भ्रूकुटि पर दृष्टिरूपी वाण सधे हैं। ललाट पर केसर का टीका लगा है। ऐसा ज्ञात होता है मानो कामदेव प्रत्यंचा साधे घूँघट में छिपकर बैठा है। इसी दृष्टि से राधा ने श्याम को वश में कर लिया है।[3] मस्तक पर शीशफूल ऐसा शोभित है मानो नाग-मणि हो और यह सुहाग के छत्र के समान दिखाई दे रहा है। दन्तपंक्ति अमित प्रभा से युक्त तथा चिबुक पर तिल शोभायमान है, मानों सूर्य-प्रकाश में कमल को खिला देखकर भँवरा कमल पर आ बैठा हो।[4] राधिका रूप एवं सुख का पुंजीभूत रूप हैं। गुणों की तो मानों जैसे खान ही है। इस महाशक्ति के चरणों की आराधना से ही कृष्ण की प्राप्ति हो सकती है। सूर के शब्दों में—

**रूप-रासि, सुख-रासि, राधिके, सील महा गुन-रासी,**
**कृष्ण चरण ते पावहिं स्यामा, जे तुव चरण उपासी ॥**[5]

यह स्वरूप अनुपमेय है। इसकी शोभा अकथ है —अवर्णनीय है। उज्ज्वल घूँघट को अपने हाथों स्याम हटा देते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों राधा का मुखमण्डल, अनिंद्य, निष्कलंक चन्द्रमा के रूप में क्षीर-सागर से अपने

१. वही १३२२।१—४ ॥
२. सूरसागर (प० सं०) १८२४।
३. सूरसागर (प० सं०) २३२०।
४. सूरसागर (प० सं०) ३२२०।
५. सूरसागर (प० सं०) १६७३।



**कहि न जाई आनन को शोभा, रही विचारि-विचारि ॥**
**छीरोदक घूंघट हातौ करि, सन्मुख दियौ उघारि ॥**
**मनो सुधाकर दुग्ध सिन्धु तें कढ़्यो कलंक पखारि ॥ २७३७ ॥**

सूर की परम सुन्दरी राधा सुन्दरी या त्रिपुरा सुन्दरा या ललिताम्बिका है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड में राधा का दुर्गा और त्रिपुरा के रूप में वर्णन हुआ है।[1] किन्तु लौकिक रूप-वर्णन से उठकर सूर उस परम-शक्ति की अलौकिकता का भी वर्णन करना नहीं भूलते। ब्रह्मा को अन्य प्रकार की चिन्ता हो गयी है। वृषभानु-छवि की छवि के समक्ष समस्त सृष्टि का सौन्दर्य झूठा लग रहा है। उपमा देने के लिए रमा, गौरी, उर्वशी, रति, शची, सूर्य, कमल—ये सारे नगण्य दीख पड़ते हैं। यह पराशक्ति इन सभी देव-देवियों की प्रभा से कहीं अधिक ज्योतिर्मय हैं।[1] वह 'रूप राशि-सुख-राशि, राधिके, सील महागुन रासी' है। जगत् की जननी है तथा गोपाल के साथ नित्य विहार करनेवाली है। यह राधा अगतियों को गति देनेवाली एवं भक्तों की स्वामिनी है। यही राधा (शक्ति है, जिसका वेद-पुराणों में वर्णन हुआ है जो अशरण-शरण तथा भव-भय-हरनी है। समस्त देव-देवियाँ इसी शक्ति की आराधना करती दिखाई देती हैं।

अभिन्न भाव :

इस राधा-शक्ति के अधीन स्वयं श्याम भी हैं। संयोग में वे राधामय हो जाते हैं (प० सं० १६७८)। 'रस समुद्र मानो उछलित भयौ सुन्दरता की खानि'—(प० सं० १६७८) ऐसा है, उस परम ज्योतिर्मयी का त्र्योलोक्य-विमोहिनी-रूप। पुनः विवाह के अवसर पर राधा के रूप का वर्णन करते सूर नहीं अघाते—

**(कृष्ण) बृन्दावन-चंद राधा निर्मल चाँदनी ॥**[3]

परम ज्योतिर्मयी राधा शक्ति श्याम की अनुरागिनी है क्योंकि वह उन्हें का अंश है और उसका चरम भाव है कृष्ण में लीन हो जाना।[4] धेनु-दोहन, रास-लीला, विवाह इत्यादि मिलन-प्रसंग हैं जिसमें शक्ति-शक्तिमान का मिलन या

१. श्रीकृष्णजन्मखण्ड—अध्याय ९२, श्लोक ७४,७६।
२. सूरसागर—पद-संख्या १३२४।१-३।
३. सूरसागर—पद-संख्या १६९४।
४. राधा को आलिंगित किये वृन्दावन के ईश्वर वृन्दावन में बसते हैं। द्रष्टव्य—पदमपुराण—पातालखण्ड—७६।१५।१७

लीनत्व का भाव देखा जा सकता है। इसीलिए सूर ने कृष्ण में अर्द्धनारीश्वर भाव भी प्रतिष्ठापित किया है—

**राधा हरि आधा आधा तनु एकै द्वै ब्रज में ह्वै अवतरि ।।**

**—सू० सा० २३११।३२।।**

पुनः—**सूर स्याम नागर इह नागरि एक प्राण तन द्वै द्वै ।।**

**—सू० सा० २५२१।८१।।**

जीव को राधा स्थान रखकर राधा-कृष्ण की एकता ही जीव-ब्रह्म की एकता के रूप में कही गयी है—

**सुनि राधिके तोहि माधौ सों प्रीति सदा चलि आई।।**

**—सू० सा० ३४३४।।**

वास्तव में राधा और कृष्ण में अपार ऐक्य है। दोनों में पुरातन ऐक्य-भाव है। दोनों के शरीर ही दो हैं पर अन्ततः दोनों एक ही हैं। सूर के कृष्ण अपनी आद्याशक्ति से कहते हैं—

**सुनि वृषभानु-सुता मेरी बानी, प्रीति पुरातन राखहु गोई**
**सूर स्याम नागरिहिं सुनावत, मैं तुम एक नाहिं हैं दोई।। २३०६।।**

इस शक्ति के वश में श्याम ऐसे हैं जैसे राधा का मुखा-चन्द्र हो तथा श्याम के नयन चकोर हों। जिनको देखकर स्वयं कामदेव भी मूर्छित हो जाता है—वे राधा के रूप पर भ्रमित दिखलाई देते हैं। सूर इनका सम्बन्ध काया-छायावत् स्थापित करते दिखलाई देते है—

**सूर स्याम स्यामावस ऐसे, ज्यों संग छाँह डुलावै (हो)।। २६३९।।**

और यह इसलिए कि सूर के स्याम और स्यामा साधारण मानव-मानवी नहीं। त्रिभुवन में इनके समान दूसरा नहीं। सूर कहते हैं—

**तोसी तिया और त्रिभुवन में, पुरुष स्याम से नाहीं (री)।। ३२६३।।**

### आनन्दमयी शक्तियाँ :

आगे कुछ और विस्तृत भूमिका में सूर, गोपियों को भी शक्तिमान की अनन्त शक्तियों के रूप में स्वीकार करते हैं—

**गोपी ग्वाल, कान्ह दुई नाँटी, ये कहूँ नेक न न्यारे।। २२२३।।**

ये ब्रह्म की आनन्दमयी शक्तियाँ हैं और इन गोपियों के बीच में शोभायमान जगज्जननी राधिका हैं जिनकी आराधना से ही कृष्ण की भक्ति मिल सकती है।[1]

१. अगतन की गति, भक्तन की पति, श्रीराधा पद मंगल दानी।
अशरणशरनी, भव-भयहरनी, वेद पुराण बखानी।।
—१६७३।।



गोपियों की अनन्यता की आवृत्ति सूरदास ने बार-बार की है—

**एकै देह बिहारि करि राखै, गोपी ग्वाल मुरारि।। २२२३।।**

### शक्ति का एकत्व :

सूरदास शक्ति के विविध रूपों में एकत्व की भावना रखते हैं। सीता एवं राधा में भी भेद नहीं है। इसी शक्ति को प्राप्त करने के लिए राम को सागर पर सेतु-निर्माण करना पड़ा तथा देवताओं द्वारा समुद्र मंथन हुआ। सूर के शब्दों में—

**सिंधु मथ्यो, सागर बल बाँध्यौ, रिपु रण जीति मिलाई।**
**अब सौ त्रिभुवन नाथ नेहबस बन बांसुरी बजाई।।**

**—सू० सा० ३४३४।।**

सारांश यह कि लक्ष्मी, राधा तथा सीता को एक ही शक्ति के विभिन्न रूपों में सूर स्वीकार करते हैं। आगे सूर कहते हैं कि लक्ष्मी के साथ इनकी (कृष्ण की) निरन्तर क्रीड़ा चलती रहती है—

लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा सीमित सूरज दास।। ३३७।।

पर इन सारी दार्शनिकताओं के परे सूर का हृदय-पक्ष ही है जो सभी स्थानों पर बोल रहा है। राधा-कृष्ण अतिमानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। इसी लिए सूर ने अप्राकृत को प्राकृत एवं अनन्त को सान्त कर डाला है।

### लीलाएँ :

राधा-कृष्ण-लीला से सूरसागर भरा पड़ा है। विवेचन किया जा चुका है कि यह अनन्त लीला का ही अंश है। इसमें अनेक प्रसंगों की सूर ने उद्भावना कि है। गो-दोहन में शक्ति-शक्तिमान का लीला-विलास चलता रहता है। गो-दोहन में प्रीति छलकने लगती है और रस की वृष्टि होने लगती है।[1] राधा के मुख पर दूध के छींटे पड़ जाते हैं। यह दृश्य ऐसा लगता है मानो क्षीर-सागर में चन्द्रमा उदित हुआ हो। सूर के शब्दों में—

**हाथ धेनु-थन, बदन तिया-तन, छीर छींटो हल छोरे।।**
**आनन रही ललित पय छींटे, छाजति छवि तन तोरे।।**
**मनो निकसे निकलंक कला-निधि, दुग्ध-सिंधु मथि ओरे।। १३५७।।**

राधा को काले नाग ने डंस लिया। कृष्ण ही वह गारुड़ि है जिनके द्वारा यह विष उतारा जा सकता है। यह काले नाग का विष अनुपम है। प्रीति

१. द्रष्टव्य : सूरसागर—१३५४

विष का प्रतीक है। यह उसी को डंसता है जिसका हृदय उज्ज्वल है।[१] राधिका के सिर से विष उतर गया, पर अन्य तरुणियों को लग गया। अब तो बिना पति-रूप में कृष्ण को प्राप्त किये यह विष उतरने का नहीं।[२]

चीर-हरण लीला में भी जीव का ब्रह्म के साथ, अथवा शक्ति का शक्तिमान के साथ चिरन्तन ऐक्य ही प्रदर्शित करने की चेष्टा की गयी है। श्रीकृष्ण के समक्ष शरीर की नहीं, आत्मा की सत्ता है। शरीर भावना की सीमा से ऊपर उठकर जब साधक आत्म-तत्त्व का साक्षात् करेगा तभी उस शक्तिमान के साथ (महासुख) का आनन्द प्राप्त होगा। शरीर अथवा काम-साधना के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति नहीं, यह आत्म-साधना के माध्यम से ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। सोलह सहस्र गोपियों की कामना-पूर्ति होती है जब उन्हें शरद् पूनो के दिन महारास में रमण करने का आश्वासन मिलता है। ये गोपियाँ लक्ष्मी का अंश हैं और उनके साथ विचरण करनेवाली है।[३] राधा प्राण हैं और गोपिकाएँ उनका शरीर हैं। गोपिकायें प्रभु की अनन्त शक्तियाँ हैं।

**सोरह सहस पीर तन एकै राधा जिव सब देह।**

## मुरली-शक्ति :

सूर के मुरली-विषयक पदों में भी मुरली का चित्रण एक शक्ति के रूप में किया गया है। यह मुरली नारी-रूपा है। मधुर वचन बोलनेवाली है। श्याम भी उसका जाति-गोत्र जाने बिना उसी के रंग में रँग गये हैं।[४] अब तो वह श्याम की सुहागिन है। ऐसा रूप दिखाया है उसने अपने हर्ष एवं नाद का कि श्याम ने उसे अपने हृदय से लगा लिया है।[५] जब तय कह श्याम के अधरों से लग जाती है तो वे नख से शिख तक रस में पग-से जाते हैं।[६]

**श्याम-अधर पर बैठि विराजति, सप्त सुरनि मिलि साजे ॥**

**—स० सा १८०१ ॥**

१. द्रष्टव्य : सूरसागर १३८० ताहि डसन जाको हियो उजारो ॥
२. ,, : ,, १३८२ लहर उतारि राधिक सिर तैं दर्द तरुनिनि पैडारि ॥
३. मुंशीराम शर्मा - मा० सा० ओ० सू० सा० - पृ० २६४।
४. इक वह नारि, बचन, मुख मीठे, सुनत श्याम ललचाने।
   जाति पाँति का कौन चलावै, वाके रंग भुलाने ॥
   ॥ सू० सा० (१९२२) ॥
५. सू० सा० - १८८६।
६. जब जब मुरली के मुख लागत।
   तब तब कान्ह कमल-दल-लोचन, नख-सिख तें रस पागत ॥
   ॥ सू० सा० १६४१॥



सप्त सुरों का नाद जो मुरली ने टेरा तो ब्रह्मा की समाधि टूट गयी। प्रेमरस की उत्पत्ति से नयनों से पुलकाश्रु बहने लगे। महादेव की प्राणायाम-सिद्धि भी भंग हो गयी और वे अचेत हो गये।[१] सूर ने मुरली की कीर्ति की पताका ही जैसे फहरा दी है—

**मोहन मुरली अधर धरी ॥**

**कंचन मनि मय रचित, खचित अति, कर गिरिधरन परौ ॥**
**उघरत तान बंधान सप्त स्वर, सुनि रस उमगि भरो।**
**आकर्षति तन मन जुवतिनि के, गति विपरित करो ॥**
**पिय-मुख-सुधा-विलास विलासिनी, गीत-समुद्र तरौ।**
**सूरदास त्रैलोक्य-विजय कर रति पति-गर्व हरो ॥**

**—सू० सा० १८४५ ॥**

मुरली के प्रभाव को देखकर गोपियाँ व्याकुल हैं। इस मुरली ने श्याम को इस प्रकार वश में कर लिया है कि इनकी कुछ नहीं चलती। लगता है इस मुरली ने कठिन तपस्या करके श्याम का सान्निध्य प्राप्त किया है। वे जिज्ञासु होकर मुरली से ही प्रश्न करती हैं।[२] उन्हें ज्ञात होता है कि इस मुरली ने अपने शरीर को तपस्या की आँच में पकाया है। शरद्, ग्रीष्म एवं पावस में यह शीत, आतप, वृष्टि सहन करती एक पैर ही खड़ी रही। जब इसके अंग काटे गये तब इसने अपने साहस का परिचय दिया। तप्त शलाकाओं से जब इसके शरीर में छिद्र बनाये गये तब भी इसने सारी जलन को सहन कर लिया।[३] इस प्रकार, इसने हठयोग की साधना की है। काय-कष्ट से इसने श्याम का सान्निध्य प्राप्त किया है। इसका यही पुरस्कार है कि इसके अंग-अंग से राग-रस छलका पड़ता है। चतुर्दिक अनहद नाद सी गूंज भर जाती है क्योंकि अब यह नाद ब्रह्म में लीन हो गयी है—

**मुरली कैसे बजे रस सानो, गरजि धुँकार अमृत आनो ॥**
**नाद प्रवाह तरे भरे रीझे, इतनी रस कहँ तें जानो ॥**

**सप्त सुरभि गति जति उपजति अति, विपरित थावर पवन पानो**
**सरदास गिरिधर बहुनायक, याही सो निसिदिन रति मानो ॥ १६७० ॥**

१. सूरसागर : पद-संख्या—१९४१
२. वही : ,, १८७२
३. वही : ,, १९५८।

इस प्रकार, मुरली ने राधा-स्वरूप प्राप्त कर लिया है क्योंकि यह तो पटरानी ही बन बैठी है।

**तिहूँ भुवन में चली बड़ाई, अस्तुति मुख-मुख गानो।**
**सूर स्याम की अर्द्धांगिनि, रहो झार लपटानो ॥ १९४६ ॥**

राधा के समान सुधामयी बनकर ही अपने श्याम को प्राप्त किया है। जब आयी थी तब तो यह औरों के लिए निष्ठुर ही थी; पर अब इसमें वह क्रूरता रह ही नहीं गयी। यह तो अमृतरस में भींग गयी है। श्याम के अधरों का स्पर्श ही इस सौभाग्य का कारण है जिसके फलस्वरुप इसकी शोभा नित्य ही नयी प्रतीत होने लगी है—

**मुरली दिन-दिन भली भई।**
**बन की रहनि नहीं अब यामें, मधु ही पागि गई ॥**
**अमिय समान कहति है वानी, नीकें जानि लई।**
**जैसी संगति बुद्धि तैसो यें, ह्वै गई सुधामई ॥**
**जब आई तब ओरे लागी, सो निठुरई हई।**
**सूर स्याम अधरनि के परसें सीमा भई नई ॥ १९८० ॥**

## राधा एवं मुरली में अभिन्नता :

पुनः मुरली एवं राधा में कोई भेद भी नहीं है। श्याम की दोनों ही अह्लादिका शक्तियाँ हैं।[1] गोपियाँ कहती हैं।—

**सुनति वहीं वह कहति कहा है, राधा राधा नाम।**
... ... ... ...
**वाही कें मुख नाम धरावत, हमहिं मिलावत ताहि ॥ १९७५ ॥**

गोपियों को जब यह ज्ञात होता है कि यह तो उन्हीं की भाँति कृष्ण-प्रेयसी है, उन्हीं की नादात्मक शक्ति है तो सारे भेद-भाव मिट जाते हैं और गोपियाँ मुरली से प्रेम करने लगती हैं।

मुरली का स्वर गोपियों में एक व्याकुलता का सृजन कर डालता है। कृष्ण का नाम ही इन साधिकाओं का अवलम्ब है। नाम-जप की साधना को शाक्त-साधना में मंत्र-साधना कहा जाता है। मंत्र-शक्ति या नाम--शक्ति से अनहद नाद की सृष्टि हो गयी है। वही गोपियों के मर्म का संगीत बन फूटता है।

---

१. एक स्थल पर गोपियाँ की युक्ति द्रष्टव्य है—राधा से कहती हैं—
**वह दासी तुम हरि-अर्द्धांगिनि, यह मेरे मन आवत।**
**सर प्रगट ताही सौं कहि कहि, तुमको स्याम बुलावत ॥ १९७६ ॥**



उत्स है श्याम के अधरों पत, किन्तु श्याम का मुखमण्डल भी तो गोपियों के मनमानस में है। मुरली इसीलिए उनके मन में मिलन की व्याकुलता भर देती है। यह कहने की वस्तु नहीं, सुनने की भी नहीं—यह तो मात्र अनुभव की वस्तु है। यही सूर के शब्दों में महामनोहर नाद है।[1]

पुनः मुरली का एक प्रयोजन भी तो है। यह आत्मा का आह्वान है और लीला के लिए आह्वान करना आवश्यक है। लीला के विभिन्न प्रकरणों में चरम मिलन का ही प्रयत्न है। चरम-मिलन के लिए आह्वान होता है। प्रत्येक आत्मा को वह सन्देश मिलता है। यह मुरली-ध्वनि शब्द-ब्रह्म का रूप है। यह कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर स्फोट एवं नाद का वाचक है। यह वंशी ही अनहद नाद है जो समस्त विश्व में प्रतिध्वनित हो रहा है। यह भी शक्तिमान की नाद-शक्ति ही है। इसमें मिलन का संकेत साधन एवं आनन्द है। इस मुरली का रस ही अलौकिक है जिसका ध्यान शुक-सनकादि ऋषि किया करते हैं—

**जा रस कौ सनकादि शुकादि करत अमर मुनिध्यान ॥ १८३४ ॥**

श्याम के अधरों पर निरन्तर विराजमाना मुरली-शक्ति का आह्वान समग्र विश्व को विमोहित कर डालने में समर्थ है—

**सुनहुँ हरि मुरली मधुर बजाई ॥**
**मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज बनिता उठि धाई।**
**जमुना-नीर-प्रवाह थकित भयो, पवन रह्यौ मुरझाई ॥**
**खग-मृग-मीन अधीन भए सब अपनी गति बिसराई।**
**द्रुम वेली अनुराग-पुलक-तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई ॥१०६८॥**

जैसे सर्प अपनी केंचुली का परित्याग करता है उसी प्रकार सांसारिक लोक-लाज, मर्यादा, वेदविहित शास्त्राचार सभी का केंचुल उतारने की सामर्थ्य है इस मुरली की ध्वनि में। गोपियाँ भी अपना केंचुल हटाकर श्याम से मिलने के लिए चल पड़ती हैं।[2] जो नहीं जा पाती हैं वह अपने शरीर को छोड़कर आत्मा-रूप से मिल जाती हैं।[3]

यह मुरली सबपर अबाध अधिकार रखनेवाली है। इसने गोपाल कौ भी अपने वश में कर लिया और श्याम के वशीभूत होते ही चराचर मुरली के वश में हो गया है।[4]

---

१. महामनोहर नाद सूर थर-चर मोहै मिलि मरम न पावत
**मानहुँ मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख, सीस डुलावत ॥**
२. सू० सा०—१६२१ -ज्यों केंचुरी भुजंगसअ, मात-पिता त्यों त्यागे।
३. वही—१६२५—एक राखि रोक के पति, जो गई तजि देह ॥
४. „ —१२६८, १२७१, १२७२, १६८६, १६८७, १८०१ इत्यादि।

सारांश यह कि मुरली का सूर ने शक्ति के रूप में कथन किया है। इसे हम योग-माया कहें या नाम-लीला का रूप; शब्द-ब्रह्म कहें या आन्तरिक ज्योति का जागरण।[1] परन्तु यह आनन्दरूपिणी है। यह उसी ब्रह्म का आन्तरिक संस्पर्श है। यह शक्ति ही आन्तरिक नाद के रूप में जाग्रत होकर अनन्त आनन्द का सृजन करती है।

### रासलीला—महानन्द :

सूर ने श्रीमद्भागवत के आधार पर रास का आयोजन किया है। यह रास 'रस' शब्द से बना है। 'रसो वै सः' अर्थात् भगवान स्वयं ही रस हैं। भगवान कृष्ण स्वयं ही रस-रूप हैं। गोपियाँ उनमें लीन हैं। वे नृत्य के द्वारा विशेष मानसिक रस की स्थिति में निवास कर रही हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ब्रज छोड़कर एक पल के लिए भी बाहर नहीं जाते।[2] सूरदास ने रासरस को सभी रसों से श्रेष्ठ कहा है। इसके समक्ष शिव की समाधि भी कुछ नहीं।[3] इस रास के दर्शन से समस्त देव, किन्नर, मुनि, शिव, नारद इत्यादि विमुग्ध रहते हैं तथा फूलों की वर्षा करते दिखायी देते हैं। रासलीला में ,ब्रज जुवति चहुँ पास, मध्य सुन्दर श्याम, राधिका वाम, अति छवि विराजे।[4] की शोभा दिखलाई देती है। इस रस-रास की नायिका श्रीकृष्ण को ह्लादिनी शक्ति राधा हैं—

**सुनहुँ सूर रस-रास राधिका, सुंदरि राधा-रानी ।।१६५५।८ ।।**

इस रास का प्रभाव अलौकिक रूप से अग जग पर परिव्याप्त हो जाता है—

**जहां स्याम रास उपायो। कुंकुम जल सुख-वृष्टि स्नायो ।।**
**धरनी-रज कपूरमय भारी। विविध सुमन छवि न्यारी न्यारी ।।१६७५।१।२**

रास की शोभा अपूर्व है। देवताओं की पत्नियाँ इस दृष्य को देखकर अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं। राधिका—अपूर्व सुन्दरता की साकार प्रतिमा और उनके साथ कृष्ण की अनुपम जोड़ी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मेघ के बीच

---

१. श्री मुंशीराम शर्मा—(भा० सा० सू० सा०)—पृ० २८९।

२. वृन्दावन परित्यज्य पादमेकं न गच्छति ? हि० सा० का वृहद् इतिहास—भाग १ ।। पृ० ५४६।

३. जो रस-रास रंग हरि कीन्हों वेद नहीं ठहरान्यो
सुर नर मुनि मोहित भये सबहीं, सिवहु समाधि भुलान्यौ ।। प० सं० १७९१ ।।

४. सू० सा० —१६६३

५. ,, ,, —१६५३।५



बिजली चमक रही हो। कृष्ण सोलह सहस्र रूपों में सोलह सहस्र गोपिकाओं के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। सभी गोपिकाएँ राधा के ही समान हैं। सभी गोप कृष्ण के समान हैं। इस रास में मात्र दो ही तत्त्व हैं—शक्ति और शक्तिमान। सूर के शब्दों में—

**धनि राधिका, धन्य सुन्दरता, धनि मोहन की जोरी।**
**ज्यों धन-मध्य दामिनी की छवि, यह उपमा कहीं थोरी ।।**
**धनि मंडली जुरी गोपिनी की, ता बिच नन्दकुमार।**
**राधा-सम सब गोप-कुमारी, क्रीड़ति रास-बिहार ।।**
**षट-दस सहस घोष सुकुमारी, षट-दस सहस गुपाल।**
**काहू सों कहु अंतर नाहीं, करत परस्पर ख्याल ।।१९६५ ।।**

इस रासमण्डल के बीच आठ दिशाओं में अष्ट सखियाँ शोभित हो रही हैं। चारों ओर गोपिकाओं का वृत्त है। उसके मध्य में शक्ति एवं शक्तिमान अभिन्न-भाव से विराज रहे हैं। सूर कहते हैं—

**रास-मंडल मध्य स्याम राधा ।।**
**मनो धन बीच दामिनी कौंधति सुभग एक है रूप, द्वै नाहिं बाधा ।।**
**नायिका अष्ट अष्टहुँ दिसा सोहहिं। मनो चहुँ पास सब गोप-कन्या ।।**
**मिले सब संग नहिं लखत कोउ परस्पर बने अष्टदस सहस कृष्ण सन्या ।।**

—सू० सा० १६७० (१-४)।।

इस स्थल पर सूर राधा-शक्ति के विलास का वर्णन करते नहीं अघाते। यह रास ही ऐसा है जिसमें कृष्ण और राधा को नहीं मालूम पड़ते हैं। दोनों मिलकर एक हो गये हैं। कृष्ण के कुण्डल और राधा के तांटक अब दो नहीं दिखलाई देते। दोनों कपालों पर उनकी झलक भर पड़ रही है और यह झलक सर्प के समान लहरें ले रही है। राधा के स्तनरूपी पर्वत पर राधा और कृष्ण दोनों के दो मुख दो चन्द्रमाओं के समान उदित हैं। दोनों की दो-दो आँखें मिल-कर चार हो गयी हैं और वे चंचल हैं। वे एक दूसरे के जाल में आबद्ध हो गयी हैं। स्वयं चन्द्रमा भी इस दृश्य को देखकर लज्जित हो जाता है।[1]

---

१. राधा वाम अंग पर कर धरि, मध्यहिं कुंवर कन्हाई।
कुंडल संग ताटंक एक भए जुगल-कपाल निझाई।
एक उरग माना गिरि ऊपर, द्वै ससि उदे कराई ।।
चारि चक्करि परे मनु फंदा चलत है चंचलताई ।।
उड़पति गति तजि रहवौ निरखि लजि, सूरदास बलि जाई ।।१७५६(४-८)।।

## रासमध्य सूर-वर्णित विवाह का औचित्य :

इसी रास के मध्य में राधा-कृष्ण का विवाह होता है। यह विवाह सूर की अपनी सृष्टि है।[१] विवाह के इस प्रसंग का समावेश कर सूर ने इसे गंधर्व विवाह ही कहा है—

**है गंधर्व विवाह चित्त दें, सुनों विविध विलास (१६८६।२)**

सूर ने इस विवाह का सांगोपांग वर्णन किया है। इस विवाह को वैसे कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि रास में ही वैष्णवों के अनुसार लीला का चरम स्वरूप है, पर सूरदास को कुछ और प्रस्तुत करना था। उन्हें विवाह की सामाजिक स्वीकृति देनी थी। बिना सामाजिक स्वीकृति दिये आगे का संभोग 'श्रृंगार भागवती कथा को अनैतिक कर डालता। सूर को शक्ति-शक्तिमान का अद्वय सम्बन्ध, चिरन्तन लीला के बाद संभोग-रति या कामकला-विलास दिखाना था जिसके लिए विवाह की मुहर लगा देना आवश्यक हो गया। रास आत्माओं का मिलन था ही। जीव और ब्रह्म की एकता तो सिद्ध हो ही गयी थी, पर फिर भी शक्ति-शक्तिमान की काम-कला की उपलब्धि नहीं हुई थी, जो सृष्टि का मूल कारण कहा जाता है। सूर के संभोग-वर्णन में यही शाक्त-भावना काम कर रही थी।

## नृत्य-विलास :

इसमें हम राधा-कृष्ण का विविध विलास देखते हैं। सूर-सागर के दशम स्कन्ध के कतिपय पदों में हम इसकी झलक पाते हैं। कुछ पदों का स्वर ही सर्वथा नवीन लगता है।

कृष्ण को रिझाने के लिए राधा ने अनेक बार नृत्य किया। पर अब कृष्ण राधा के सुख के लिए नृत्य करते हैं। राधा की अभिलाषा है कि जिस प्रकार उसने श्याम को रिझाया है, वैसे ही वह ताण्डव का आह्वान करना चाहती है।

वह श्याम के अंगों से श्रम-बिन्दु पोछना चाहती है। उनकी थकान मेंटने के लिए उनका आलिंगन करेगी। जिस प्रकार राधा नाचते-नचाते हार गयी वैसे श्याम के हारने पर राधा चरण दाबकर श्रम-परिहार करेगी।[२] किन्तु राधा-कृष्ण के नृत्य पर स्वयं स्थिर न रह सकी और वह स्वयं भी कृष्ण के साथ नृत्य करने

१. डा० शशि अग्रवाल का कथन है कि सूर पर ब्रह्मवैवर्त पुराण में वर्णित राधा-कृष्ण-विवाह का प्रभाव है।
हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव—प्रयाग, (१९६०, पृ०४३)।

२. सूरसागर—१७६५।



लगी। सूर के शब्दों में—

**अरुझी कुंडल लट, बेसरि सों पीतपट,**
**बनमाल बीच आनि उरझे हैं दोउ जन,**
**प्राननि सो प्रान,नैन नैननि अंटकि रहे,**
**चटकीली छबि देख लपटात श्यामघन ॥**
**होड़ा-होड़ी नृत्य करैं, रीझि रीझि अंक भरैं,**
**ताता थेई थेई उघटत हैं हरषि मन।**
**सूरदास प्रभु प्यारी, मंडली युवती आरी,**
**नारी को अंचल लेले पोंछत हैं श्रमकन ॥**
**—सू० सा०—१७६७**

यह क्रीड़ा थल पर ही नहीं, जल में भी होती है। यहाँ भी वही सुख है जो रास में था—

**जल क्रीड़ा सुख अति उपजायो।**
**रासरंग मनतैं नहि भूलत, बहै भेद मन आयो ॥ १७८१ ॥**

इस विहार में अपार रसमयता बरसती है—

**श्रीराधा अंबुज कर भरि-भरि थिरकति बारंबार।**
**कनकलता मकरंद झरत मनु, हालत पवन संचार ॥**
**... — ... ...**
**— — — —**
**धाइ धरे वृषभानुसुता हरि, मोहै सकल सिंगार।**
**तड़ित जलद सूरज मानौ मिलि, बरसत अमृत-धार ॥ १७७७ ॥**

## निज-सुखमय-क्रीड़ा :

यह रस संभोग श्रृंगार में अपनी चरम सीमा को स्पर्श करने लगता है। सूर ने इसे अंतर बन-विहार की क्रीड़ा के रूप में वर्णित किया है। यह मानो कल्पद्रुम की सिद्धि है।[१] यह नवल किशोर तथा नवल नागरी का विलास है।[२] गौर श्यामल अंगों की शोभा ऐसी है मानो मणि-कांचन-संयोग हो गया हो।[३] यह भाव सूर ने एक दृष्टिकूट के पद में स्पष्ट व्यक्त किया है।[४] श्यामा और श्याम की यह निज-सुखमय-क्रीड़ा हैं।[५]

**सूर श्याम श्यामा सुख क्रीड़त, मनसिज पाइ परत ॥ १८१८-६ ॥**

१. सूरसागर —१३०४
२. ,, —१३०६
३. ,, —१८०९-२
४. ,, —१८१३
५. ,, ( ना० प्र० स० )—२६१२

**शाक्त-प्रभावित दिव्य शृंगार :**

कामदेव का उद्‌बोध, मिलनाकांक्षा का उद्रेक है, जिसका कारण शृंगार-रस है, पर उसमें ऐन्द्रिय वासनाओं के स्थान पर मानसिक, पवित्र भावना का प्राधान्य रहता है जिसे अनुराग या प्रेम की भावना कहा जाता है। सूर की राधा एवं कृष्ण के शृंगार में पवित्रता है। भक्ति रस का उद्रेक है, उज्ज्वल रस का उच्छल प्रवाह है। सूर के शृंगार के विषय में डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है—

सूर का शृंगार लौकिकता का आधार ग्रहण करके भी सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक प्रेम के पवित्र स्वरूप की, उसके विकास और अन्तिम परिणति की व्याख्या करनेवाला है।[1]

शृंगार तो दिव्य है ही पर शाक्त-प्रभाव के कारण यह शृंगार प्रतीकात्मक रूप में सृष्टि-विकास को व्यक्त करनेवाला है। सूर के ऊपर, हो सकता है, कामशास्त्र का प्रभाव पड़ा हो। सूर के शृंगार में आध्यात्मिक शृंगार है जो शाक्त-दर्शन की ही देन है।

सूर ने शक्ति-शक्तिमान की विपरीत रति का भी वर्णण किया है।[2] यही शक्ति-शक्तिमान का मिथुन-तत्त्व है। इसीलिए अलौकिकता का भाव एक पंक्ति में सूर दे डालते हैं—

**चापत चरन सेस चलि आयो, उदयावलहिं डरो ।। ३२३२ ।।**

पुनः राधा के स्थान पर सूर उदधि-सुता का नाम लेते दिखाई देते हैं।[3] वह लोक सांसारिक आनन्द लोक नहीं, असीम आनन्द का लोक है। वहाँ सूर्य, चन्द्रमा की अपार ज्योति विराजमान रहती है। वही परम ज्योतिर्मय अनुभव है। राधा इस अनुभव को अपनी सखियों से कहती है जो भाव पूर्णतः सात्त्विक रूप में वर्णित है।[4] श्याम राधा के रूप में तथा राधा ही श्याम के रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।[5]

**पति अरु प्रिया प्रगट प्रतिबिम्बित ज्यों दर्पण में झाई ।। ३८४४ ।।**

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य—पृ० ३६५।

२. द्रष्टव्य : पद-संख्या — ३२४२

३. ,, ,, ३२४३

४. ,, ,, ३२६२

५. तुलनीय :

कामकला विलास— २



सूर का काव्य-क्षेत्र यद्यपि पुराण-कथाओं एवं बल्लभ-पंथ का आश्रित है फिर भी वे अपनी मौलिकता का सर्वत्र उपयोग करते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने वर्णन में तन्त्रों को भी त्याज्य नहीं माना।[1]

**मिथुन-तत्त्व :**

इस प्रकार, श्याम पूर्णतः राधा के वश में हैं। जैसे चातक स्वाति के लिए चकोर चन्द्रमा के लिए और चक्रवाक रवि के लिए व्याकुल रहता है वैसी ही स्थिति कृष्ण को अपनी शक्ति के लिए हो गयी है। नाद के वश जिस प्रकार हिरण खिंचा आ जाता है या मछली जिस प्रकार जल के बिना नहीं रह सकती अथवा जिस प्रकार छाया शरीर की आश्रिता होती है वही श्याम का राधा के साथ सम्बन्ध है—

**श्याम भए राधा बस ऐसें।**

**चातक स्वाति, चकोर चंद ज्यों चक्रवाक जैसें।**

**नाद कुरंग, मीन जल की गति, ज्यों तनु के बस छाया ।।[2]**

राधा भी कृष्ण के साथ कुछ ऐसी हो गयी कि उसे ज्ञात ही नहीं कि वह राधा है या स्वयं कृष्ण है। वह नारी है और कृष्ण पुरुष या वही पुरुष है और कृष्ण नारी हैं, इसकी उसे सुधि ही नहीं। राधा को अपने सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, अधर पर मुरली एवं उर पर बनमाला दिखाई देती है। कृष्ण के सिर पर सुन्दर वेणी, माल पर बेंदी-विन्दु के दर्शन होते हैं। यह विनिमय अनोखा व्यापार है। यहाँ कोई लैंगिक अन्तर ही नहीं, क्योंकि शक्ति-शक्तिमान अलिंगी हैं।

प्रेम की चरम शीमा में अद्वय भाव-सम्बन्धी एक और पद में सूर एक नया स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जिसमें राधा-कृष्ण कीट-भृंगीवत् एक दूसरे के रंग में रखें जाते हैं। राधा-माधव की भेंट होती है। रुक्मिणी को ज्ञात है कि कृष्ण के

---

१. द्रष्टव्य : डा० मुंशीराम शर्मा—भारतीय साधना और सूर-साहित्य पृ० १९७।

२. सूरसागर-सार : धी० वर्मा—पद-संख्या ११०।

३. निरखि पिय-रूप तिय चकित भारी।

**किधौं वे पुरुष में नारि, कि वे नारि में ही हों पुरुष तन सुधि बिसारी ।।**

**आपु तन चिते सिर मुकुट कुण्डल सुवन, अधर मुरली, माल-बन बिराजे।**

**उतहिं पिय-रूप सिर मांग वेनी सुभग, माल बेंदी-विन्दु महा छाजे ।।**

**—तु० दर्शन खण्ड**

बालापन की जोरी कोई है। वह राधा ही है। उसके समक्ष ही एक अनोखा सम्मिलन होता है। यह परम-ज्योतिर्मय एवं ज्योति का मिलन है। यही कीट-भृंगी सम्बन्ध है। सूर ने राधा-माधव की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

**राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।**
**माधव राधा के रंग राचें, राधा माधव रंग रईं॥**[1]

### सृष्टि अलौकिक भोगेच्छा का परिणाम :

इस राधा-तत्त्व का स्वरूप ही दिव्य है तथा जिसे सांसारिक रूप में भोग कहा जाता है, वह भोग नहीं। यह दिव्य है। कृष्ण का अवतार ही आनंदमय अवतार है। वह अक्षर आनन्द साधारणतया अरूप है। किन्तु जब भोग की इच्छा होती है तब भगवान अपने-आपको दो रूपों में व्यक्त करते हैं। भगवान अकेले रमण नहीं कर सकता। इसीलिए उसने अपनी शक्ति को अपने से विलग कर उसे ही भोगना प्रारम्भ किया। सृष्टि का निर्माण ही भोग के निमित्त हुआ है। स्वयं भगवान एवं जीव के भोग के लिए यह सृष्टि है। भगवान ही स्वयं जीवों के रूप में भोग करते हैं और अपने स्वरूप से साक्षी रहते हैं। प्रत्यक्ष रूप में भक्तों को अपना आनन्द भोग तथा आपही भक्तों के आनन्द का भोग दिलाते हैं। जीव जिस प्रकार अपने से पृथक् पदार्थों से भोग करते हैं ये उस प्रकार नहीं करते। इनमें चिदंश भोक्ता है तथा आनन्दांश भोग्य है—अर्थात् ज्ञान ही आनन्द का अनुभव करता है।

रास-लीला, कुंज-क्रीड़ा आदि लीलाएँ प्रत्यक्ष भोग का वर्णन है। इसमें वे निज स्वरूप से स्थित हैं। परोक्ष भोग रूपान्तर से होता है। इस प्रकार, ब्रज-मंडल की जितनी गोपियाँ हैं वे लौकिक स्त्रियाँ नहीं क्योंकि यह भोग लौकिक नहीं है, अलौकिकत्व से युक्त है। सारांश में कहा जाता है कि शरीर एवं मन का भगवान में प्रवेश हो जाने पर प्रत्युत्तर में भगवान का उनके साथ जो भावलिास होता है, वही भगवान का भोग है।

### भगवच्छक्ति ही भगवत्सिद्धि :

राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति में श्री राधिका भगवद्भोग्या भगवच्छक्ति ही हैं। किन्तु, भवच्छक्ति होने के साथ-साथ ये उसी प्रकार से भगवत्सिद्धि भी है। इस सिद्धि से बढ़कर कोई सिद्धि नहीं। इसी सिद्धि को 'निरस्तसाम्यातिशया' कहा गया है।[2]

---

१. सरसागर-सार : धी० वर्मा—प्रयाग (१९५४) पृ० २०१।
२. कल्याण : शक्ति-अंक—पृ० १८-८३।



यह शक्ति श्याम को वश में करनेवाली, सदा अभिन्न भाव से विराजमाना, उन्हीं में अन्तर्लीन, त्रिपुर-सुन्दरी, रस के सागर के समान हैं। ऐसा स्वरूप है इस महाशक्ति का जिसकी सूर ने कल्पना की है।

रासलीला का स्वरूप महाआनन्द के ही रूप में वर्णित है। यह रास उस साधना का मौर है जहाँ भगवान के साथ एक-एक आत्मा लीन हो जाती है। यह लीनत्व ऐसा नहीं जिसमें साधक अपना स्वरूप खोकर नीर-क्षीरवत् लीन हो जाये। यह लीनता ऐसी ही है जिसमें वह भगवद्रूप होकर भी लीला का द्रष्टा एवं स्रष्टा एक साथ ही है। यह विलक्षण योग है।

यह रासलीला, विश्व की विराट कार्य-प्रणाली का आभासमात्र है।[1] यही वह रास है जो कालातीत है। इस रास में हरि एवं राधा दोनों में किसी को भी क्रीड़ा के काल में न रात्रि का, प्रभात का तनिक भी पता चल पाता है। यह क्रीड़ा सदा एकरस है। यह नित्य रास है, शाश्वत लीला है। सूर इसकी ओर संकेत करते कहते हैं—

**वृन्दावन हरि चहि विधि क्रीड़त सदा राधिका संग।**
**भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत इक रंग। १०९६॥**

### शिव-पूजा का उल्लेख :

सूर-साहित्य के अवलोकन से कतिपय अन्य तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सूर-सागर में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं जब हम शिव, दुर्गा, (कात्यायिनी) का उल्लेख पाते हैं। योग की चर्चा ही हो चुकी है। मुरली-प्रसंग में निदेशित किया जा चुका है कि शाक्त-योग एवं मन्त्र-साधना ही मुरली-नाद का प्रतीक है। विद्वानों का मत है कि सूर वैष्णवधर्म में दीक्षित होने के पूर्व शैव थे। यही कारण है कि सूर-सागर के कतिपय पदों में शिव की पूजा का विधान भी वर्णित हुआ है—

**गौरीपति पूजति ब्रजनारि॥ सू० सागर—१३८४**
**शिवसों विनय करति कुमारि॥ सूरसागर—१६८५॥**

**जोरि कर मुख करनि अस्तुति, बड़े प्रभु त्रिपुरारि**
**करति विचार सुन्दरी सब मिलि, अब सेवहु त्रिपुरारि॥ १३८२**

---

१. भगवती त्रिपुर-सुन्दरी के श्री यन्त्र से रास का बहुत साम्य दिखलाई देता है (दे० चित्र)। इन यन्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम ही वर्णित है। मानव-शरीर में यही चक्र है जिसमें शिव-शक्ति सम्मिलन होता है। ब्रह्माण्ड में भी यही रूप है। रासलीला का यही आधार प्रतीत होता है क्योंकि रास शक्ति-शक्तिमान की सृष्टि-क्रीड़ा ही है।

पुनः सूर की यशोदा स्पष्ट शब्दों में कृष्ण को गोद में खिलाने का सौभाग्य शिव-गौरी की कृपा का फल बतलाती है।[१] सूरदास की रुक्मिणी भी गौरी की विधिवत पूजा कर कृष्ण को स्वामी रुप मे प्राप्त करने का प्रसाद लेकर मन्दिर से बाहर आती है।[२]

**नाथपंथी योगी का उल्लेख :**

नाथपंथी योगियों का वर्णन भी एक पद में सुर ने किया है। शृंगीनाद करनेवाला तथा अलख-अलख करनेवाला वह तो सूर का परिचित योगी ही है-पर प्रसंगानुसार सूर ने सीस-जटापर चन्द्र स्थापित कर उसे भगवान शंकर का रूप दे दिया है।[३] डा० मुंशीराम शर्मा ने भी दो पदों के उदाहरण देकर नाथपंथीमत से सूर का परिचय सिद्ध किया है।[४]

**उपसंहार :**

सूर मूलतः वैष्णव कवि थे। पर उनकी दृष्टि में शाक्त-भावना एवं वैष्णव-भावना, शिव-शक्ति तत्त्व एवं राधा-कृष्ण तत्त्व में कोई वस्तुगत वैषम्य नहीं लगता और सूर ने संभवतः इसीलिए शाक्त-मत के बहुप्रचलित सिद्धान्तों का समावेश अपने काव्य में कर डाला है जो विद्वानों के प्रमाणों से भी पुष्ट हो जाता है। परवर्ती वैष्णव साहित्य में हम पाते हैं कि पुष्टिमतवालों ने तांत्रिकों के ह्रीं क्लीं जैसे बीज-मन्त्रों के आधार पर 'क्लीं कृष्णाय गोपीजन वल्लभाय' आदि की रचना भी कर डाली।

---

१. जा सुख को शिव—गौरि मनाई, तिय-व्रत नेम अनेक करो ।।६६८।।
२. पाई प्रसाद अंबिका मंदिर, रुकमिनी बाहर आई—।।४८०१ :।
३. अष्टछाप-पदावली-सोमनाथ गुप्त—पद-संख्या ६ लाहौर (१९४०)
४. डा० मुंशीराम शर्मा-भा० सा० और सू० सा०—पृ० ६९-७०।

# नन्ददास

**सामान्य परिचय :**

अष्टछाप के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि नन्ददास हैं। पुष्टि-मार्ग से कृष्ण चरित्र-गान की प्रेरणा पाकर काव्य-रचना में उनकी प्रवृत्ति हुई। भक्ति को शृंगार-आसन पर प्रतिष्ठित करने में इन्होंने सफलता प्राप्त की। इनकी महत्त्वपूर्ण रचना रास-पंचाध्यायी एवं भँवरगीत हैं, यद्यपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट के अनुसार आपके पन्द्रह ग्रन्थों का पता चलता है।

नन्ददास ने भी अपनी रचनाओं में श्रीमद्भागवत को ही आधार माना। आपने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम २८ अध्यायों का भाषानुवाद भी प्रस्तुत किया। यह भाषानुवाद दोहा-चौपाइयों में है तथा अक्षरशः न होकर भावनुवाद भी है। नन्ददास को शास्त्रों का ज्ञान था। आप एक विद्वान् कवि थे। परन्तु किसी विशिष्ट दार्शनिक मत के आधार पर आपने काव्य-रचना नहीं की। आपने अपनी मौलिकता का सर्वत्र परिचय दिया है। आपके पास अनुपम प्रतिभा एवं कवित्व-शक्ति थी जिसका प्रमाण इनकी रचनाओं में मिलता है। विभिन्न शैलियों में काव्य प्रस्तुत कर आप सूर के समान प्रतिभावाले कवि सिद्ध होते हैं। इसीलिए इन्हें जड़िया कवि की प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई है।

**दिव्य शृंगार के आराधक :**

वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की भावना एक सौन्दर्यमय बालरूप में की थी। कृष्ण के इसी रूप को आधार बनाकर सूर, नन्द तथा अष्टछाप के शेष कवियों ने अपनी काव्य-रचना की; पर कृष्ण के किशोररूप तथा यौवन का वर्णन करने के क्रम में नन्ददास ने शृंगार-रस की प्रधानता रखी। यह शृंगार भक्ति से ओतप्रोत होने के कारण दिव्य शृंगार कहा जायगा। यह द्विव्य शृंगार आगे चलकर रीतिकाल के कवियों में लुप्त हो गया, क्योंकि भक्ति का स्रोत सूख गया था और ऐहिक शृंगार का भाव प्रधान होने लगा था।

**कृष्ण-तत्त्व :**

नन्ददास के आराध्य श्रीकृष्ण ही थे। श्रीकृष्ण परमब्रह्म ज्योतिर्मय हैं[१] और उनके अवतारी रूप में लीला का सर्वाधिक महत्त्व है। आपके श्रीकृष्ण रूप, गुण, कर्म के

---

१. अनेकार्थ-ध्वनि-मंजरी—१००

आगार, परम अभिराम उदार हैं जिनका आगम-निगम पुराणों में वर्णन हुआ है।[1] आपके कृष्ण अवतारी हैं पर अखंड रूपधारी हैं, वे चिद्रूप हैं। उनकी लीला का प्रधान रस उज्ज्वल रस है।[2] इन कृष्ण को योगी अपनी अष्टांग-योग-साधना से प्राप्त करते हैं तथा ब्रज की गोपियों ने कामरस को उत्कट करके शुद्ध प्रेममय रूप में हृदय में धारण करके प्राप्त किया।[3] ये ब्रज-गोपियाँ लौकिक स्त्रियाँ नहीं थीं। ये उसी परमात्मा का अनेक रूपों में विभासित अपनी ही शक्तियाँ थीं।[4] इन्होंने नाग के समान अपने कंचुक[5] का परित्यागकर परम प्रियतम में अपनेको लीन कर दिया था। यह त्याग सहज भाव से हुआ, क्योंकि इसका आधार कृष्ण विषयक रति था।[6]

## गोपिका-शक्ति का दिव्य स्वरूप :

कृष्ण अगर पूर्णचन्द्र थे तो गोपियाँ उन्हीं की ज्योति से विभासित तारागणों के समान थीं।[7] ये स्वयं भगवान कृष्ण को देखकर आत्मविस्मृत हो जाती थीं जैसे बालक दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर सारी सुधबुध भूल जाता है।[8] उनकी साधना की चरम सीमा का वर्णन नन्ददास ने भँवरगीत में निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

**रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।**
**काम तरोवर साँवरो ब्रज वनिता ही पात।**
**उलहि अंग अंग तें॥ ७३॥**

यही इन गोपियों का सात्त्विक भाव है। इन गोपियों के नूपुर का नाद

१. श्रीकृष्ण सिद्धान्त-पंचाध्यायी—१,२
ब्रजरत्नदास : काशी, ना० प्र०१,६४६।

२. जैसहि कृष्ण अखण्ड-रूप चिद्रूप उदारा।
तैसहि उज्ज्वल रस अखण्ड तिन कर परिवारा॥
—श्री० सि० पं० ६१॥

३. तैसेहि ब्रज का वाम काम रस उत्कट करि के
शुद्ध प्रेममय भई भई गिरिधर उर धरिके॥
—श्री० सि० पं० ११४

४. पुनि ब्रज-सुंदरि संग मिलि सोहै सुन्दर वर यों
अनेक शक्ति करि आवृत सोहै परमातम ज्यों॥
—वही १०४

५. कंचुक—आवरण—द्रष्टव्य : दर्शन-खण्ड

६. श्री० सि० रत्ना०—३१,३२।

७. रास-पंचाध्यायी—८८

८. ,, —१४



सुनकर स्वयं कृष्ण का भी मन सिमटकर कानों मे केन्द्रित हो जाता है तथा स्वयं कृष्ण की आँखें ऐसी हो जाती हैं मानो दो चकोर अनेक चन्द्रमाओं को निहार रहे हों। श्यामल घन-से कृष्ण तथा इन्द्रधनु की छबिली छटा-सी गोपियाँ—यही है गोपियों का दिव्य स्वरूप।[1]

## आह्लादिका-शक्ति राधा :

इन गोपियों के मध्य श्रीकृष्ण की अपनी आह्लादिका शक्ति हैं जो राधा हैं। नन्ददास ने भी राधा को प्राय: उसी रूप में स्वीकार किया है जैसा सूर ने, किन्तु मानमंजरी, स्याम सगाई एवं पदावली को छोड़ अन्य रचनाओं में श्रीराधा का नामोल्लेख नहीं है। इसका कारण यह हो सकता है कि नन्ददास ने अपने कृष्ण-चरित की पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक रखी थी। राधामात्र से रास-पंचाध्यायी का, जो आपका उत्कृष्ट ग्रन्थ है, विशाल पट तैयार नहीं हो सकता था। पुन:, आपने अपने आराध्य श्रीकृष्ण के ही चरित पर इतनी प्रधान दृष्टि रखी है कि अन्य भाव उन्हीं में तिरोहित-सा लगते हैं।

## शक्ति-तत्त्व की एकता :

फिर भी राधा का वर्णन निम्नलिखित स्थलों पर फुटकर रूप में प्राप्त होता है जिससे हमें नन्ददास की शक्ति-भावना का पता लग जाता है। राधा की उत्पत्ति के विषय में ही नन्ददास नाममाला में ही शक्ति-तत्त्व की एकता की स्थापना करते दिखाई देते हैं। 'यह लक्ष्मी ही है, जिसके नैनों के कटाक्ष से समस्त विश्व अभिभूत है। वही लक्ष्मी वृषभानु के घर में स्वयंरूपा अवतरित हुई हैं।[2] वही एकमात्र शक्ति है जो अनेक नामों से पुकारी जाती है। वही श्री हैं, पद्मा हैं, कमला हैं सिन्धु-सुता है। वही विष्णु-वल्लभा हैं।'

## ज्योतिर्मयी शक्ति :

उस शक्ति के शरीर की गौर ज्योति ऐसी मालूम होती है मानो सुवर्ण की धरती पर कोई छवि विराजमान हो। अथवा, घनमाला से बिजली विच्छुरित हो गयी हो गयी चन्द्रमा से चन्द्रिका निकालकर मानो स्वरूप धारण कर आ गयी हो।[3]

१. रास-पंचाध्यायी-६६-६९

२. जाको नैन-कटाक्ष-छवि, रही सकल जग छाय।
सो लक्ष्मी वृषभानु-गृह, आपुहि प्रकटो आय॥ नाममाला ४३॥

३. रास-पंचाध्यायी : ३२,३३।

अन्यत्र नन्ददास राधा के रूप का वर्णन करने में कहते हैं—

**जो छवि है वृषभानु-सुता में, सो छवि नांहिन सोना ।।**[१]

इस रूपच्छवि का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। वह तो परमज्योति ही है। उसके चिबुक के अपार सौन्दर्य में श्रीकृष्ण का मन उबड़ुब कर रहा है। वह डूबता-सा मन अधर के तट पर सुधा को प्राप्त करने के लिए मानो चेष्टाशील है। घुँघराली अलकें मानो इस मार्ग में कंटक बन गयी हैं। श्रीकृष्ण-प्रिया के इस रूप पर निरन्तर अमृतमयी हँसी मुखर है। श्रीकृष्ण निरन्तर इस छवि का पान कर रहे हैं।[२] श्रीकृष्ण रंग-रंगीले श्याम और उनकी शक्ति राधा रंग-रंगीली निरन्तर ही रंग-भीने हैं। यह रंग आनन्द का रंग है। यही शक्ति-शक्तिमान का चिरन्तन आनन्द है जिसकी लीला के रूप में वर्णन नन्ददास ने भी प्रस्तुत किया है। इस लीला का आधार स्वयं शक्ति ही है। बिना शक्ति के शक्तिमान की लीला हो नहीं हो सकती। यही कारण है कि नन्ददास की भक्ति-भावना में शक्ति (राधा) का महत्त्व श्रीकृष्ण से भी अधिक है। यह रस-रूपा शक्ति ही भक्तों के हृदय को रसव्यापित करने में समर्थ है। नन्ददास उसके चरणों की वन्दना में कहते हैं—

**श्री वृषभानु-सुता-पद-अंबुज, जिनके सदा सहाइ ।।**
**सौ रस मगन रहत अति तिनपै नन्ददास बलि जाइ ।।** पदा० १८३।।

यह राधा-शक्ति ही आनन्द की खान है और श्रीकृष्ण तो स्वयं रस के कारण हैं। संसार के आधार श्रीकृष्ण ही हैं और वे सच्चिदानन्द-रूप हैं। रसमंजरी के प्रथम दोहा में ही कवि अपने आराध्य की स्तुति में इस रस-व्यापकता को प्रमुखता देता दिखाई देता है—

**नमो नमो आनन्दघन, सुन्दर नन्दकुमार ।**
**रस-मय, रस-कारन, रसिक, जग जाकै आधार ।।**

यही रसराज कृष्ण ब्रज-युवतियों का दर्पण है।[४] वह साक्षात् नारायण है—अपार रूप-गुण-कर्म से सम्पन्न। वही ब्रज में अनावृत परमब्रह्म परमात्मा तथा स्वामी है जिसकी शक्तियाँ गोपियाँ हैं। यही नन्ददास की आध्यात्मिक दृष्टि

१. अष्टाछाप : परिचय, प्रमुदयाल मीत्तल, मथुरा १९४९, पृ० ३२४।
पदावली-६६ ब्रजरत्नदास ।
२. वही : पृ० ३२३।
३. न० ग्रन्थामला - पृ० १२९।
**ब्रज जुबतिन की दर्पण जोई ।।**



है। रास के समय परमात्मा इन्हीं शक्तियों से आवृत होकर उद्भासित होता है।

**पुनि ब्रज सुन्दरि संग मिलि सोहै सुन्दर वर यों**
**अनेक शक्ति करि आवृत सोहै परमातम ज्यों ।।** सि० पं० १०४ ।।

मुरली-शक्ति :

परमात्म-तत्त्व की इस लीला में मुरली का भी कम महत्त्व नहीं है। सूर के प्रसंग में निवेदित किया जा चुका है कि मुरली नादशक्ति है। नन्ददास ने भी मुरली का यही स्वरूप वर्णित किया है। नन्ददास ने मुरली को नाद-ब्रह्म की जननि के रूप में माना है—

**तब लीनी कर कमल जोग-माया सी मुरली ।**
**अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरन रस जुरली ।।**
**जाकि धुनि तें अगम, निगम प्रगटे बड़ नागर ।**
**नाद-ब्रह्म की जननि मोहनी सब सुख-सागर ।।**
—रास-पंचाध्यायी-१।४६,४७ ।

स्वर की मोहिनी माया सम्पूर्ण विश्व को मोहित कर रही है।[१] इस मुरली ने श्रीकृष्ण के अधरों का रस-पान किया है। विश्व इसका श्रवण कर अत्यधिक रसोन्मत्त होता जाता है। इस ध्वनि से ही समस्त आगम, निगम तथा ज्ञान प्रकट हुए हैं तथा यही समस्त विश्व की संचालिका शक्ति है।

मुरली के इस वर्णन में नन्ददास के परब्रह्म की नादमयी शाश्वत शक्ति, शाश्वत नाद-शक्ति से मेल खाती दिखलायी देती है। मुरली के इस स्वरूप में निर्गुणत्व का संकेतमात्र है किन्तु वास्तविक स्वरूप तो वह है जहाँ गोपियाँ उसे जीवित स्त्री के रूप में मानती हैं तथा उससे सौतिया डाह भी करती दिखलाई देती हैं।[२] यह मुरली सारे वेदवाक्य आचारों का खण्डन करनेवाली है। इसके श्रवणमात्र से ही लोक-धर्म की सुधबुध भूल जाती है। सारे बन्धन आप-से-आप कट जाते हैं।[३] यह मुरली मानो महादूतिका के समान है जो आत्माओं का आह्वान होने पर बरबस उन्हें परमात्मा के पास खींचकर ले जाती है।[४]

मुरली को नन्ददास ने एक शक्ति के रूप में ही माना है। इसकी यह शक्तिमयता ब्रह्माश्रित है। यह अभिन्ना है और साधकों में नाद के रूप में जगती

१. श्री० सि० पं०—शब्द ब्रह्ममय बेनु बजाय सबै जन मोहै
सुरबर--गन गंधर्व कछु न जाने हमको हैं ।। २६ ।
२. सोमनाथ गुप्त : अष्टछाप पदावली—नन्ददास - पद-संख्या—२५ ।
३. रास पंचाध्यायी : प्रथम अध्याय । ८४।।
४. वही : परिशिष्ट -२० ।।

है। यद्यपि सिद्धान्त के रूप में अपने काव्य में कहीं भी नन्ददास ने इसे स्वीकृत नहीं किया है। पर मुरली की ध्वनि अपने सगुण रूप में जहाँ सौत बनकर आती है वहाँ अपने निर्गुणत्व में वह शाश्वत शक्ति भक्तों के मन-मानस में नाम,-जप के फलस्वरूप अनहद्-नाद बनकर जगती है—यह नाम-जप वैष्णवों का चरम काम्य रहा है और मुरली-ध्वनि ही अनहद-नाद है।

## रास-लीला :

नन्ददास ने रासलीला के वर्णन में भी श्रीमद्भागवत से प्रेरणा ली है। और, श्रीमद्भागवत् से बढ़कर इसका वर्णन किया है। श्रीकृष्ण का रास साधारण वस्तु नहीं। यह एक अलौकिक तत्त्व है। नन्ददास ने सिद्धान्त-पंचाध्यायी में राधा-कृष्ण, रास तथा ब्रज के आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट किया है। इस आध्यात्मिक दृष्टि से रास-लीला का रहस्य अपने पूर्ण वैभव एवं अलौकिकता के साथ हमारे समक्ष प्रकट होता है।

'लीला' शब्द का साधारण अर्थ क्रीड़ा, विहार अथवा कौतुक है; किन्तु नन्ददास के दादा गुरु श्रीवल्लभाचार्य ने इसे विशिष्ट अर्थ में स्वीकार किया है—लीला का उद्देश्य ही लीला है। भगवान अपने भक्तों के लिए अवतार लेकर लीला करते हैं। सर्वशक्तिमान इस लीला के बन्धन में नहीं बँध सकते। यह लीला ही कैवल्य है। ईश्वर यद्यपि लीलारत है, तथापि उसके नाम-कीर्तन से सांसारिक प्राणी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह लीला स्वयं पूर्ण है[1] नन्ददास भी इसी स्वर में अपने भाव को प्रकट करते दिखाई देते हैं—

**लीला गुन अवतार ह्वै धरि आये भैं तन स्याम।**
**जोग जुगुति सों पाइये पर-ब्रह्मपुर धाम ।।भँवर गीत ११।।**[2]

रास भी लीला ही है। बल्लभाचार्य ने भी अपनी सुबोधिनी टीका में 'बहुनर्तकी युक्तो नृत्यविशेषो रासः' कहकर नृत्य-संगीत के रूप में स्वीकार किया है। नन्ददास ने रासलीला में अपूर्व दिव्यता का समावेश कर दिया है।

श्रीमद्भागवत (१०) २६ से ३३ अध्याय में रास के प्रकरण में भी स्थान-स्थान पर अलौकिकता के दर्शन होते हैं। भगवान का शरीर जीव की भाँति जड़ नहीं है। वे चिन्दानन्द घन के समान दिव्य वपुधारी हैं, अज हैं तथा अविनाशी हैं। इन्हीं

---

१. नहि लीलायाँ किंचित प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्। ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यंनुयोक्तं शक्या ।। सा लीला कैवल्यं मोक्षः। तस्य लीलात्वेष्यन्यस्य तत्कीर्तने मोक्ष इत्यर्थः। लीलैव केवलेति वा ।। अणुभाष्य ।।

२. उदय नारायण तिवारी: भँवरगीत—११।



के समान गोपियाँ भी परम रसमयी एवं सच्चिदानन्दमयी हैं। गोपियाँ इस दिव्य जगत् की स्वरूपभूता अन्तरंग शक्तियाँ हैं। इन दोनों का सम्बन्ध भी दिव्य है। जब गोपियों का आवरण अर्थात् कंचुक भंग हो जाता है, चीरहरण हो जाता है तब इस रास में वे प्रवेश की अधिकारिणी होती हैं। इस रास में लीलामय श्री कृष्ण शरत्काल की दिव्य रात्रियों की सृष्टि कर अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा, अपनी ही प्रतिमूर्ति से उत्पन्न प्रतिविम्बस्वरूप गोपियों से आत्माक्रीड़ा करते हैं।[1]

## रास के तीन रूप :

रास उस नृत्य को कहते हैं जिसमें एक पुरुष हो और बहुत-सी स्त्रियाँ हों[2] रास का प्राचीन स्वरूप धार्मिक ही था। हरिवंशपुराण की हल्लीसक क्रीड़ा का ही विकास रास में हुआ, ऐसा विद्वानों का मत है। रास ने भारतीय साधना-पद्धति को एक नयी दिशा में मोड़ दिया जिसे आधुर्योपासना कहा जाता है और जिसके अन्तर्गत द्वैत एवं अद्वैत सभी प्रचलित उपासना-पद्धतियों को आत्मसात् करने की क्षमता दिखाई पड़ती है।[3]

वल्लभसम्प्रदाय रास के तीन रूप मानता है—नित्यरास, नैमित्तिक रास एवं अनुकरणात्मक रास। भगवान गोलोक में अथवा वृन्दावन में अपने आनन्द विग्रह से अपनी आनन्द प्रचारिणी शक्तियों के साथ नित्य रासमग्न रहते हैं।

उनकी यह क्रीड़ा अनादि एवं अनन्त है। कृष्ण और गोपियाँ संसार से निवृत्त एवं लौकिक काम से विनिर्मुक्त हैं। इस लीला के श्रवण एवं दर्शन से भक्त अपनी कामनाओं की आहुति बनाकर भगवान के भक्ति-यज्ञ को समर्पित कर देता है। इससे मन कल्मषरहित हो जाता है।

नन्ददास ने रास-पंचाध्यायी में श्रीमद्भागवत् का ही आधार ग्रहण कर अपनी कल्पना-शक्ति से उसका सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया है। कथा का आधार वही है जो श्रीमद्भागवत् में वर्णित है। किन्तु वर्णन की विशेषता नन्ददास की निजी है।

## नित्य रास :

नन्ददास के अनुसार यह रास नित्य है। स्वयं कृष्ण एवं रास का रस भी

---

१. डॉ० शशि अग्रवाल : हिन्दी कृष्णकाव्य पर पुराणों का प्रभाव; प्रयाग, १९६०, पृ० ६९।

२. एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा।

३. आँछा शर्मा : रास और रासान्वयी काव्य, १९५९, काशी, पृ० २१८।

नित्य है तथा अद्भुत है।[1] श्री वृन्दावन का स्वरूप भी दिव्य है। साथ ही, भगवान, भक्त, स्थान एवं समय—सभी की दिव्यता की पृष्ठभूमि में, रास स्वतः ही दिव्य है। इस शारदीया रजनी में यमुना-तीर पर प्रभु की रासलीला की इच्छा होती है। लीला पुरुषोत्तम शब्द ब्रह्ममय मुरली बजाकर सभी का आह्वान करते हैं और मोहित कर देते हैं। गोपियाँ शुद्ध प्रेमस्वरूपा है। पंचभूतों के प्रभाव से न्यारी हैं। ये धर्म-अर्थ एवं एवं काम का परित्यागकर भगवान में लीन हो चुकी हैं।

**सुद्ध प्रेममय रूप पंचभूतन तें न्यारी।**
**तिन्हहिं कहा कोउ कहै ज्योति सी जग उजियारी ॥**

इस रास में मरकत मणि के समान श्याम तथा कनक-मणियों की माला मानों वृन्दावन को पहना दी गयी हो। यह रास कमल-चक्र के समान घेराकार है जहाँ नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल-ध्वनि के समवेत स्वर के बीच मुरली की सम्मोहक ध्वनि सुनाई देती है। नन्ददास इस संगीतमय वातावरण का निम्नांकित पंक्तियों में वर्णन करते हैं—

**नूपुर, कंकन, किंकिनि करतल मंजुल मुरली।**
**ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली। ५।।६।।**

समस्त वाद्य-यंत्रों की समवेत ध्वनि भँवर-गुंजार के समान सुनाई देती है।[2] यह अनहद नाद के समान है।[3] समस्त गोपियों के बीच श्रीकृष्ण ऐसे हैं मानों कोई शिशु अपने प्रतिबिम्ब-विलास को देखकर खो गया हो।[4] इस रास का ऐसा विस्मयकारी प्रभाव है कि शिला भी द्रवित हो बह जाती है तथा सलिल भी अपना प्रवाह भूल शिलावत् हो जाता है। ऋषि-मुनि सभी सम्मोहित हो जाते हैं। यह रास मात्र दर्शन से ही आनन्दित करनेवाला है। इस आनन्द से विश्रान्ति

---

१. नित्य रास रस नित्य-नित्य गोपी जन बल्लभ
नित्य निगम जो कहत नित्य नव तन अति दुल्लभ ॥
वह अद्भुत रस रास कहत कछु कहि नहीं आवै।
सेस सहस मुख गावै अजहूँ पार न पावै ॥रा०। पं० ५।३०, ३१॥ब्र० र० दा०॥

२. रा० पं०—५।७

३. बाजत अनहद मृदंग ताल बिना गति सुगंध
अंग-अंग लायो निरखि जग्यौ रंग राग री।, पृ० ३६५, ना० प्र०।

४. रा०-पं० २२।१४ तब नागर नन्दलाल चाहि चित चकित होत यौं।
निज प्रतिबम्ब विलास निरखि सिसु भूलि रहत ज्यौं ॥ ५। १४॥



में महासुख है। वह अलौकिक सुखानुभव सूर्य, चन्द्र एवं ग्रह-नक्षत्र निकर को भी होता है। सभी इससे श्लथ हो अभिभूत हो जाते हैं।[1] शारदीय रजनी को भी इस विश्रान्ति में कालबोध नहीं रहता। इसी आनन्दलोक में राधा एवं कृष्ण विहार करते रहते हैं।[2] नन्ददास इसके अलौकिक स्वरूप का बारंबार अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति से वर्णन करते हैं—

**यह अद्भुत रस-रासि कहत कुछ नहि कहि आवै।**
**सुक सनकादिक नारद सारद अतिसय भावै ॥ ३० ॥**
**सिव मन ही मन ध्यावै काहू नाहि जनावै।**
**सेस सहसमुख गावैं अजहूँ अंत न पावैं ॥ ३१ ॥**

## तुरीयावस्था का सुख :

श्रीकृष्ण पंचाध्यायी में नन्ददास ने इसे तुरीयावस्था के सुख के समान वर्णित किया है।[3] वह शक्तिमान सदा एक रस रहनेवाला, सब घट में निवास करनेवाला, नित्य, अखण्डस्वरूप, आत्मानन्द रूप है और हृदय के रतिभाव से ही इसको प्राप्त किया जा सकता है।

## कामरस :

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि नन्ददास ने रति-भाव के माध्यम से ही इस अलौकिक भाव को बोधगम्य माना है। सहजयानी सन्तों ने जिसे अपने अशास्त्रीय ज्ञान के कारण युगनद्ध कहा, वही नन्ददास शास्त्रीय परिभाषा में आबद्ध कर प्रेम-सुगम्य मानते हैं। आधार वहीं है, पर नन्ददास का स्वर उदात्त है। यह शाक्त-भावना का ही वरदान था जो महानन्द, महारास के विशाल उदात्त भवन का निर्माण समाज-प्रचलित मधुर भावना की नींव पर हो सका। नन्ददास सिद्धान्त

---

१. अद्भुत रस रह्यौ रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि ॥ २२ ॥
पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उडु-मंगल सिगरौ।
पाई रवि रथ थक्यौ चलै नहि आगे डगरौ ॥ २३ ॥

२. थकित सरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी।
बिहरत सजनी स्याम जथा रुचि अति रति बाढ़ी ॥ २४ ॥

३. जैसे जागत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में सब
तुरिय अवस्था पाइ जाइ सब मुकि भई तब ॥ १०१॥

४. श्री० पं०—८८,८९।

पंचाध्यायी में स्पष्टीकरण करते हैं—

**योगी जिहिं अष्टांग साधनाहू साधन ते।**
**पाइ परम परमातम बहुरि करत ते ॥११३॥**
**तेसेंहि व्रज की वाम कामरस उत्कट करि कै।**
**शुद्ध-प्रेममय भई लई गिरिधर उर धरिके ॥ ११४ ॥**

यह कामरस ही उदात्तीकृत ही प्रेमरस में परिणत हो जाता है। यह साधनात्मक नहीं, मात्र भावात्मक है।

### रासमंडल का प्रतीक—श्रीयन्त्र :

नन्ददास वर्णित रास अष्टदल कमल के महामंडल के आकार का है, जिसके बीच दोनों किशोर अर्थात् श्रीकृष्ण एवं उनकी आह्लादिका शक्ति शोभायमान हैं। पुन: दो-दो गोपियाँ एक-एक पटल पर शोभायमाना हैं। इस प्रकार, सोलह गोपियों का चक्राकार आवरण है। इन सभी गोपिकाओं में एकमात्र श्रीकृष्ण का ही श्याम रस छलक पड़ रहा है। सिद्धान्त-पंचाध्यायी में नन्ददास इसे स्पष्ट करते हैं—

**आरंभित तव रुचिर रास अद्भुत सुलास जहँ।**
**अमल अष्टदल कमल महामंडल मंडित तहँ ॥ ११५ ॥**
**मधि कमनीय करनिका तापर विधि किशोर वर।**
**पुनि द्वै द्वै गोपी करि हरि-मंडित मंडल पर ॥ ११६ ॥**
**एकै मूरति ललित लाल आलात को नाई।**
**सबके अंसनि धरी साँवरी बाँह सुहाई ॥ ११७ ॥**

प्रस्तुत विवरण का दर्शनखण्ड के श्रीयन्त्र से अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है। रास ब्रह्म की लीला है। श्री-यन्त्र भी ब्रह्म की लीला का ही प्रतीक है। त्रिकोण के मध्य में अद्वय रूप से शक्ति-शक्तिमान की लीला चलती रहती है तथा वृत्त में अष्टपटल पर दो-दो गोपियों की स्थिति ही दूसरे आवरण में षोडस पटल के रूप में व्यक्त की गयी हैं। नन्ददास ने रास के स्वरूप में वृन्दावनधाम में अथवा विश्व में इसी श्री-यन्त्र के प्रतीक के रूप में वैष्णव आधार पर श्री-यन्त्र का स्वरूप निर्मित किया है। यद्यपि नन्ददास आगम-शास्त्र को वृत्तान्त[1] कहकर वामाचार से भयभीत लगते हैं पर अन्यत्र आगमप्रमाण के आधार पर नन्ददास रास को सहज भाव की संज्ञा देते है।[2]

### इड़ा-अम्बिका :

पुन: श्रीकृष्ण के प्रति रति-भाव को सुमना-रति की संज्ञा देने में आपका

१. अनेकार्थ ध्वनि मंजरी—१०७ ॥
२. जग में जो संगीत नाहि निरही जगत रिझायौ।
अस ब्रजदेवी की सहज गमन यों आगम गायो ॥ १२२ ॥ सि० पं० ॥



अभिप्राय सुषुम्ना सिद्धि को ही और ज्ञात होता है।[1] इड़ा को अम्बिका माँ कहकर उससे घनश्याम की प्रीति की याचना करते दिखायी देते हैं।[2]

### कृष्ण-शिव-अभेद :

ये छिट-फुट उल्लेख इस बात की पुष्टि करते हैं कि नन्ददास शाक्त-भावना या उसके दार्शनिक सिद्धान्तों से अपरिचित नहीं थे। आपने एक स्थल पर कृष्ण और शिव का अभेद भी वर्णित किया है।[3] और रुक्मिणी मंगल में रुक्मिणी द्वारा भगवती अम्बिका की पूजा एवं स्तुति भी करायी गयी है।[4]

### संभोग—एक पर्यालोचन :

नन्ददास ने रास में ही परमानन्द की प्राप्ति कर ली है, फिर भी वे संभोग-श्रृंगार का वर्णन करते दिखाई देते हैं।[5] यहाँ पर उनका स्वर सर्वथा लौकिक ही है। सूर का यह वर्णन अलौकिकता की भावभूमि को स्पर्श कर गया है। नन्ददास ने अद्वयता की सिद्धि तो रास के प्रकरण में ही प्राप्त कर ली थी और यही कारण है कि संभोग-श्रृंगार के वर्णन की नकल में वे उस भावभूमि को स्पर्श नहीं कर पाते जो शाक्त-भावना की कामकला का आधार है।

इन वैष्णव कवियों के संभोग-वर्णन का आधार स्पष्टत: ही शाक्त-भावना ही है। यह भाव इतना प्रचारित एवं लोकप्रिय था कि प्रेमा भक्ति की धारा को भी उसे स्वीकार करने को वाध्य होना पड़ा। शाक्त-दर्शन चिरन्तन जन-मानस की उपज है, ऐसा पूर्व ही निवेदित हो चुका है। यही जन-मानस की भावना अपने शुद्ध एवं परिष्कृत रूप में दर्शन के साधनात्मक एवं भावात्मक उभय पक्षों को स्वीकार कर उभरी। षड् चक्र-भेदन जहाँ साधनात्मक था वहाँ भावात्मक साधना में भी पवित्रता ही थी। यह बात दूसरी है कि इसका विकृत रूप वामाचार में फूला-फला और मात्र इसी से समस्त भावना को कलुषित नहीं कहा जा सकता। इस भावना में लोक-जीवन के लिए सहजता थी। यही कारण है कि इतने मुक्त रूप में इसे वैष्णव कवियों द्वारा स्वीकार भी किया गया। लोक से परलोक की साधना सहज थी। संसार में ही ब्रह्म का अनुभव एवं शरीर में ही रसानुभव, इस साधना का

१. सुमना-रति सोई स्याम सों, करिले लंपट जोय ॥ अ० ध्व० मं०—१०१ ॥
२. इड़ा अंबिका मातु मोहि, प्रीति देहि घनस्याम ॥अ० ध्व० मं० ।१०२॥
३. सिव सुख, सिव कल्याण पुनि, श्रेष्ठ पुरुष सिव होय।
शिव शंकर अरु शिव सलिल, कृष्ण सदा शिव सोय ॥ वही ८३ ॥
४. अहो देवि अंबिके गौरि, ईश्वर सब लायक
महा-माय, वरदाय, सुभ संकर तुमरे नायक ॥ रु० म० १०३ ॥
५. द्रष्टव्य : पद-संख्या ७०, पृ० ३४६।

चरम-उत्कर्ष था जो वैष्णवों के साहित्य में अपनी पूरी पवित्रता के साथ निखार पा सका। यही माधुर्य-भाव का जन्म-दाता हुआ। चैतन्य ने इसी भाव को अपनी गृहिणी के प्रेम में प्राप्त किया था। विकार तो मन की वस्तु है। मन के विकार को दूर करने के लिए जब उसमें ईश्वरीय भाव का समावेश कर दिया गया तो शारीरिक भावानुभूति साधना का सोपान बनकर मानसिक भावानुभूति को उच्चतम लोक पर प्रतिष्ठित कर देने में समर्थ हो जाती है जिसे नन्ददास भी रास में पूर्णता के विन्दु पर प्रतिष्ठित कर सकने में समर्थ हो सके।

### वृन्दावन—एक भावलोक :

नन्ददास ने वृन्दावन को स्थानविशेष से ज्यादा एक भावलोक के रूप में स्वीकार किया है। रास-पंचाध्यायी में वृन्दावन का वर्णन सोलह रोला छन्दों में हुआ है।

वृन्दावन चिद्घन के समान अपूर्व रूपधारी है जिसने कृष्ण की लीला के धारण के निमित्त जड़ रूप-धारण किया है। यहाँ के वनस्पति-जगत् के ऊपर काल का प्रभाव नहीं, पशु-जगत् भी निज पशुभाव विस्मृत कर कामादि दोषरहित लीला का अनुभव करते हैं। जिस लक्ष्मी के भ्रू-विलास से समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है वही उसके चरणों को अपने स्वरूप में स्थित होकर सेवन करती रहती हैं। शेष, गणेश, सुरेशादि देवता भी इसकी शोभा का वर्णन करते नहीं अघाते। वनस्पति-जगत् कल्पद्रुम के समान मनोवांछित फल देनेवाला तथा भूमि चिन्तामणि के समान चिन्तित फलदायिका है।[1]

### वृन्दावन—एक प्रतीक :

पुनः इस वृन्दावन के वर्णन में एक प्रतीकात्मकता का आधार आभासित होने लगता है। नन्ददास इस प्रतीक को वृन्दावन के प्रसंग में निम्नलिखित रूप में व्यक्त करते है—

वृन्दावन के बीच एक कल्पतरु है जिसकी ज्योति निरन्तर जगमग करती रहती है। इस कल्पतरु के पत्र, मूल, फूल एवं फल सभी हीरा, मणि एवं मोतियों से प्रभावान हैं। इस वृक्ष की सुगन्ध के वशीभूत हो भँवरे निरन्तर लुब्ध हो गुंजार करते रहते हैं। भँवरों के इस शब्द पर श्रेष्ठ किन्नर, गन्धर्व एवं अप्सराएँ भी न्योछावर होती रहती हैं। इस वृक्ष से निरन्तर अमृत की फुहार झरती रहती हैं। इस वृक्ष की एक अनुपम विशेषता यह है कि इसके पत्र-पत्र पर भगवान का प्रतिबिम्ब विराजमान है। कोमल कनकवर्णा भूमि मणिजटित है। वहाँ एक श्वेत वर्ण का सुन्दर मणिमय अंक-चित्र है जिसपर सोलह दलवाले कमल

१. रास-पंचाध्यायी —१।१७-२५।



की चक्राकार आकृति बनी है। कमलाकार आकृति के भीतर कुंडलाकार सर्व-सुखदायिका कंदरा है जहाँ रसिक शिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं।[1]

ऊपर वर्णित वृन्दावन का चित्र एक दिव्य स्थल है, कोई प्राकृत स्थल नहीं, यह मनोरम भावना-भूमि है जहाँ भगवान श्रीकृष्ण की नित्य लीला चलती रहती है। इस वर्णन में षोडसदल कमल एवं उसके मध्य कुंडलाकार वृत्तकी चर्चा है। पुनः इसके मध्य शक्तिमान की अवस्थिति मानी गयी है। यह वर्णन दर्शन-खण्ड में वर्णित विशुद्ध-चक्र के वर्णन से मेल खाता दीखता है। यह सहस्रारलोक का वर्णन नहीं जहाँ कुण्डलिनी शक्ति का लय योग होता है।[2] यह उससे नीचे की भूमि है जिसे नन्ददास ने लीला विलास की भूमि के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। वल्लभमत का यह व्यापी बैंकुण्ठ है जहाँ शक्तियों के साथ भगवान की नित्य लीला होती रहती है। श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण एवं पद्मपुराण के प्रभाव के कारण वृन्दावन को पुरुषोत्तम कृष्ण के धाम के रूप में वर्णित किया गया है; पर नन्ददास ने इससे आगे बढ़कर अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग किया है जिसके पीछे शाक्त-प्रभाव की संभावनाओं को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

१. रास—पंचाअध्यायी—१।२६ से ३२।
२. वैष्णवमत में लययोग की साधना नहीं, लीला की महत्ता है।

# मीराँ में शक्ति-तत्त्व के अन्वेषण के नये आधार

## मीराँबाई की शक्ति-भावना :

वैष्णव भक्तिधारा में अधिकतर काव्य, पुरुषों के द्वारा ही रचे गये और विशेषतः कृष्ण-भक्तिधारा में जो साहित्य का प्रणयन हुआ उसमें भक्ति की सारी विशेषताओं से संयुक्त मीराँ का स्वर परम्परागत धारा में होने पर भी सर्वथा नवीन स्वर से निनादित है। नवीन स्वर इसलिए कि, जहाँ पुरुष भक्तों ने प्रेममूला भक्ति में गोपियों और राधा के माध्यम से प्रेम का उत्कर्ष दिखलाया वहाँ मीराँ को किसी आधार की आवश्यकता नहीं पड़ी। अन्य कवियों के विनय अथवा ऐश्वर्य-वर्णन के पदों से मीराँ का पर्याप्त साम्य है; किन्तु प्रेम और विरह में मीराँ का स्वर सारी सीमाओं का अतिक्रमण कर मर्म का लोक स्पर्श करने लग जाता है। कारण, मीराँ ने राधा के प्रेम की उत्कटता का हृदय में अनुभव किया था।

## प्रेममयी मीराँ :

प्रेम की डोर पकड़कर उसने सारे विघ्न-बाधाओं की अवहेला की थी। राधामयी होकर उसने सारी वेदना को भोगा था। तन्मयता के इन्हीं क्षणों में वह अपने प्रियतम कृष्ण से साक्षात्कार कर सकी थी। यही कारण है कि मीराँ के पदों में जो भावनाओं की तीव्रता है उसमें भावों का आरोपण नहीं, सच्चे हृदय के उद्गार हैं और इन पदों का स्पर्श हमें अनुपम भाव-लोक में आसीन कर देता है।

## विरहिनी मीराँ—राधा-रूपा :

मीराँ ने अपने प्रियतम को निवेदित कर जिन पदों की रचना की है उनमें विरह ही प्रधान है। यह विरह लोक और अध्यात्म दोनों का समान रूप से स्पर्श करता सा दीखता है। मीराँ के आलम्बन आध्यात्मिक हैं। भाव-वर्णन लौकिक है और मीराँ राधा के अवतार के रूप में अपनी सारी साधना, प्रेम और वासनाएँ कृष्ण के चरणों पर निवेदित करती सी दिखलायी देती हैं।

## तटस्थ गायिका नहीं—मीराँ स्वयं शक्ति हैं :

मीराँ के काव्य में शक्ति-तत्त्व का अन्वेषण करने के क्रम में इस तथ्य पर ध्यान रखा जाना चाहिए कि मीराँ कृष्ण के चरित्र की तटस्थ गायिका नहीं, वह स्वयं श्रीकृष्णचरित्र का एक अंग है। वह स्वयं उन्हीं सोलह हजार गोपियों में में एक है जो योगमाया मुरली के आह्वान पर परमात्मा से मिलने के लिए वावली-



सी होकर दौड़ पड़ती है। इसलिए स्वयं मीराँ को ही शक्ति-तत्त्व के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

शक्ति-तत्त्व कोई बाहर की साधना नहीं। शाक्त-साधना में शक्ति का निवास पिण्ड में ही बताया गया है। इसकी साधना या जागरण या तो यौगिक क्रिया से होता है या भक्ति-भावना से। भक्ति-भावना का क्षेत्र भी शाक्तों का ही क्षेत्र है। और, इस भक्ति-भावना में जिसने शक्ति के साथ अपना तादात्मय कर लिया उसके लिए शक्तिभाव की प्राप्ति सहज ही हो जा सकती है। मीराँ के सम्बन्ध में ये ही आधार हैं जिनपर शक्ति-भावना का अन्वेषण किया जाना चाहिये।

## परम्परागत कृष्ण :

मीराँ के पदों में हम कृष्ण का परम्परागत रूप-वर्णन पाते हैं। मीराँ के कृष्ण हरि हैं, वे ब्रह्म हैं और उन्होंने भक्तों के आनन्द के लिए लीला की तथा अनेक अवतार धारण किये हैं। दूसरे वे विष्णु से अभिन्न हैं—

**मन थें परस हरि रे चरन**
**सुभग सीतल कंवल कोमल**
**जगत ज्वाला हरन ॥**[1]

किन्तु मीराँ के प्रभु कृष्ण ही हैं—

**मौर मुकुट माथ्याँ तिलक विराज्याँ**
**कुण्डल अलकाँ' कारी जो।**
**अधर मधुर धर बसी बजावाँ,**
**रीझ रीझावाँ ब्रज नारी जी॥**
**या छब देख्याँ मोह्याँ मीराँ,**
**मोहन गिरवरधारी जो॥**[2]

कृष्ण के लिए बाँकेबिहारी, मोहन गिरवरधारी सम्बोधन अत्यन्त भावपूर्ण है। 'बाँकेबिहारी' से कृष्ण के अनन्त सौन्दर्य का बोध होता है, 'मोहन' से उस सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्त होता है और 'गिरवरधारी' में उनकी भक्तवत्सलता प्रकट होती है। मीराँ में इस प्रकार के भाव के पद बहुत मिलेंगे।

## ज्योतिर्मय कृष्ण :

इसके अतिरिक्त मीराँ ने कृष्ण का ज्योतिर्मय रूप भी वर्णित किया है।

---

१. मीराँबाई और उनकी पदावली—पृ० १४७।
२. मीराँबाई और उनकी पदावली—पृ० १५१

किन्तु वहाँ कृष्ण परमज्योति हैं जिससे मीराँ अपनी आन्तरिक ज्योति का तादात्म्य करना चाह रही है।

**मीराँ कहे प्रभु गिरिधर नागर,**
**जोत में जोत मिला जा।**[१]

कृष्ण का ब्रह्मत्व सिद्ध है और वे महादेवपूजित भी हैं—

**जोगियाँ चतुर सुजाण सजनी,**
**ध्यावे संकर सेस॥**[२]

यहाँ तक कि इस कृष्ण के द्वारे सुर, नर, मुनि सभी खड़े रहते हैं—

**उठो लाल जी भोर भयो है,**
**सुर, नर, ठाढ़े द्वारे।**[३]

मीराँ ने कृष्ण के लिए कई बार 'राम' और 'जोगिया' शब्द का प्रयोग किया हैं। विद्वानों ने इसे मीराँ पर संतों का प्रभाव माना है। विरहिण की भाषा में परदेशी प्रियतम के लिए उस काल में 'योगी' शब्द का प्रयोग स्वाभाविक है। योगियों के चमत्कार से अभिभूत हो कितने विवाहित गृहस्थ योगी हो जाते थे और लोकगीतों में परदेशी अथवा निष्ठुर प्रियतम के लिए 'योगी' शब्द का प्रयोग होता था।

राम और कृष्ण दोनों साक्षात् ब्रह्म होने के कारण समान रूप से पूजित रहे हैं। मीराँ के विषय में प्रसिद्धि है कि वह संत-समागम करती थी। अतः राम और कृष्ण दोनों नामों का प्रयोग उसने अपने प्रियतम कृष्ण के लिए ही किया। कृष्ण मीराँ के पूर्वजन्म के प्रियतम हैं—

**मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, पूरब जनम को कंत॥**[४]

मीराँ जन्म-जन्म की अविवाहिता और कृष्ण की अनुरागिनी है। वह उन चरणों की दासी है।

**मीराँ-कृष्ण-सम्बन्ध :**

**चरण सरण री दासी मीराँ,**
**जणम-जणम री क्वारी॥**

---

१. मीराँबाई और उनकी पदावली—पृ० २२८
२. ,, ,, —पृ० ३०१
३. ,, ,, —पृ० ३४६
४. ,, ,, —पृ० ३०९
५. ,, ,, —पृ० २३३।



मीराँ ने जहाँ लौकिक रूप में अपने जन्म-जन्म को अविवाहिता कहा वहाँ ही उसकी शक्तिमत्ता सिद्ध हो जाती है। अविवाहिता का दूसरा भाव यह है कि वह युग-युगों से अपने शक्तिमान के साथ अनुरागात्मक सम्बन्ध में बँधी है। मीराँ ने अनेक पदों में अपने जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध को प्रकट किया है—

**१. मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीजाँ, पूरब जनम को कौल**
**२. मेरी उणको प्रीत पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ।**
**३. मीराँ कूँ प्रभु दरशण दीज्यौ, जनम जनम को चेलो।**
**४. मीराँ के प्रभु कब रे मिलौगे, पुरब जनम का साथी॥**

ज्योतिर्मय मीराँ :

मीराँ ने जहाँ सहज भाव से अपने सम्बन्ध की सूचना दी है, वहाँ वह मात्र अनन्या है—अपने कृष्ण की बिना मोल की दासी। पर वह दासी साधारण दासी नहीं। दासीपना उसका धर्म एवं वृत्ति है पर वह भी अपने ज्योतिर्मय श्याम के लिए ज्योतिर्मयी शक्ति है—तभी उसका ज्योति से ज्योति में मिलन सम्भव हो सकता है। ज्योति-पुंजों का यह मिलन ही शिव-शक्ति-मिलन के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

अद्वयता :

यहाँ मीराँ ने अपनेको शक्तिमान का अंश ही माना है और यही अर्द्ध-नारीश्वर भाव है। यही चणक के दो खण्डों की स्थिति है।

इसलिए मीराँ का प्रेम मछली की तरह है।[१] जल के बिना मछली जीवित ही नहीं रह सकती। मीराँ की स्थिति कृष्ण को ही लेकर है अर्थात् शक्ति भी बिना शक्तिमान के अवस्थित रह ही नहीं सकती क्योंकि वह उन्हीं का विमर्श-रूप है। इसी को अन्यत्र दूसरे पद में अधिक स्पष्ट करके कहा गया है—

**तुम बिच हम अन्तर नाँहि, जैसे सुरज घामा॥**[२]

शक्तिमान से शक्ति की क्रीड़ा नित्यभाव से चलती रहती है। मीराँ लोक-ज्ञान से ऊपर नहीं उठ सकी है इसलिए वह भावात्मक क्षेत्र में क्रीड़ा-संगिनी नहीं बन पाती। फिर भी, बारहमासा आदि के वर्णन में वियोग के माध्यम से संयोग की क्रीड़ा-कामना की झलक मिलती है। बारहमासा प्राकृतिक उद्दीपन जो भूमि पर ही उपजा है फिर भी अपने शाश्वत विरह में शरीर की सत्ता से ऊपर उठकर

---

१. मीराँबाई की पदावली—पृ० २७६।
२. वही ,, —पृ० २९७।

अदेह हो जाती है—

**मीराँ रे प्रभु साँवरे, थें बिण देह अदेह ।।**[1]

यहाँ 'अदेह' शब्द से 'संज्ञाहीनता' की ध्वनि मिलती है। संज्ञाहीनता ही संसार की सीमा से ऊपर उठ जाना है, चरम तन्मयता का क्षण है। शारीरिक संस्पर्श की आकांक्षा में देह की सत्ता की अनिवार्यता रहती है। किन्तु भावात्मक संस्पर्श के लिए अदेहावस्था ही सर्वथा उपयुक्त है। और, यही अदेहावस्था शक्तिमयता की स्थिति है। सारी बातों के सार रूप में यही निवेदन है कि बिना शक्ति की स्थिति को प्राप्त किये शक्तिमान के साथ अद्वयता हो ही नहीं सकती। शक्ति की स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही योग, मंत्र या भक्ति की साधना होती है। साधक या भक्त क्रम-क्रम से अपना परिष्कार करता हुआ शुद्ध शक्तिमयता की स्थिति में आ जाता है। इसे हम विमुक्तावस्था कहें या कुछ और, पर यही साधक की चरमसिद्धि है।

### मुरली-तत्त्व :

मीराँ ने कृष्णमार्गी शाखा के अन्य कवियों की तरह मुरली का महत्व स्वीकार किया है। मुरली के तत्त्व का पहले के अध्याय में विवेचन हो ही चुका है। मीराँ भी मुरली के अलौकिक प्रभाव का वर्णन करती दिखाई देती हैं—

'मुरली की सम्मोहिका शक्ति का कारण स्वयं कृष्ण का सामीप्य है। सात स्वरों का फन्दा लिये मुरली मीराँ को जड़ीभूत कर डालती है।'[2]

मुरली के नाद-ब्रह्म होने की चर्चा मीराँ ने नहीं की। इस सम्बन्ध में वह केवल अष्टछापी कवियों का इषत् अनुकरण करती सी जान पड़ती है, किन्तु मुरली का स्वरूप शक्ति का ही है।

### चरमलोक :

धाम का महत्त्व भी मीराँ को ज्ञात है और वही प्राकृत रूप में जिसे वृन्दावन कहती हैं उसे ही 'अगमदेश' कहकर सम्बोधित करती दिखाई देती हैं। मीराँ के शब्दों में वही परमात्मा का लोक या देश हैं। वहाँ प्रेम का कुण्ड भरा रहता है और हंसरूपी आत्माएँ वहाँ आनन्द क्रीड़ाएँ करती रहती हैं। जहाँ मृत्यु का भय नहीं व्यापता और जहाँ कृष्ण का ध्यान करके मन को पापमुक्त बनाया जाता है। जहाँ शील का घुँघरू बाँधकर सन्तोष का नृत्य किया जाता है। जहाँ नारियाँ सोलहौं शृंगार सजाकर सोने का चूड़ा पहनती हैं और जहाँ एकमात्र कृष्ण से ही

१. मीराँबाई की पदावली—पृ० २६०।
२. ,, ,, —पृ० ३४७-४८।



प्रीति की जाती है।

**चालाँ अगम वा देश, काल देख्याँ डराँ**
**भराँ प्रेम रा हौज, हंस केल्याँ कराँ ।।** इत्यादि ।।[1]

उपर्युक्त पद के दो भाव निकलते हैं। जहाँ एक ओर मीरा कृष्ण एवं शृंगार से सज्जित नारियों का उल्लेख करती दिखाई देती है, वहाँ वृन्दावन का बोध होता है पर प्रारम्भिक पंक्तियों में निर्देशित अगम देश साधना का देश है जिसे कबीर ने—

'हम बासी उस देश के जहँ बारह मास विलास'—कहकर निर्देश किया है। नाम कोई भी दें पर वह लोक ही कैलाश है, वृन्दावन है, साकेत है तथा वही सहस्रसार से ऊपर परासम्बित का लोक है। उसी लोक को मीराँ ससुराल के नाम से सम्बोधित करती दिखाई देती है।

### हंस :

मीराँ इस लोक का निर्देश करती हुई हंसरूपी आत्माओं का भी उल्लेख करती है। हंस प्रतीक की अन्यत्र व्याख्या की गयी है। हंस ही सोहं का प्रतीक है। हंस अर्थात् वे आत्माएँ जो आत्मज्ञान की उपलब्धि कर चुकी है। इस प्रकार, सिद्ध साधक ही हंस है और मीराँ का हंस-तत्त्व से परिचय था—ऐसा हम सहज ही स्वीकार कर सकते हैं।

### योगिनी :

शाक्त-साधना में पहले भी 'योगिनी' की चर्चा हो चुकी है। मीराँ बारम्बार योगिनी बनने की अभिलाषा करती दिखाई देती हैं।[2] योगिनी शक्ति का का ही रूप है। वह साक्षात् शक्ति है। इसी भाव पर समाज में योगिनी बन जाने की प्रथा रही होगी। योगिनियों की अधोगति के कारण शक्तिमत्ता का भाव तो तिरोहित हो गया था, पर वेशभूषा वही बनी रही।

मीराँ भी अपने कृष्ण के सन्धान के लिए वैराग्य धारण करने की अभिलाषिणी है।[3] यह वैराग्य भी सांसारिक वासना से ऊपर उठ जाना ही है जिसका प्रचलित अर्थ घर-बार छोड़ना हो गया।

### सेज :

पुनः मीराँ ने जहाँ सेज का उल्लेख किया है, वह भी प्रतीकात्मक है। लौकिक आधार पर ही प्रेम का रूप फूल-फल सकता है। इसीलिए प्रतीक भी लौकिक ही रहा करते हैं। आध्यात्म साधना में लौकिक प्रतीक अलौकिक संकेत करते दिखाई देते हैं। सन्तों की बानी में यही हम पहले भी देख चुके हैं। इन

१. मीराँबाई की पदावली—पृ० ३७२।
२. मीराँबाई की पदावली—पृ २८३
३. वही ,, —पृ० २८५।

लौकिक संकेतों का जन्म निश्चय ही लोक-तत्त्व के धरातल पर हुआ। क्योंकि, लोक-बोध के लिए दार्शनिक प्रतीक सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं।

मीराँ ने 'सेज' शब्द का प्रयोग लौकिक अर्थ में नहीं किया। सेज पर वह कलियाँ चुन-चुनकर बिछाती है। पहले जिस पिण्ड की चर्चा हो चुकी है वही सेज है। साधक का शरीर ही सेज है जिसमें (अथवा जिसपर) वह ब्रह्म का आह्वान कर सकता है। मोह में आबद्ध जीव को परमात्मा का अनुभव नहीं होता। जो साधक तत्त्व-ज्ञान या भक्ति द्वारा मोह के बन्धन को काट सकता है वही परमात्मा को सेज पर लेने का अधिकारी है।

मीराँ भी मोह के बन्धन को काटकर ही सेज पर स्वागत करने में समर्थ हो सकी हैं। उसने इस सेज को बड़े मनोयोग से बिछाया है।[1]

**पाँच सखियाँ :**

मीराँ जब पंचरंग चोला का उल्लेख करती हैं तब वह पंचतत्त्वों से बने शरीर के विषय में ही कहती जान पड़ती है—

**पंचरंग चोला पहर्‌या सखी म्हाँ, झिरमिट खेलन जाती ॥**[2]

पुन: वह आगे कहती है कि—

**म्हारा पियाँ म्हारे हीवड़े बसताँ णा आवाँ णा जाती ॥**[3]

एक ओर पंचतत्त्व के शरीर से ही परमात्मा के साथ लुकाछिपी का खेल खेलने की आकांक्षा और दूसरी ओर परमात्मा को हृदय में ही अनुभव करना—शरीर की स्थिति को स्वीकार करना है। किन्तु, शरीर से परमात्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता है। वह तो दिव्य शरीर से ही संभव है और दिव्य शरीर में पंचतत्त्व के लिए स्थान कहाँ है ?

ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग रह जाता है कि पंचतत्त्ववाले शरीर की साधना से शक्तिमान के साथ मिलन संभवत: मीराँ का अभिप्राय हो। पर मीराँ ने किसी प्रकार की यौगिक साधना भी नहीं की।

अन्तत: यही निष्कर्ष हमारे हाथ आता है कि मीराँ ने भाव-साधना से अपना रूपान्तर कर दिव्यता प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि एक ओर पंचतत्त्व शरीर से वह परमात्मा के संग झिरमिट भी खेलती है और पाँच सखियों के रूप में पंचतत्त्व या पंच कंचुक तटस्थ द्रष्टा बने रहते हैं—

**पाँच सखी इकट्ठी भई, मिलि मंगल गावें हो।**[4]

---

१. मीराँबाई की पदावली—पृ० ३३२।
२. „ „ —पृ० १८६।
३. „ „ —पृ० १८६।
४. „ „ —पृ० ३३२।



पाँच कंचुकों का तटस्थ द्रष्टा बना रहना तभी सम्भव है जब साधक विमुक्त हो जाये और मीराँ का अभिप्राय इसी विमुक्तावस्था की ओर है।

**निष्कर्ष :**

मीराँ के सम्बन्ध में शक्ति-तत्त्व या शाक्त-प्रभाव उपरिचर्चित रूपों में हमें प्राप्त होते हैं। स्वीकार करना होगा कि यह प्रभाव कुछ विशेष मुखर नहीं है। कतिपय बिन्दुओं को लेकर ही विचार करने पर भी शाक्त-प्रभाव का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं मिलता। इसके कुछ कारण हैं—

सर्वप्रथम, मीराँ राजकुल की स्त्री थीं। राजकुल की संस्कृति लोक-संस्कृति से असम्पृक्त रहती आयी है। मीराँ इसके अतिरिक्त अन्त:पुरवासिनी कुलवधू थीं। वहाँ तक लोक-प्रभाव का पहुँचना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं रहा होगा। फिर भी, मीराँ ने यदि हंस, योगिनी, सतगुरु, ज्योति आदि शब्दों का प्रयोग किया है तो यह सन्तों के समागम का प्रभाव माना जाना चाहिए। मीराँ के हृदय में प्रेम-तत्त्व था। सन्तों ने उसे सत्संग से विचार दिये और मीराँ ने लौकिक आधार का पल्ला गहरे पकड़कर आध्यात्म की सिद्धि प्राप्त कर ली। उसकी अगर कोई साधना थी तो वह भाव की ही साधना थी। वही उसकी अष्टयाम-पूजा थी।

अत: मीराँ पर शाक्त-प्रभाव सीधा नहीं पड़ा। जो भी आया वह सन्तों के माध्यम से। अत: दार्शनिकता का कोई लेश नहीं है। मीराँ स्वयं शक्ति है और उसे यह शक्तितत्त्व किसी साधना की अपेक्षा विशुद्ध भाव से प्राप्त होता है।

का आधार है तथा सच्चिदानन्द श्रीकृष्णबल्लभा होने के कारण चित्‌रूपिणी, आनन्द एवं रस का आगार है। भाषा-भेद के अलावा प्रायः सभी कवियों का आधार यही सच्चिदानन्दवल्लभा का प्रेममय-रसमय रूप है।

**अभिन्न-सम्बन्ध :**

शक्तिस्वरूपा राधा का शक्तिमान कृष्ण के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। बिना शक्ति के शक्तिमान की लीला हो ही नहीं सकती। उपनिषदों में वर्णित उसके एकाकी रमण की असमर्थता यहाँ भी लीला में सर्वत्र परिलक्षित होती है।

**राधा-रूप—गोपिकाएँ :**

यहाँ शक्तिमूर्ति राधा के साथ-साथ सोलह हजार गोपियाँ भी हैं। पर वे सभी राधारूपा हैं अथवा शक्ति का ही विविध रूपों में आभास है। श्रीकृष्ण प्रकृत पुरुष नहीं हैं और उनकी लीला प्रकृत नारियों से हो ही नहीं सकती। ये कवि कृष्ण के परमात्म तत्त्व का विविध रूपों में आख्यान करते हैं। अस्तु। यह स्वयंसिद्ध है कि गोपियाँ भी मानवी नहीं। एकमात्र शक्ति की विभिन्न देवियाँ हैं। मार्कण्डेयपुराण में देवी के वर्णन में भी यही भाव और भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया गया है। वहाँ भी देवी विविध रूपों में भासित हैं पर अन्ततः वे एक ही हैं। गोपियों की सृष्टि तथा देवियों की वृहद्‌सृष्टि में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है।

**शक्ति-शक्तिमान का अभेद :**

कृष्ण और राधा अथवा शक्ति एवं शक्तिमान देखने में अलग-अलग प्रतीत होते हैं पर उनमें कोई अन्तर नहीं।[1] इनकी जोड़ी के वर्णन में इन कवियों ने अपनी कवित्व-शक्ति का अद्‌भुत चमत्कार प्रदर्शित किया है। राधा-गिरिधर की जोड़ी कुंभनदास के शब्दों में—

**मनहुँ परस्पर कोटि मदन-रति की सुन्दरता बोरी है ॥१३॥**

राधा यहाँ परकीया नहीं, स्वकीया है, वह उनकी पत्नी है। कृष्णदास के शब्दों में—

**बाम भाग बृषभानु-नंदिनी, चंचल नैन बिसाल।**
**कृष्णदास दंपति-छवि निरखत, अँखिया भई निहाल ॥१४॥**

यह जोड़ी साधारण नहीं, अद्‌भुत जोड़ी है। इनकी कांति, रूप, बल, वैभव

१. यहि तें कहति मलमत तोसौं, एक संग नित खेलो ॥ चतुर्भुजदास ॥ ५५ ॥



एवं महिमा का वेद भी गायन करने में असमर्थ है।[1] हंस-हंसिनी के समान विकार-हीन चित्त वाले शुद्ध आत्मा रूप यह जोड़ी समान गुणों से भूषित मानो सागर-सागरी के समान है।[2] दोनों एक दूसरे के पूरक के रूप में शोभित हो रहे हैं। चतुर्भुजदास ने इस पूरक भाव को निम्नांकित पद में व्यक्त किया है—

**नवल किसोर नवल किसोरी, बनी है विचित्र जोरि**
**सोभा सिन्धु, मदन मोहन रूप-रासि भामिनी।**
**राजत तन गौर-स्याम, प्यारी पिय भागवान्**
**नव घन गिरधरन अंग, अंग मनहु दामिनी ॥**
**पहिरे पट पियरो भूषण, भूषित सब मानों अंग,**
**गजगति गोपाल नागर, नागरी गज-गामिनी ॥**
**दास चतुर्भुज दंपति को उपमा न कोउ काम,**
**मूरति कमल-लोचन, मृगनैनी कामिनी ॥ पद-संख्या ३१ ॥**

इनकी प्रीति शाश्वत है। चिरन्तन है, इसमें वय का बन्धन नहीं। यही अलौकिक प्रीति गोपियों को कृष्ण-जन्म के पश्चात् खींचकर ले जाती है। परमानन्ददास की गोपियाँ इस दुधमुँहे कृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव नहीं अपितु रतिभाव रखती है। यहाँ वय का आकर्षण नहीं। यह निरन्तर आकर्षण है।[3]

**मुरली-शक्ति :**

मुरली का वर्णन भी इन कवियों ने सूर और नन्ददास के समान ही किया है। कृष्ण की वंशी सातों स्वरों में निनादित है। इस आह्वान की उपेक्षा कोई भी गोपिका नहीं कर सकती। शारदीय ज्योत्स्ना में यह संगीत-स्वर विश्वविमोहन-कारी है।[4] मोहन की मुरली की ध्वनि सुनकर गायें भी दौड़ती हुई उनके पास चली

१. रूप कांति बल वैभव महिमा, रटत वेद-श्रुति-मति हारी ॥ १५—कृष्णदास
२. कृष्णदास—पदसंख्या—६४
गिरिधर कल हंस-हंसिनी, मानौं तरुन-तरुनि दोऊ
समतल गुनन सागर-सागरी ॥
३. रहि रो ग्वालिन। जौवन पदमाती।
मेरे छुंगन-मंगन से लालहिं, कतलै उछंग लगावति छाती ॥
... ... ... ...
उठि चली ग्वालि, लाल लागे रोवन, तब जसुमति लाई बहु भाँति।
परमानन्द ओट दे अंचल, फिरि आई नैननि मुसिकाती ॥ १ ॥
४. कृष्णदास—पद-संख्या— ३८

आती हैं।[1] इस मुरली में अद्भुत शक्ति है। इसके श्रवणमात्र से सहज भाव से अनागत भी वर्तमान हो जाता है तथा अतीत भी प्रत्यक्ष होने लगता है। तात्पर्य यह कि यह मुरली-ध्वनि त्रिकाल-जयी है।[2] मुरली-ध्वनि के नाद-रस एवं श्रीकृष्ण के अधरामृत में कोई अन्तर नहीं। जो नाद है वही रस है तथा जो रस है वही नाद है।[3]

लीला का आधार—लोक के समीप :

पुन: शक्ति एवं शक्तिमान की लीला के प्रसंग में ये कवि परम्परा के पालन में ही दत्तचित्त रहे। पहले ही यह कहा जा चुका है कि वैष्णवमत में लीला का सर्वाधिक महत्त्व है। अवतारवाद की धारणा ही नारायण के नरत्व की भावना है। नारायण का नरत्व उनको भक्तों के समीप ला देता है तथा नारायण अपने भक्तों के सुख के लिए, धर्म का आदर्श उपस्थित करने के लिए तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए अवतार धारण करते हैं।[4] भगवान का लीला-वपु मानवीय गुणों से विभूषित है और यह लीलाधारी अपनी समस्त शक्तियों के साथ अवतरित होता है। स्वाभाविक है कि शक्ति-शक्तिमान के मानवीय आचरणों से लोगों को उनकी अलौकिकता में भ्रम हो जाये। इस हेतु इनके वर्णन में भक्त-कवियों ने ऐसी सावधानी से शब्दों का गुम्फन किया है कि मानवीय आचरण में दैवी झलक अनायास ही मिलती रहती है। पर ऐसा करने में काव्य-दोष आ जाने का भय रहता है। भाव की उत्कर्षता में अवरोध उपस्थित होने की संभावना रहती है। इन कवियों ने सदा ही भावोत्कर्ष को बनाये रखने के लिए लीला के पदों में नारायण को नारायण से ज्यादा नर के समीप माना है। यही कारण है कि यह लीला अलौकिक होते हुए भी लोक का स्पर्श करती मालूम होती है।

लीला-स्थल—वृन्दावन :

शक्ति एवं शक्तिमान की लीला का स्थल वृन्दावन है। गोपियाँ एवं गोप सखा-संगी हैं। रास-लीला, दान-लीला, मान-लीला, पशु-चारण, प्रभृति लीलाएँ हैं। विभिन्न ऋतुओं में परमपुरुष भगवान श्रीकृष्ण का अपनी आह्लादिका शक्ति राधा तथा गोपी-वृन्द के साथ विहार होता है। इस धाम और लीला का केन्द्र

१. गोविन्दस्वामी—पद संख्या—१७।
२. ता बँधान सुजान सहज में, बहुत अनागत लावहु।
श्रुति संगीत करी परिमित, तो ताहु में अतित बढ़ावहु।
खग मृग पसु कुल-वधू देव मुनि, सब की गति बिसरावहु ॥चतुर्भुजदास-६३॥
३. चतुर्भुज प्रभु गिरिधर गुनसागर, जो तुम यह न बनाबहु।
तो बहुर्‌यौं आपुही अधर पिय, सुधा स्रवन पुट प्यावहु ॥६३॥
४. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ गीता ॥



श्रीराधा और श्रीकृष्ण की नित्य लीला है।

वसन्तकाम में—राधा रमन रंग भरे क्रीड़त, नाचत मौर पसारे।
कुंभनदास गिरिधर को छवि पर कोटिक मन्मथ वारे॥
—पद-संख्या—३२॥

पावसकाल में झूला पर भी विहार होता रहता है—

नव वन, नव धन, नव चातक पिक, नवल कसूँभी सारी।
नवल किसोर वाम अंग शोभित, नव वृषभानु दुलारी॥
विद्रुम खंभ, जटित नग पटुली, डाँड़ी सरस सँवारी।
कुंभनदास प्रभु मधुरे झोटा, देत लाल गिरधारी॥ ३५॥

× × × ×

कृष्णदास - हिंडोरे माई झूलत लाल बिहारी॥ ३५॥
संग झुलति बृषभानु-नन्दिनी, प्रानन हूँ ते प्यारी॥ ८॥

× × × ×

गोविन्दस्वामी— दंपति झूलत सुरंग हिंडोरैं।
गौर-स्याम तन अति छवि राजत
मानो घन दामिनी जाति भौरें॥ ३३॥

चतुर्भुजदास—हिंडोरे माई झूलत गिरिवरधारी
वाम भाग वृषभानु-नंदिनी, पहरें, कसूँभी सारी॥८२॥

नित्यलीला :

इन वर्णनों में सभी कवियों ने प्राय: एक ही भाव को अनेक रूपों में व्यक्त करने की चेष्टा की है। रास के वर्णन में भी इस नित्यलीला के ही दर्शन होते हैं—

कुंभनदास—गावत गिरधरन संगे, परम मुदित रास रंग
उरपति रयमान लेत नागर-नागरि॥ ५३॥

परमानन्ददास—ब्रज बनिता मधि रसिक राधिका भनों सरद की राति हो
तत थेई तत थेई गिरिधर नागर, गौर-स्याम अंग कांति हो॥८२॥

कृष्णदास—नूतन गोपाल संग राधिका बनो
बाहु दंड भुजन मेलि, मंडल मधि करत केलि
सरस गान स्याम धरें संग भामिनी॥ २५॥

× × × ×

गोविन्दस्वामी—निर्तत लाल गोपाल रास में, सकल ब्रज-बधू संगे ।
.... .... .... ....
सिव बिरंचि मोहै सुर धुनि सुनि सुर, नर, मुनि गति भंगै ।
गोविन्द प्रभू-रस-रास रसिक मनि, भामिनी लेत उछंगै ॥ ३० ॥

छीतस्वामी—लाल संग-रास रंग लेत मान रसिक रमन
गिड़-गिड़ता, गिड़-गिड़ता, त त त, स, त थेई—थेई
गति लीने ॥ १५ ॥

चतुर्भुजदास—प्यारी भुज ग्रीवा मेलि, नृत्यत पीय सुजान
मुदित परस्पर, लेत गति में सुगति
रूप-रासि राधे, गिरिधरन गुन-निधान ॥

सरस मुरली-धुनि सों मिले सप्त सुर
रास-रंग भीने गावें और तान बंधान ।
चतुर्भुज प्रभु स्यामा-स्यामा को नटनि देखि
मोहे खग मृग थकित व्योम विमान ॥ ५६ ॥

**रास तथा रति-रंग का एकीभाव ही महाभाव :**

इस प्रकार, इन कवियों ने भी रास में उसी भाव को व्यक्त किया है जो सूर एवं नन्द द्वारा वर्णित हो चुका है। रास ही शक्ति-शक्तिमान की चिरन्तनलीला है। चिरन्तन अद्वय का नित्य विलास यही इसका दार्शनिक भाव है। किन्तु ये कवि-मात्र विहार तथा रास से ही तृप्त नहीं रहे।

**कामकला :**

कामकला में ही महानन्द की कल्पना कर राधा और कृष्ण की रति का भी सभी कवियों ने वर्णन किया है। यहाँ रति-रंग वर्णन का अभिप्राय भी राधा-कृष्ण की अद्वयता ही दिखलाना है, जो शाक्त-मत का मूल है। इस महाभाव में राधा-कृष्ण दोनों एक हो जाते हैं। सांसारिक पात्रों में यह दो शरीर एक प्राण होने की स्थिति में रहते हैं। शरीर यद्यपि दो हैं पर भाव एक है इसीलिए इस एकीभाव को महाभाव कहा जाता है। यही सहजयानियों का महासुख है।

अष्टछाप के सभी कवियों ने रति-रंग का विशद वर्णन किया है। साधना के क्षेत्र में इनका भाव राधा-भाव है। ये साधक राधा या गोपिका बनकर कृष्ण के साथ रास या रति-लीला में अनिर्वचनीय आनन्द का उपभोग करते हैं। किन्तु, वर्णन में इनका राधा या गोपी से तादाम्य नहीं दिखलाई देता और पुरुष होने के नाते ये कृष्ण के भाव में लीन दिखलाई देते हैं। साधना की यह दुर्बलता इनके काव्य में परिलक्षित होती है।



कुंभनदास बन-बिलास के ही क्रम में सुरतिकेलि का वर्णन करते हैं। कृष्ण यहाँ राधावर कहे गये हैं।[1] रास-विलास में मग्न नवल किशोर एवं नवल किशोरी का एक ही वय है। कृष्ण श्याम वर्ण के तथा राधिका गौर वर्ण की है मानों शृंगार ही साकार स्वरूप धारण कर अवतीर्ण हुआ हो, ऐसी शोभा त्रिभुवन में भी नहीं दिखलायी देती है।[2]

परमानन्ददास के आराध्य—स्वयं साक्षात् कामदेव एवं रति के समान क्रीड़ा करते हैं—

किसोर-किसोरी दोउ मिलि बिहरत, इत रति उर्तहि अनंग
परमानन्द दोउ मिली बिलसत, केलि-कलाजू निसंग ।।७७।।

इनकी राधा भी स्याम तमाल के समान कृष्ण के साथ सुवर्ण लता-सी लिपटी रस सागरजा है।[3] तथा, परमानन्द के श्रीकृष्ण भी रति-सागर हैं[4] किन्तु, इस संभोग में सात्त्विक भाव का उत्कर्ष दर्शनीय है—

सोभित कुंजन की छबि भारी।
अद्भुत रूप तमाल सों लपटी, कनक-बेलि सुकुमारी ॥
बदन सरोज, लहलहे लोचन, निरखि छबी सुकुमकारी।
परमानन्द प्रभु मत मधुप हैं, श्री वृषभानु सुता फुलवारी ॥ ८८ ॥

कृष्णदास ने राधा एवं कृष्ण को रवि एवं शशि के रूप में चित्रित किया है।[5] द्रष्टव्य है कि रवि, और शशि शाक्त-प्रतीक ही हैं।

पुनः गोविन्दस्वामी के रसभीने कृष्ण की शोभा अनुपम है[4] और वृन्दावन के कुंजों में केलि-कूक सुनायी पड़ती है।[5] गौर एवं श्याम दोनों के मिलन की शोभा अकथनीय है मानों घन और दामिनी का संयोग हो गया हो।[6]

**उदात्तीकरण की चेष्टा :**

किन्तु यह देह-समर्पण व्यभिचार कहा भी जाय, औरों को न भी रुचे अथवा

---

१. कुंभनदास : पद-संख्या—५३, मीत्तल
२. वही ,, ५१, ,,
१. परमानन्ददास—पदसंख्या—७०
२. ,, — ,, —८६
३. कृष्णदास — ,, —३७
४. गोविन्ददास — ,, —६६
५. छीतस्वामी- — ,, —३२
६. चतुर्भुजदास ,, —८३

मर्यादा का भंग हो भी जाये पर परमानन्ददास इसे गिरिधर के संग के समक्ष नगण्य मानते दीखते हैं।[1]

इन कवियों ने बारम्बार कोककला की प्रवीणता का वर्णन किया है। यह कोककलागर्हित कामचेष्टा नहीं। इसे इन कवियों ने उदात्त भाव के रूप में वर्णित किया है। यह देवोपम भाव है। यह शब्द तो आधुनिक युग में यौन-जुगुप्सा के कारण निंद्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, पर भक्तिकाल के रस-रसिक कवियों ने इसे सात्त्विक अर्थ में ही प्रयुक्त किया और यही भक्ति में मधुरभाव का जन्मदाता भी सिद्ध हुआ।

समाज में शाक्त-वामाचार ने धर्म—सम्प्रदाय में जिस विकारों का प्रवेश करा दिया था और जो कार्य अपनी गुह्यता के कारण समाज में निंदा की वस्तु बन गया था उसे ही बल्लम-सम्प्रदाय ने प्रेममूलालीला-भक्ति के माध्यम से परमपूज्यता का पद प्रदान कर दिया। इसे शुद्ध शाक्त-दर्शन का ही प्रभाव मानना होगा जिसका अवलम्ब धारण कर वैष्णवसम्प्रदाय सात्त्विक आचार को बनाये रख सका। विकृतियों का परिष्कार तो समाज आप-से-आप काल-क्रम में कर ही लेता है और वैष्णवों की भावना में समाज-निन्दित तत्त्व अपना मल-प्रक्षालन कर पवित्र बन गया।

## कृष्ण की श्यामता का प्रतीकत्व :

इस सन्दर्भ में विचार करने पर हम पाते हैं कि श्रीकृष्ण की श्यामता भी एक प्रतीक ही है। शाक्तों के अनुसार काली के श्याम वर्ण की दार्शनिक व्यक्त व्याख्या है।

अशेष कारण होने के कारण काली का रंग न काला है और न उजला। वह एक सत्तामात्र है। प्रकाश के रूप में वह 'सूर्य कोटि प्रतिकाशः चन्द्रकोटि सुशीतलः' कही जाती है। अन्धकार के रूप में सभी रूपों को मिटाकर वह एक तत्त्व के रूप में सत्तामात्र के रूप में अवशिष्ट रहती है। तांत्रिकों ने इसे ही तिरस्करिणी विद्या की संज्ञा दी है अर्थात् वह जो सभी वस्तुओं को आत्मसात् कर अपनेमें छिपा लेती है।[1] वही सर्वांग सुन्दरी है तथा महालक्ष्मी संज्ञा धारण करती है। तब वह रक्तवसं त्रिपुर सुन्दरी या षोडसी है। कला अर्थात् साकार जगत् को आत्मसात् करनेवाली भी वही काली है। इसका स्वरूप इसी कारण रात्रि के समान कज्जल-रूप में वर्णित किया गया है। प्रकाश-रूप में वह परम ज्योतिर्मय शिव-स्वरूप

१. परमानन्ददास—पद-संख्या ५७॥

२. द्रष्टव्य: डा० जनार्दन मिश्र : भा० प्र० वि०, पृ० १८५।



है। अन्धकार-रूप में वह सभी प्रकाश और रूपों को आत्मसात् कर महान्धकारमय शून्यरूपा बनकर स्थित रहती है।

## काली-तत्त्व से समानता :

ऊपर काली के श्याम वर्ण की दार्शनिक व्याख्या का किसी-न-किसी प्रकार कृष्ण एवं राम के श्याम वर्ण से सम्बन्धित जान पड़ती है। अबतारवाद के सिद्धान्त में ब्रह्म के निर्विकार, शून्य-रूप को मानवी बनाकर धरती पर लाने की चेष्टा हुई। इन अवतारों में मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह निश्चितरूपेण आदिम जनमानस की देन होंगे। वामन तथा परशुराम का स्वरूप उपास्य नहीं रहा। पूर्ण मानव के रूप में लीलाधारी रूप राम और कृष्ण को मिला और यह आश्चर्य का विषय है कि इन दोनों के श्याम रूप के ही दर्शन होते हैं। राम और कृष्ण के वर्णन में जहाँ एक ओर अनन्त सौन्दर्य की व्याख्या है, वहीं दूसरी ओर उनका श्याम वर्ण ही वर्णित किया गया है। संम्भवतः, यह शाक्तों की काली की दार्शनिक भावना का ही प्रभाव था जो राम एवं कृष्ण के सगुण स्वरूप में श्यामता लानेवाला सिद्ध हुआ। जहाँ एक ओर अपूर्व सौन्दर्य का आग्रह है वहाँ श्यामता से तो इस भावना को आघात ही पहुँचता है।

दूसरी संभावना यह होती है कि कृष्ण एवं राम में काली की श्यामता का आरोप तथा दूसरी ओर राधा तथा सीता का अनिंद्य रूपधारिणी होना दोनों ही काली के दो रूपों (श्यामा तथा रक्त) के ही कहीं प्रेक्षेपण न हों !

## श्रीकृष्ण-लीला की प्रतीकात्मक व्याख्या :

कृष्णोपनिषद् में श्रीकृष्ण-लीला के प्रतीक की व्याख्या है। इसके अनुसार सारी कृष्ण-लीला एक प्रतीक के रूप में चर्चित की गयी है।[1] योगशास्त्र का प्रमाण देकर डा० जनार्दन मिश्र ने यह सिद्ध किया हैं कि कृष्ण का गोकुल शरीरस्थ सहसदल कमल ही है। उनके अनन्त अंशों से निकली हुई कर्णिका के दल उनके धाम हैं। कर्णिकार महायन्त्र है।" जिसमें छः कोण हैं और वज्रकीलक है। प्रकृति और पुरुष के साथ षडंग षट्स्थान हैं। प्रेमानन्द के महानन्द के रस में, ज्योति रूप काम बीज (क्लीं) मन्त्र के साथ उपस्थित हैं। उनके अंशों के बने हुए केसर हैं और उनकी श्रियों से बने हुए पत्र हैं। उनके चारो ओर चौकोर अद्भुत श्वेत द्वीप है। यह चतुष्कोण, चार मूर्त्ति, चार धाम, चार पुरुषार्थ और चार कारणों से घिरा है। दिशा-विदिशा और ऊपर-नीचे दसों स्थानों में दस शूलों से, आठ निधि-सहित आठ सिद्धियों से और मन्त्ररूप दस दिक्पालों से घिरा है। श्याम, गौर, रक्त और शुक्ल (अर्थात् त्रिगुणात्मक) पार्षदों से घिरा

१. ईशअष्टोत्तरशतोपनिषत्सु कृष्णोपनिषत्—बम्बई, १९२५, पृ० ५२२।

है। चारों ओर स्थित इन अद्‌भुत शक्तियों से सुशोभित हैं। परात्पर, ज्योतिर्मय सदानन्द देव ऐसे हैं। अपने ही आनन्द में विभोर उनका प्रकृति से सम्पर्क नहीं है। उस माया के साथ विहार में उनमें कोई क्षोभ नहीं होता। काल-रहित होकर अपने ही प्रतिरूप रमा के साथ सृष्टि की इच्छा से उन्होंने विहार किया।

कृष्ण का पीताम्बर ही दिक् है। कालिय नाग ही काल है जिसको उपकरण बनाकर नटवर महानृत्य करते हैं।[2]

विष्णु के हाथ का शंख और शिव का डमरू ही कृष्ण के हाथ की वंशी है जो वाक् वा शब्द-ब्रह्म का प्रतीक है और सृष्टि-प्रवर्तन में महामाया का स्वरूप धारण करता है।[3]

चेतना में स्वाभाविक आनन्द का स्पन्दन ही रास है जो सृष्टि का कारण है। मोर पक्ष इनके महाकालत्व का लक्षण है क्योंकि मयूर ही कालसर्प का भक्षण करता रहता है।

वैजयन्ती तन्त्र में श्रीकृष्ण को नित्य रासलीला का स्थान शरीर में ही माना गया है। वही भक्त तथा तत्त्व-रूप सखियों के साथ देह के वृन्दावन में नित्य रासलीला करते हैं।[4]

इस प्रकार, कृष्ण के रास एवं भगवान शिव के ताण्डव में अद्‌भुत साम्य है और यह कहा जा सकता है कि अवश्य ही एक से प्रभावित होकर दूसरे का स्वरूप निर्मित हो गया होगा। यहाँ तक कि श्रीमद्‌भागवत में श्रीकृष्ण के कालिय-मस्तक पर नृत्य को भागवत्‌कार ने चित्र नामक नृत्य की संज्ञा दी है।

भगवान श्रीकृष्ण का नटवर-रूप नटराज-रूप का प्रतीक है। नटराज का ज्वालमालयुत मायाचक्र गोपीमण्डल है जो उसके पैरों के ताल एवं वंशी की तान पर थिरकता रहता है। यही नटवर का नित्य-विश्व नृत्य रास है जो चिदानन्द के आनन्द के महास्फोट का प्रतीक है।[5]

यहाँ तक कि घेरण्डसंहिता में योनि की मुद्रा धारण कर शक्तिमय होकर साधक को शृंगार-रस में विहार करने का आदेश है। रस के आनन्द में शराबोर हो जाने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अद्वैत भावना द्वारा ब्रह्म का ऐक्य संभव हो जाता है

१. डा० जनार्दन मिश्र -- भा० प्र० वि०—पृ० १५३-५४
२. वही ,, —१५४
३. ,, ,, —१५४
४. वैजयन्ती तन्त्रम्, कलकत्ता, १३३६ साल पटल ७। श्लोक १४ ॥ उद्धृत भा० प्र० वि०
५. डा० जनार्दन मिश्र—कलकता—१६३६, पृ० १५६।



और इससे समाधि होती है। यह रसानन्द समाधि साधकों का सामरस्य है, जिसका स्थूल प्रतीक किशुनमूर्ति है।

उपसंहार :

श्रीकृष्ण-लीला की प्रतीकात्मक कथा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण की लीला-कथा संभव है— शाक्त-उपादान से निर्मित हुई है। श्रीमद्‌भागवत् की रचना के समय शाक्त-भावना का प्रमाण श्रीमद्‌भागवत-वर्णित बिभिन्न स्थलों पर शक्ति की पूजा से ही मिल जाता है। प्रश्न है कि इसपर वैष्णवता का रंग है या नहीं। वैष्णवता के रंग में इस कथा का रँग जाना अस्वाभाविक भी नहीं क्योंकि शक्ति-सम्बन्धी भावना आदिभावना है और कुल मिलाकर इसके प्रभाव से बचा रह सकना कभी भी किसी काल में सम्भव नहीं रहा। युग के अनुसार केवल प्रधान स्वर गौण हो गया और गौण स्वर प्रधान। किन्तु, ध्वनि सर्वत्र ही वर्तमान रही है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने यद्यपि श्रीमद्‌भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण के अवतारी रूप एवं उनकी लीला का ही गायन किया, पर जनमानस में पगी शक्ति-भावना से वे असम्पृक्त नहीं रह सके। यह भावना जितनी शाक्त हैं, उतनी ही वैष्णव भी और सम्प्रदाय का बन्धन इसके मूलतत्त्व पर आवरण डालने में कभी भी सफल नहीं हो सका।

# रीतिकालीन कवियों की शक्ति-भावना

## सामान्य विशेषता :

भक्तिकाल के कवियों की परम्परा के साथ भक्ति का स्वर धीमा पड़ गया। राधा-कृष्ण को काव्य के क्षेत्र में देवत्व से उतारकर मानव-भूमि पर रखा गया। सामन्तवादी सभ्यता ने कवियों को आश्रय दिया और उन्होंने आश्रयदाता को बहुविध प्रसन्न किया। मुगलकालीन सभ्यता ने शृंगार के लिए सामान जुटा ही दिया था। शृंगार ही रीतिकाल के कवियों की खुराक था जिसे परम्परा संस्कृत-शृगार-साहित्य से मिली थी।

धार्मिक भावना का साम्प्रदायिक रूप इनका आधार नहीं था। ये दरबारों के आश्रयी थे जहाँ भोग, विलास एवं ऐश्वर्य का साम्राज्य था। अतः ऐहिकता-परक काव्य के इस युग में धरातल लौकिक ही रहा।

ये कवि कवित्व का मार्ग आपद्जनक समझकर आचार्यत्व के फेरे में पड़े रहे क्योंकि तुलसी और सूर के बाद किसी भी कवि के लिए कवित्व का आश्रय दुस्साहसमात्र ही था। अतः कवित्व की पूर्ति आचार्यत्व से होने लगी। प्रबन्धात्मकता के लिए भी यहाँ साहस का अभाव रहा। यह कार्य भी भक्ति-युग में सम्पन्न हो चुका था। यही कारण है कि इस काल में मुक्तक रचना का बाहुल्य है। मुक्तक की काव्य-रचना गुम्फित रचना होती है। उसे खण्ड-चित्र ही कहना चाहिए। उसमें चमत्कृति का भाव अधिक होता है, पर कथासूत्र का आधार लेकर चलने में कवि को अपनी परम्परा, समाज, दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रदर्शन का पर्याप्त अवकाश रहता है। इस सुविधा से ये कवि वंचित रहे।

इन कवियों का ऐतिहासिक विकास-क्रम में निर्माण किसी एक तत्त्व से न होकर अनेक तत्त्वों के योग से हुआ। सामान्य रूप से इन कवियों का व्यक्तित्व चारण, सभाकवि, राजगुरु, आचार्य और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय है।[1]

## लोक तथा अध्यात्म का योग :

भक्ति-भावना की दृष्टि से विचार करने पर इस काल में भक्ति-परक कविताएँ मिलती हैं। यह भी सत्य है कि भक्तिकाल में रीतिपरक एवं रीतिकाल में भी, भक्तिपरक कविताएँ रची गयीं पर केवल मात्रा का ही अन्तर दिखलाई देता है। रीतिकाल में भक्ति की अतिशय पारलौकिकता एवं आध्यात्मिकता तथा शृंगार की नितान्त ऐहिकता का एक विशिष्ट गठबन्धन मिलता है। महाकवि

१. डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य-संग्रह—पृ० ३३



देव ने आध्यात्मिक एवं लौकिक प्रेम के बीच एकसूत्रता स्थापित करने की चेष्टा की और वाणी का सार शृंगार को और शृगार का सार प्रत्येक प्राकृत स्त्री-पुरुष युग्म को माना तथा इसे राधा-कृष्णमिश्रित भी कहा है।[1] इसी प्रकार, मतिराम भी रसराज में वर्णित नायक-नायिका-भेद को राधारमण की लीला समझते हैं—

**वरनि नायका नायकनि रच्यौ ग्रन्थ मतिराम**
**लीला राधारमन को सुन्दर जस अभिराम।।**[2]

रीति चक्रमुक्त कवि घनानन्द भी अपने और सुजान के प्रेम को राधा-कृष्ण के असीम प्रेम पारावार की किसी तरंग से छूटे हुए जल-कण का रूप मानते हैं जो लघु होकर भी लोक-लोक को आप्लावित कर देने की सामर्थ्य रखता है।[3]

## भक्ति—एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता :

रीतिकवियों का यह दृष्टिकोण भक्त कवियों की दृष्टि का ही एक विशिष्ट परिविस्तार-सा लगता है। इसमें सूर की भावना 'राधिका सबै हरि सबै कोऊ, की अनुगूंज है। रीतिकवि भक्तकवियों की तरह अपने भगवान के प्रति एकनिष्ठ नहीं हैं। वे भक्तों-जैसे पवित्र भाव का निर्वाह करने में असमर्थ हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण को प्रकृति-पुरुष तो माना पर उन्हें अतिसाधारण लौकिक स्तर तक उतार दिया। यही कारण है कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र ने रीतिकाल के कवियों की भक्तिभावना को कवचमात्र माना है।[4] ये कवि किसी-न-किसी रूप में भक्ति का आंचल पकड़े रहे क्योंकि इसकी इन्हें मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए उनके विलासजर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति-रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इनके भक्तिपरक उद्गारों में भक्तकवियों की रचनाओं की साजगी और उल्लास के स्थान पर एक प्रकार की क्लान्ति और अवसाद दिखाई पड़ता है, भगवान के

१. डा० जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य-संग्रह—पृ० ४१
२. ,, : ,,
३. घनानन्द और आनन्दघन : पद—संख्या—११५।
४. (क) यह भक्ति-भावना इन कवियों के लिए सामाजिक कवच का काम करती है, साथ ही उनके मन को प्रबोध भी देती है। हिन्दी साहित्य—पृ० १८०।
(ख) जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबड़ा उठते तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार, रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी।
—रीतिकाव्य की भूमिका—पृ० १६५।

प्रति रागात्मक उन्मेष की जगह हततेज मन की दीनता और आत्मा-भर्त्सना दृष्टिगोचर होती है।[1] निष्कर्ष यह कि इन कवियों की भक्ति-भावना में भावावेग, शुद्धता, ओजस्विता एवं प्रखरता का अभाव है। भक्तकवियों ने जिन शास्त्रों एवं आचार्यों का अनुसरण किया वे एक विशिष्ट जीवन-दृष्टिसम्पन्न थे जबकि रीतिकवियों का काव्यशास्त्र उन्हें रसलोलुप बनाने में ही अधिक सहायक हुआ। इस मनोवृत्ति की आत्मस्वीकृति कवि दास की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है—

**आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न।**
**राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है॥**

बिहारी-सतसई का आरम्भ राधा-कृष्ण की वन्दना से होता है, पर ग्रन्थ की समाप्ति में जब वे यह बताते हैं कि इसकी रचना जयसाहि के हुकुम से हुई तो स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकवि की प्रेरणा भक्ति-कवि की प्रेरणा से भिन्न है।

## शृंगार की अनिवार्यता :

राधा-कृष्ण-भक्ति-विषयक शील का निर्वाह करने में भी ये कवि असमर्थ दृष्टिगत होते हैं और मर्यादा का बाँध टूटकर अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करने लगता है। स्वीकार करना होगा कि समय की गति और परम्परा के प्रवाह के समक्ष इन्होंने घुटने टेक दिये। एकमात्र पद्माकर ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने शृंगार-वर्णन के लिए राधाकृष्ण को ग्रहण किया और भक्तिपरक रचनाएँ सीताराम के नाम पर लिखीं अर्थात् जो शृंगारदेव और आराध्यदेव को पृथक् रख सके।

## शक्ति-तत्त्व का स्वरूप :

इस बदले हुए मानदण्ड के युग में शक्ति-भावना अपनी अलौकिकता के व्योम से उतरकर धरातल पर दृष्टिगत होती है। पर यह नहीं कि इन्होंने शक्ति की स्थिति को अस्वीकार किया हो। समस्त लौकिक लीला में शक्ति की ही मूल प्रेरणा दिखलाई देती है। वही समस्त लीलाओं का आधार है। इसे शुद्ध शक्तिवाद मानने में संकोच होना स्वाभाविक तो है क्योंकि धरातल ही बदला-सा लगता है। कहीं इनकी शक्ति-भावना चरमाभिव्यक्ति करती दिखलाई देती है और कहीं प्राकृत नायिकाओं की ऐन्द्रिकता से परिवेष्टित लगती है। जो भी हो, यह मानना होगा कि परम्परा से इन्हें जो कुछ रिक्थ में मिला था, उसके बदलते हुए मूल्यों में ही प्रतिफलन हो सकता था। लौकिक और अलौकिक की इतनी सूक्ष्म सीमा-रेखा में भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही लगता है।

## राधा-शक्ति :

शक्ति के रूपों में रीतिकाल के कवियों में श्रीराधा की ही लोकप्रियता रही

१. डा० बच्चन सिंह : रीतिकवियों की प्रेमव्यंजना—पृ० ४३७।



है। राधा-शक्ति तथा शक्तिमान कृष्ण की लीलाओं का गान बहुविध रूप से इन कवियों ने किया। श्रीराधा का नामोल्लेख हर कहीं नहीं है। वह मात्र नारी है। उसका प्रिय-मिलन के लिए प्रयत्न, व्याकुलता, वियोग, तथा विभिन्न ऋतुओं में प्रिय के मिलन के लिए साज सजानेवाले रूप का दर्शन इन कवियों ने कराया है। वह गोपिकाओं की अभिन्ना है। गोपियों की कृष्ण-विषयक आकुलता राधा-भाव की ही आकुलता है। पर वह भाव नायिकाओं के लौकिक चित्रण में तिरोहित हो गया है। फिर भी, जितना कुछ भक्ति-भाव उभरकर सामने आया है उसमें शक्तिमयी राधा की महत्ता प्रकट होती है। राधा का स्वतंत्र रूप में गुण-गान करते हुए देव ने उनको ब्रजदेवी के रूप में स्मरण किया है तथा उन्हें रति-सिंगार की मूर्ति के रूप में नित्य वृन्दावन में विहार करनेवाली के रूप में देखा है।

**श्रीराधे ब्रज देवि जै सुन्दर नंद किशोर।**
**दुरित हरो चित के चिते नैंसुक दे दृग कोर॥**
**राधा-कृष्ण किशोर युगपद बन्दौं जग-बंद।**
**मूरति रति सिंगार की सुद्ध सच्चिदानन्द॥**
**श्रीराधा हरि-प्रेम-बस सरस सिंगार उदार।**
**छरितु बारहो मास गुन बृन्दा-विपिन-विहार॥**

बिहारी सतसई के प्रथम दोहे में ही 'राधा-नागरि' से याचना करते दिखाई देते हैं। राधा का कृष्ण के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। शक्ति के शरीर की परछाईं पड़ते ही शक्तिमान प्रफुल्ल वदन हो जाते हैं। बिना शक्ति के शक्तिमान की शव-स्थिति ही है।

**मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोई।**
**जा तन की झांई परै स्याम हरित दुति होइ॥**

—बि० रत्ना०—१

रसलीन श्रीराधा के चरणकमलों की कृपा के आकांक्षी है क्योंकि यह सकल बाधाओं का निवारण करनेवाली हैं—

**राधा पद बाधा हरन साधा कहि रसलीन**
**अंग अगाधा लेखन को कीनो मुकुर नवीन॥**

## रूप-वर्णन :

श्रीराधा का रूप, उनका शृंगार इतना अपूर्व है कि संसार की किसी भी

स्त्री से उनकी उपमा नहीं दी जा सकती है—

मंजन के दृग अंजन दे मृग, खंजन की देखत भूली।
वेनी प्रवीन अभूषण अम्बर, सो बोऊ अंगन के अनुकूलो।
राधे को आज सिंगारयौ सखि, न विलोक की कोऊ।
तिया समतूली!
सोने की बेलि सुगन्ध समूह,
मनो मुकुता मनि फूलनि फूली॥

वे तो शोभा की समष्टि हैं।

सोभा सुकैसी की केसन मे है तिलोतमा को तिल बीच निसानो,
उर्वसी ही में बसी मुख को अनुहारि सो इन्दिरा मे पहचानी
जानु को रंभा सुजान सुजान है दासजू बानी में बानी समानी
एतो छबीलिन सो छवि छीनि के एक रचि विधि राधिका रानी॥

ग्वाल कवि श्रीराधा को जगदीश्वरी के रूप में स्मरण करते दिखाई देते हैं—

श्री राधा जगदीसुरी यह बिनती है मोर
निज पद पद मन के बिषं लीजै मो मन जोर।

सेनापति ने राधा और श्रीसीता दोनों का स्मरण किया है। सेनापति की दृष्टि में दोनों में भेद नहीं है। एक ओर वे वृन्दावन की सीमा में बँधे जाने के आकांक्षी है—

सेनापति चाहत है सकल जनम भरि
वृन्दावन सीमा तें न बाहरि निकासबौं।
राधा-मन-रंजन को, सोभा नैन-अंजन को
माल गरे गुंजन को, कुंजन को बसिबौ॥

दूसरी ओर जानकी के मुख-कमल की शोभा का वर्णन करने में तल्लीन दिखाई देते हैं—

जनक नरिंद नंदिनी को वदनार विंद,
सुन्दर बखान्यौ सेनापति वेद चारिकैं।
बरनी न जाई जाकी नैकहू निकाई, लौन,
राई करि पंकज निसंक डारे वारि कै।



बार बार जाकी बराबरि कौं विधाता अब
रचि पचि विधु के बनावत सुधारि के।
पुन्यौ कौं बनाइ जब जानत न वैसो भयो,
कुछू के कपट तब डारत बिगारि कैं॥

बिहारी की अंकुरित यौवना नायिका शक्ति के ही अपूर्व सौन्दर्य का जाग्रत ज्योतिर्मय रूप है जो 'क्षणे-क्षणे तन्नवतां' की शोभा को धारण करती है—

लिखत बैठि जाकी सबो गहि गहि गरब गरूर
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कर॥
॥ वि० रत्ना०— ३४७

शक्ति के ऐसे शुभ सौन्दर्य को देखने पर आँखें ज्योति-सम्पन्न हो जाती है—

कहा कुसुम, कह कौमुदी, कितक आरसी ज्योति
जाकौ उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति॥
॥ वि० रत्ना०—५१२

गोस्वामीजी ने 'छवि गृह दीप शिखाजनु बरई' में शक्ति के इसी सौन्दर्य को बाँधने की चेष्टा की थी।

महाकवि देव की दृष्टि में श्रीराधा-शक्ति ज्योतिर्पूर्ण रत्नसमूह-सी है। बे प्रेमपूर्ण होकर मानो पृथ्वी की अमृत हैं। बे ब्रज के जीवधारियों की जीव हैं तथा ब्रजवासियों की उत्पत्ति का विशेष कारण हैं। वे लक्ष्मी के सौन्दर्य की अतःपर सीमा हैं तथा परमानन्द को भी सीमा देनेवाली हैं—

पूरन प्रेम सुधा वलुधा वसुधार मई वसुधार सुरेखी।
जीवन या व्रजजीवन की ब्रजजीवन जीवनमूरि विसेखी,
तू परमावधि रूपरमा परमानन्द को परमानन्द पेखी
नेह भरो नखते सिखा देव सुदेह घरे ससि-सूरति देखी॥

यही राधा-शक्ति देव के शब्दों में 'गुण बाँधे नचावति तीनिही लोक लिये कर ज्यों कर की पुतरी' है। देव ने गंगाजी और राधिका को एक ही माना है। गंगा भी भगवान की शक्ति ही हैं जो त्रिलोक को पवित्र करने के लिए अवतरित हुई है।[1]

आन्तरिक एकता :

इस प्रकार, रीति-कवियों की दृष्टि भी शक्ति के विभिन्न रूपों में आन्तरिक एकता को स्वीकार करती दिखलाई देती है। पद्माकर ने गंगालहरी की रचना से भले ही कुष्ठरोग से मुक्ति पायी हो, पर गंगा का ब्रज में विष्णु-रूप से सीधा सम्बन्ध है और गंगा भी बिष्णु की एक शक्ति ही है। यमुना तो भगवान श्रीकृष्ण

१. द्रष्टव्य : देवसुधा : मिश्रबन्ध—पद-संख्या—३।

की लीला-भूमि ही रही है और इस नाते कवियों ने यमुना की वन्दना भी की है।[1]

शक्ति की महिमा की महत्ता का ज्ञान इन कवियों को परम्परा और जन-समाज मे मिला था और शक्तिमान की अनुकम्पा के लिए शक्ति की वन्दना और अनुग्रह की कामना आवश्यक थी।[2]

**अभदेत्व :**

शक्ति और शक्तिमान में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं। दोनों एक चणक के दो अंश के रूप में हैं। एक ही ब्रह्म ने अपने को लीला के लिए द्विधा विभाजित कर लिया है—यह ज्ञान रीतिकवियों को भी था। द्विजदेव महाराज इस तत्त्व को अच्छी तरह जानते हैं कि—

**एकै हैं बिंब रूप, राधिका श्याम कहावै**[3]

इसीलिए बिहारी तीर्थों का त्यागकर श्रीकृष्ण एवं राधिका की तन-द्युति से अनुराग करने को कहते हैं जिनकी केलि से ब्रज का प्रत्येक निकुंज प्रयाग के समान पुण्यस्थल बन गया है।[4] बिहारी ने नायक-नायिका के माध्यम से इस एकात्मता को व्यक्त किया है। भाव के क्षेत्र की यह एकता भावतल्लीनता की चरम

---

१. (i) बिहारी—सघन कुंज छाया सुखद शीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वही वा यमुना के तीर॥

(ii) ग्वाल—गावें गुन नारद, न पावें पार सनकादि
वंदीजन हारे, हरी मेधा मंजु सेस को।
दरस किये ते अति हरस सरस होत
परम पुनीत होत पदवी सुरेस की।
ग्वाल कवि महिमा कही न परै काहू विधि
बैठे रहे महिमा दसा है यों जनेस की।
जारक जनेस को, विदारक कलेस को है
तारक हमेस की है तनया दिनेस की॥
—रीतिकाव्यसंग्रह—पृ० २२५॥

२. गोकुल गोसायनि परम सुख दायनि
श्री राधा ठकुरानी के पायनि को आसरो॥
देवसुधा—पद-सख्या—२६१।

३. रीतिकाव्य-संग्रह : पृष्ठ २६१।

४. बि० सतसई—पद-संख्या—२०१।



सीमा है जहाँ शुद्ध अद्वैत का निवास है—जो शक्ति है, वही शक्तिमान है।

**पियकैं ध्यान गही गही वही ह्वै नारि।**
**आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥**
॥ वि० रत्ना०—५८३॥

इस अभेद को पुनः बिहारी ने स्पष्ट किया है कि वह रोम-रोम में विराजने-वाली शक्तिमान की शक्ति है—दूती की सीख में यह व्यंजना ऐहिक से अधिक आध्यात्मिक स्तर पर सटीक है—

**नहिं हरि लौं हियरा धरौ, नहिं हर लौ अरधंग।**
**एकत ही करि राखियै, अंग-अंग प्रति अंग॥**
—वि० रत्ना० ४६४॥

बिहारी ने काकगोलक का उदाहरण देकर पुनः दाम्पत्य प्रेम की अलौकिकता एवं अनुपमता का आदर्श रखा है जो इसी अभेदत्व का सूचक है—

**उनको हितु उनहीं बनै, कोऊ करौ अनेकु।**
**फिरत काक गोलकु भयौ दुहूँ देह ज्यौं एकु॥**
—वि० रत्ना०—४४७॥

यहाँ शारीरिक अभेदत्व है इसीलिए अलौकिकता है, यह दो शरीर एक प्राण की स्थिति नहीं।

शक्ति और शक्तिमान की मिलन-चेष्टा उभय पदों में दिखलाई देती है। लीला के विविध रूपों का अन्त अद्वैतता अथवा तादात्म्य में हो जाता है जो शाक्तों की कामकला है।

**दाम्पत्य एवं परकीया-भाव :**

यह लीला ही इन कवियों का आधार बनी। यहाँ इन कवियों की अपरिमेय कल्पना-शक्ति का दर्शन होता है। कहीं तो विशुद्ध दाम्पत्य-भाव और कहीं परकीया-भाव से शक्ति का वर्णन किया गया है। देव वे दम्पति के रूप में श्रीराधा-कृष्ण का स्मरण किया है—

**दंपति सरूप ब्रज औतर्यो अनूप सोई।**
**देव कियो देखि प्रेम-रम प्रेम नामु है॥**[1]

दाम्पत्य-भाव का वर्णन सेनापति भी करते दिखाई देते हैं। राम और

---

१. देवसुधा—मिश्रबन्धु—पद—संख्या—१४४।

सीता आपके आलम्बन हैं—

आनन्द मंगन चंद महामनि मंदिर में
रमे सियाराम सुख सोभा है सिंगार का।
पूरन सरद ससि सोभा सौं परस पाइ
बाढ़ी है सहसगुनो दोपति अगार की ॥
मौन के गरम छबि छीर की छिटकी रही,
बिविध रतन ज्योति अम्बर अपार की।
दोऊ बिहसत विलसत सुख सेनापति
सुरति करत छीरसागर बिहार की ॥[1]

लीला में चिन्तामणि ने भी बड़े अनूठे चित्रों की रचना की है। आँख-मिचौनी की लीला में दिव्य-प्रेम छलका पड़ता है—

(i) दृग मूंदि रहौ चितए जुपै मान लला हसि ते दृग मूदि रहे
मुस्काई के राधिका आनन्द सौं भुजमाल सो लाल लपेटि गहे।[2]

(ii) राधिका के दृग खेल में मूँदे नंदकुकार
करनि लगी दृग-कोर सौं भई छेदि उर पार ॥[3]

## क्रीडा-विलास :

यही क्रीड़ा शक्ति का शक्तिमान के साथ लीला-विलास है। यह तादात्म्य की पूर्वपीठिका है। 'द्विजदेव' इस क्रीड़ा का एक गतिमय चित्र प्रस्तुत करते हैं—

घन के समान ज्यों ज्यों दौरें धनस्याम त्यों त्यों।
संपासी दुरत आली चंपा बन बीच बीच ॥[4]

इस प्रकार, रीतिकाल के कवियों ने लोक का आधार पकड़कर शक्ति और शक्तिमान की लीला का गायन किया। यह कहना न्यायोचित नहीं कि इन्होंने अध्यात्म से आँखें मूदँ ली थीं। भक्ति के मार्ग की व्यापकता का विश्वास ऐसा हो गया था कि किसी भी प्रकार जब नामस्मरण से मुक्ति हो सकती थी तो इन्हें क्यों नहीं मिलती? और, इन्होंने भी लोक के ही माध्यम से अध्यात्म की साधना की थी। अब जिनकी जैसी भावना रही, उन्होंने उसी रूप में इस लीला के दर्शन किये। अपनी इस भावात्मक साधना में इन्होंने शक्ति और शक्तिमान

१. कवित्त रत्नाकर—सेनापति—४,२१।
२. रीतिकाव्य-संग्रह : पृ० १६६।
३. मतिराम : सतसई।
४. रीतिकाव्य-संग्रह—पृ० २६६।



के तादात्म्य का प्रायः उन्हीं रूपों में वर्णन किया जैसा कि भक्त-कवियों ने; परन्तु परिवेश की भिन्नता के कारण उसका लौकिक रूप अधिक मुखर रहा। शाक्त-भावना में परमात्मा का अखण्ड-लीला-विलास प्रतिक्षण विश्व में प्रतिभासित होता रहता है। रीनिकाल के कवियों को भले ही वह सिद्धि न मिली हो पर इन्होंने भाव के क्षेत्र में इसके दर्शन की चेष्टा तो की। बिहारी ने इस तादात्म्य का भाव प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। सांसारिक घाम (ताप) से मुक्ति पाने के निमित्त बिहारी भँवरों की ध्यनि से गुंजार करते हुए यमुना के तट पर उस स्थल की ओर ध्यान ले जाना चाहते हैं जहाँ मालती-तमाल वृक्ष को आवृत किए हुई है। स्पष्ट है कि तमाल श्रीकृष्ण का प्रतीक है और मालती श्रीराधा का। भ्रमर-गुंजार शक्ति-शक्तिमान से मिलन-स्थल में नाद का संकेत है—

घाम धरीक निवारिये कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना-तीर-तमाल-तरू-मिलित मालती-कुंज ॥
—वि० रत्ना०—१२७ ॥

साधक इस भाव का घट के भीतर और बाहर दोनों ही रूप में दर्शन कर सकता है। बाहर जग में प्राकृत लीला के रूप में और अन्तर में साधना से। अनार का रूप निगुर्ण का रूप है जिसकी महत्ता के लिए बिहारी पतंग का उदाहरण देकर कहते हैं कि—

दूरि भजत प्रभु पीढ़ि है गुन-विस्तारन काल
प्रकटत निर्गुण निकट रहि चंग-रंग-भूपाल ॥
—वि० रत्ना०—४२८ ॥

प्रभु निगुर्ण-रूप में अन्तःकरण में ही मिल जाते हैं। प्रभु के दोनों रूपों में बड़ी विलक्षणता है—

मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ
बसत सुचित-अंतर, तऊ प्रतिबिंबित जग होई ॥
॥ वि० रत्ना०-१६१ ॥

## काम-कला :

यह भाव बड़ा ही अनूठा है। श्री कृष्ण के श्याम रंग के डूबने पर उज्ज्वलता (निर्मलता) हो जाती है। यह उज्ज्वल भाव ही भगवान एवं उनकी शक्ति का कामकला-विलास है जिसको निरन्तर भक्त देखते रहना चाहता है और महाभाव के आनन्द का आस्वाद करना चाहता है। इसी कारण, बिहारी जिस किसी भाँति भगवान के ही दरबार में पड़े रहना चाहते हैं, मुक्ति की कांक्षा नहीं

करते।[१] यह कामकला भी बिहारी की रचना में व्यक्त है पर उसका स्वरूप बड़ा ही लौकिक लगता है—

**राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत**
**दँपति रति-बिपरीत-सुखु सहज सुरतहूँ केत॥**
**—बि० रत्ना०—१५५॥**

चिदानन्द के महानन्द से प्रसूत यह आनन्दमयी शक्ति ही सृष्टि का कारण है। यही ब्रह्म का अपने स्पन्दन के साथ खेल, लीला और अलंकृत भाषा में रति है। यही शक्ति का शक्तिमान के साथ विलास अर्थात् काम-क्रीड़ा है। इस प्रकार, वैष्णवों के महारास और शाक्तों की कामकला एक ही हैं।

देव ने भी इस तादात्म्य का दर्शन किया है। राधा और कृष्ण के विलास में, दोनों में रूपान्तर हो जाता है। कौन स्त्री है या कौन पुरुष है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह तो स्त्री-पुरुष के घेरे में आबद्ध नहीं हो सकता, देव ने इस भाव को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है—

**आपुस में रस में रहसें बहसें बनि राधिका कुंजबिहारी,**
**स्यामा सराहति स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा को सारी,**
**एकहि आरसी देखि कहै तियनीके लगे पिय ज्यों कह प्यारी**
**देवजू बालम-बाल को बाद बिलोकि भई बलि हों बलिहारी॥**[२]

यह ऐसी अद्वैतता है कि दोनों एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं—

**मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,**
**राधा-मन मोहि मोहि मोहि मोहनमई भई॥**[३]

प्रेम के अगाध सरोवर में जल और जल-बूंद के मिलन में कोई बाधा नहीं है। दोनों के एक ही तत्त्व हैं। यह मिलन निर्द्वन्द्व भाव से होता है। देव उस भाव को गोस्वामीजी के स्वर में स्वर मिलाकर 'गिरा अर्थजल-बीचि' के समान कहते दिखलाई देते हैं—

प्रेम पियूष-पयोधि में मिलत विमल निरदुंद।
न्यारो होत न एक ह्वै ज्यौं जल ते जल बूंद॥[४]

---

१. बि० रत्नाकर—२४१।
२. देवसुधा : पदसंख्या—१४०।
३. वही : ,, —१४३।
४. देवसुधा : पद-संख्या—१९
तुलनीय : दंपति सरूप ब्रज औतरयो अनूप सोई
देव कियो देखि प्रेम-रस प्रेम नामु है।—पद-संख्या-१४४।



कृपाराम ने भी राधा-माधव के तादात्म्य का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है—

**रैन अंधेरी नील पट, मृगमद चरचित अंग**
**सघन घटा सो लखि परे, रँगी स्याम के रंग॥**[१]

दास कवि ने भी इस मिलन का ऐसा चित्र खींचा है कि तत्त्वतः एवं प्रत्यक्ष रूप में भी राधा और कृष्ण वस्तुतः एक ही हो गये हैं—

**बातें स्यामा स्याम की न कैसी अब आली,**
**स्याम स्यामा तकि भाजे स्यामा स्याम सों जकी रहै।**
**अब तो लखोई करे स्यामा को बदन स्याम,**
**स्याम के बदन लागी स्यामा की टकी रहै।**
**दास अब स्यामा के सुभाय मद छाके स्याम,**
**स्यामा स्याम सोभन के आसव हकी रहै।**
**स्याम के बिलोचन के हैं री स्याम तारे अरु,**
**स्यामा स्याम लोचन की लोहित लकीर है॥**[२]

पद्माकर ने भी इसी भाव को दूसरे रूप में रखा है—

**प्रेम के फँदे सुप्रीति की पैंठ में पैठत ही है**
**दसा यह जो लैं।**
**राधा-मई भई स्याम की सूरत स्याममई भई राधिका**
**डोलैं॥**[३]

रीति-परम्परा के एक दूसरे कवि बेनी प्रवीन ने भी इस लीला का मनोहर चित्रण किया है—

**उन चूनरी ले पहिरो उनकी, उन मोर परवान की लै कुलही।**
**उनके मुक्तान की माल लसी, उनकी कटि पीत पटी उलही।**
**वह झाँझरी बेनी प्रवीन धनी, दुरि देखिवौ को दृग हों जुलही।**
**दिन दुलह स्याम बनै दुलही, अलि-राति बनी दुलहा॥**[४]

यह आदान-प्रदान, रूप-परिवर्तन ही शक्ति और शक्तिमान का लीला-व्यापार है। जब 'रत्नाकर' गजराज के प्रसंग में भगवान को, भक्त की पुकार पर,

---

१. रीति काव्य संग्रह—पृ० १४१।
२. वही —पद-संख्या ३८।
३. वही — ,, ४७।
४. रीति काव्य संग्रह—पद-संख्या—१

बिना वाहन के दौड़ते दिखाते हैं तो वहीं पर विष्णु को रमा के साथ रमण करते हुए भी दिखाया है—

रमत रमा के संग आनन्द उमंग भरे
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पं ॥[1]

## उपसंहार :

शक्ति के सम्बन्ध में यह भावना इस काल तक आते-आते मधुरभाव के कवियों से पुष्ट हो इस प्रकार घुल गयी थी कि राधा-कृष्ण, सीता-राम या शिव-पार्वती को आधार मानकर रचना करनेवाले कवियों के लिए इससे असम्पृक्त रहना सम्भव नहीं था। रीति के कवियों की भावदशा जो भी हो, पर शक्ति की महत्ता और उसका व्यापार सहज भाव से रचनाओं में मुखर है। मुख्य रूप से श्रीराधा का तत्त्व इस काल के लिए महान् प्रेरक सिद्ध हुआ। राधा मिट्टी की गंध में बसी अपनी सम्पूर्ण मांसलता के साथ, अपने दिव्य-प्रेम को अलौकिक छटा से शक्ति-तत्त्व को धरातल पर लाने में समर्थ हुई है। यह धरातल का शक्तित्त्व ही शक्तिबाद का वह चरण है जिसमें कण-कण में शक्ति का स्फुरन लोक-भूमि पर उठता और उभरता दिखाई पड़ता है। दर्शन ने शक्ति को जहाँ प्रतिष्ठा दी, काव्य की किरण-डोर पकड़कर वह शक्ति-भावना विश्व-भावना हो गयी। इस भूमि पर आ चुकने पर जो सहज परिणाम होता है वह हुआ। अनेक कवियों के हाथ में पड़कर शक्ति-तत्त्व पानी में मिसरी को डली की तरह घुल तो गया पर स्वीकार करना होगा कि इसने लोक-जीवन को रसमय कर डाला। जीवन के नये आयामों में शक्ति-तत्त्व आगे चलकर नवीन रूपों में उद्भासित होने लगा'

१. रीति काव्य-संग्रह—पद-संख्या—३७

# भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शक्ति-भावना

## काव्यक्षेत्र :

ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में भारतेन्दु का स्थान अप्रतिम है। एक ओर वे भक्त-कवियों में सूरदास के समक्ष प्रतीत होते हैं तो दूसरी और रीति-कालीन कवियों से स्पर्धा करते दिखाई देते हैं। भारतेन्दु ने ग्यारहवीं शताब्दी से अपने समय तक के काव्य-प्रवाह का अवगाहन कर अपनी प्रतिभा का प्रक्षालन किया था, साथ ही कोटि-कोटि जनता के मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति, जिन लोकगीतों में हो चुकी थी और हो रही थी उसका अपने काव्य में मिश्रण किया। इस प्रकार, भक्ति, रीतिकालीन तथा लोक काव्य—इन तीनों पद्धतियों की विलक्षण त्रिवेणी का प्रवाह आपके काव्य में दिखलाई देता है। किन्तु, भारतेन्दु में रीतिकालीन और भक्तिकाल की धारा में कोई बिरोध नहीं है।

## प्रेम-तत्त्व-ज्ञाता :

भारतेन्दु प्रेम-तत्त्व के ज्ञाता थे और उनकी रसिकता में लौकिकता और अलौकिकता आकर अभिन्न हो गयी हैं। उनमें लौकिक शृंगार में भी दिव्य शृंगार के दर्शन की शक्ति थी। उन्होंने कहा भी है।—

सर्वसु रसिक के, सुदास प्रेमिन के
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के॥

'प्रेम-मालिका' समर्पण में भारतेन्दु ने 'परम प्रेममय अनुभव' के महत्त्व की स्थापना की है। उनके परम प्रेममय अनुभव के आलम्बन श्रीकृष्ण और राधा हैं। किन्तु राधा और कृष्ण को उन्होंने मात्र सुन्दर के वर्णन के लिए नहीं अपनाया, अपने समय के मानवीय सम्बन्धो को अभीप्सित रूप देने के लिए अपनाया। उनकी यह प्रेम-साधना थी जिसे उन्होंने सहज भाव से कहा, क्योंकि भारतेन्दु की काव्यसाधना आत्मा की साधना थी। अपनी आत्मा की आँखों से भारतेन्दु ने सर्वत्र ही दिव्यता की सृष्टि की है, क्योंकि उन्हें जन-दृष्टि का परिष्कार करना था। यह चेतना उनकी भक्तिपरक रचनाओं में भी दिखलाई देती है।

## शक्ति-तत्त्व :

भारतेन्दु की साधना में सर्वाधिक महत्त्व श्रीराधारानी का है। प्रायः सभी ग्रन्थों में उन्होंने श्रीराधा का ही प्रारम्भ में स्तवन किया है।[1] श्रीराधिका-शक्ति की महत्ता का ज्ञान भारतेन्दु को है क्योंकि श्रीराधिका के चरणो की ही कृपा

१. द्रष्टव्य : प्रेमतरंग, मधु-मुकुल विनय-प्रेम-पचास सौ एवं भक्त-सर्वस्व।

से भक्त को प्रेम-तत्त्व की प्राप्ति होती है—

**जयति जयति श्रीराधिका चरण जुगल करि नेम**
**जाकी छटा प्रकास तें पावत पामर प्रेम ॥**[1]

राधा-शक्ति समस्त सृष्टि की भूल है जिसको जान लेने पर वेदों का भी ज्ञान हो जाता है। यह सृष्टि का आदिशक्ति है। समस्त देवों की पूज्या, ध्यान-ज्ञान करने योग्य एवं सुख तथा शोभा का आगार है।

**सुर नर मुनि जेहि ध्यान धरत है गावत वेद पुकारी जू ।**[2]

यही शक्ति भारतेन्दु की इष्टदेवी हैं उनकी महारानी हैं।[3] इसे रूप के आगार को देखते टकटकी लग जाती है, पलकें नहीं झिपतीं।[4] यह रूपागार त्रिदेव पूजिता, चन्द्रमुखी, भववाधा-निवारिका तथा करुणाखानि है।

**जय वृषभानू नन्दिनी राधा**
**शिव ब्रह्मादि जासु पद-पंकज हरि बस हेतु अराधा ॥**
**करुनामयी प्रसन्न चन्द्रमुख हंसत हरति भव बाधा ।**
**'हरीचंद' ते क्यों जग जीनव जिन नहिं इनहिं अराधा ॥**[5]

श्रीराधा की कृपा-दृष्टि से संसार के सारे जीवों को जीवन मिल जाता है। इनकी ऐसी महिमा है कि ये परमानन्द-घन श्रीकृष्ण पर भी अपने आनन्द के कणों की वृष्टि करने में समर्थ हैं—

**जो निज दृष्टि कोट सों जगके जीवहिं नितहिं जिआवे**
**परमानन्द-धनहू पै जो निज आनन्द कन-बरसावे ॥**

रूप-वर्णन :

श्री राधिका के शरीर की ज्योति आज पूर्णचन्द्र के उदित होने पर उनके शरीर की कान्ति से मिल गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि गगन से धरा तक ही कान्तिमयी ज्योति का प्रसार हो।[7] संसार के जितने भी रूप हैं वे राधा के नख

---

१. भक्त-सर्वस्व—पद संख्या —१
२. वही —,, —७६
३. ,, —,, —३५
४. प्रेम-मालिका— ,, —१
५. कार्तिक-स्नान-पद संख्या—१।
६. कार्तिक स्नान-पद संख्या—४
७. प्रेम-मालिका : ,, —७१



की कान्ति की भी समता नहीं कर सकते——

**तैसहि श्री वृषभानु-नन्दिनी रंग भरी संग राजे**
**रूप गर्विता जुवती-जूथ सत जा पद-नख लखि लाजे ॥**[1]

भावुक कवि अपनी महारानी से अपना लेने के लिए उपमानों को अयोग्य पाते हैं और पूर्व के कवियों के उपमानों की व्यर्थता को एक पद में सिद्ध कर देते हैं। गोस्वामीजी ने सीताजी के सौन्दर्य की उपमा 'छविगृह, दीप-शिखा जनु बरई' से दी। भारतेन्दु दीप को इस तुलना के लिए सर्वथा अयोग्य सिद्ध करने में सारी युक्ति लगा देते हैं। भारतेन्दु की दृष्टि में श्रीराधा रोम-रोम को जुड़ानेवाली, स्थिर मतिवाली, प्रिय सुखदायिका, स्वप्रकाश शोभिता, पूर्ण ज्योतिर्मयी साकार परमाराध्या हैं।[2]

भारतेन्दु अपनी स्वामिनी की स्तुति एवं गुण-कथन से नहीं थकते। प्रेम फुलवारी में ऐसे दस पदों का संकलन है। श्रीराधा के सुहाग की छाया में सारा विश्व सुहाग से भर गया। शक्ति के अनुराग की छटा से ही विश्व का अनुराग मूर्त होता है।[3]

श्रीराधा तो भारतेन्दु की स्वामिनी हैं ही पर भारतेन्दु ने शक्ति के एक अन्य लीला-रूप को भी काव्य का आधार बनाया है। श्रीसीतावल्लभ स्तोत्र में कवि ने सीता-शक्ति की महत्ता श्रीराधा से कम नहीं स्वीकार की है। श्रीसीता भी कवि की दृष्टि में प्रेमानन्दा, प्रेम भावैकगम्या हैं, श्रीराम के चकोररूपी नेत्रों का पोषण करनेवाली, चन्द्रकला के समान निर्मला हैं। राम को वश में रखनेवाली सीता ही हरिश्चन्द्र की स्वामिनी हैं।

**या रामाक्षि चकोर पोषणकारी चान्द्रीकला निर्मला**
**सा श्रीरामवशीकारी जनकजा सीताऽस्तु मे स्वामिनी ॥**[4]

शक्ति की आन्तरिक एकता :

अपनी स्वामिनी की भक्ति में कवि हरिश्चन्द्र को अहर्निश सारा विश्व ही स्वामिनीमय प्रतीत होता है—यही अनन्य शरणागति है। भक्त की विह्वलावस्था है—

**रात्रौ सीता दिवा सीता सीता सीता गृहे वने ।**
**पृष्ठेऽग्रे पार्श्वयोः सीता सीतेवास्तु गतिर्मम ॥**[5]

भारतेन्दु की सीता-भावना राधा-भावना से भिन्न नहीं है। दोनों में

---

१. मधु-मुकुल : भा० ग्र०--पृ० ४१५
२. कार्तिक स्नान : पद-संख्या १८
३. प्रेम फुलवारी— ,, ८३
४. श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र—श्लोक-संख्या ६
५. वही ,, — ,, २८

भावना का एक ही आवेग दिखलाई पड़ता है। वही निष्ठा है। क्योंकि, हरिश्चन्द्र के लिए सीता और राधा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। दोनों ही ब्रह्म की आह्लादिका शक्ति हैं और उनमें आन्तरिक एकता है। एक ही शक्ति के वे भिन्न रूप हैं।

> **सब देविन में तुमरी मूरति हम कहँ प्रगट बखानी ॥**
> **तुमहि लक्ष्मी काली तारा दुरगा शिवा भवानी ।**
> **'हरीचंद' हमको तो नैनन दूजो कहूँ न दिखानी ॥[१]**

श्रीराधा के साथ भारतेन्दु ने श्रीकृष्ण के दक्षिण भाग में श्री चन्द्रावली को दिखाया है। श्री चन्द्रावली के प्रति स्वयं ही श्री चन्द्रावली नाटिका में भगवान के मुख से कहलवाया है —

'.....तू तो मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम की शिक्षा करिबे को मेरी लीला है'-(श्री चन्द्रावली नाटिका—भा० नाटकावली भाग १, पृ० २५९)।

इस प्रकार, हरिश्चन्द्र ने शक्ति के विविध रूपों की आन्तरिक एकता को दिखलाया है।

**अभेदत्व :**

शक्ति एवं शक्तिमान का युगल रूप ही भारतेन्दु का इष्ट था, पर शक्ति एवं शक्तिमान के अभेद को वे भी स्वीकार करते दिखाई देते हैं—

> **जल तरंग बुधि प्रान पुनि दीप प्रकाश समान**
> **जुगल अभिन्नहु दोय वपु जय राधा-भगवान ॥[२]**

श्रीराधा और श्रीकृष्ण तत्त्वतः एक ही हैं पर लीला के निमित्त उन्होंने दो रूपों में अपने को प्रकट किया है। वही भोक्ता है और वही भोग्य है। शक्ति और शक्तिमान अपनी षोडस[३] कलाओं से युक्त हो प्रतिभासित होते रहते हैं—

> **चार चार षट षट दोऊ अष्टादश को सार**
> **एक सदा द्वै रूप धर जै जै नन्दकुमार ॥[४]**

---

१. भारतेन्दु-ग्रन्थवाली—पृ० सं० १३७
२. कार्तिक-स्नान : पृ०-संख्या ३
३. तुलनीय—शक्ति की षोडसी कला—(दर्शन-खण्ड)
४. भा० ग्र०-स्फुट कविताएँ ८



इस अद्वयता को श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति को स्पष्ट करते दिखाई देते हैं—

> **हम तुम एक प्राण मन दोऊ यामें कहू न भेद ।[१]**

और भक्त इसी तत्त्व को जानकर स्वयं भी दोनों में कोई अन्तर नहीं देखता है—

> **गौर-स्याम हरिचंद कोटि मोहन मनमथ-रति ।**
> **एक वरन एक रूप लखौ इक ही टक नित प्रति ।।[२]**

इस आन्तरिक अद्वयता को भक्त अच्छी तरह जानते हैं। किन्तु भगवान की लीला के दर्शनों के आकांक्षी होते हैं। भक्तों के सुख के लिए ही शक्ति-शक्तिमान का यह लीला-विहार चलता है। भारतेन्दु की भावना युगल भावना थी। युगल छवि का वर्णन उन्होंने अनेक पदों में, अनेक रूपों में किया है।

सुन्दर नटनागर एवं वृषभानु-किशोरी की युगल मूर्ति, पीत पिछौरी तथा नीलाम्बर सारी का परिधान पहने, एक रूप, एक ही वयस के कुंज में शोभित हो रहे हैं।[३] इस शोभा को प्राकृतिक उपमानों से भारतेन्दु चित्रित करते हैं—

> **फूली रही बेली श्रीवृन्दावन ।**
> **नव तमाल घनश्याम पिया श्रीराधा पीत चमेली ।।[४]**

वृन्दावन की पवित्र एवं रमणीय भूमि में दम्पति का लीला-विलास चलता रहता है। प्रेममय व्रज प्रेमोद्रेक में ब्रजांगना रूप हो जाता है और ब्रजांगनाएँ श्रीकृष्ण के भाव-रस में पगी नन्दनन्दन-स्वरूपा हो जाती हैं। रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में निज-शक्ति श्रीवृषभानु-नन्दिनी-रूप हो जाते हैं और राधिका-शक्ति प्रेम-स्वरूप में श्रीकृष्ण ही हो जाती हैं।

**लीला :**

लीला के चित्रों में भक्तिकाल के कवियों से बढ़कर, भारतेन्दु ने प्रत्येक ऋतु की लीला का रसमय चित्र प्रस्तुत किया है। शक्ति और शक्तिमान की यह लीला सृष्टि में निरन्तर चला करती है। भावुक भक्त इस लीला का प्रत्यक्ष दर्शन करने में अलौकिक सुख का अनुभव करते हैं। इस लीला में सांसारिक विषय भाव को स्थान नहीं। यह लीला मांगलिक है—'मंगलमय सखि जुगल-विहार'। लीला का विलास कभी प्रीतिपूर्वक एक दूसरे को निरखते रहने में है। इस भाव को हरिश्चन्द्र ने प्रतियोगी के रूप में रखा है जिसमें हारकर भी जीत हो जाती है

---

१. प्रेम-प्रलाप —पद-संख्या ४४
२. सतसई-सिंगार—पद-संख्या ८
३. प्रेम-मालिका — ,, ५
४. ,, — ,, ६१

और जीतकर भी हार हो जाती है—

बाजी नैनन में लागी।
रसिकराज इत उत श्रीराधा परम प्रेम-रस-पागी ॥
दोऊ हारे दोऊ जीते आपस के अनुरागी ॥[1]

कभी झूला-विहार, कभी फाग, कभी वर्षा-विनोद—इन रूपों में लीला चलती रहती है। स्वरूप इसका लौकिक-सा लगेगा पर भाव दिव्य है जो प्रेमरस से पूरित। झूला का सांगोपांग वर्णन हरिश्चन्द्र ने 'प्रेमाश्रु-वर्णन' में किया है—

दोऊ मिलि झूलत कुंज वितान।
... .... — ...
आनन्द-सागर अठो ताको कहूँ वार न पार।
डूबे करम कुल ज्ञान नेम विवेक काम-विकार ॥
पायो न क्योंहूँ थाह शिव शुक रहे हारि विचार।
हरिचंद तेहि अवगाह किय बल्लभ-कृपा-आधार ॥[2]

पावस में लीला-विहार और भी मनोरम हो जाता है जब राधा-कृष्ण वर्षा की बून्दों में भींग रहे हैं। भारतेन्दु ने यहाँ सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया है—

भींजत साँवरे संग गौरी।
अरस परस बातन रस भूवी बाँह बाँह में जोरी।
कदम तरे ठाढ़े दोउ ओढ़े एकहि असन पिछोरी ॥
चुअत रंग अंग बसन लपटि रहे मांजि मांजि दुहूँ ओरी ॥[3]

फाग की शोभा तो और भी अनूठी हो जाती है। राधा और कृष्ण गोपियों के संग फाग खेल रहे हैं। मुरली और मृदंग वाद्य बज रहे हैं। वृन्दावन की इस शोभा को देखकर स्वर्ग की शोभा भी आधी लगती है।[4]

## महारास :

पावस की इस लीला के पश्चात् शरदपूर्णिमा की रात्रि को महारास होता है।

---

१. कार्तिक स्नान—पद-संख्या ७
२. पैमाश्रु-वर्णन — ,, २३
३. वर्षा विनोद — ,, २७
४. मधु-मुकुल — ,, ७१



श्रीमद्भागवत् वर्णित महारास का आध्यात्मिक महत्त्व है। भारतेन्दु ने इस महारास का अलौकिक चित्रण किया है। यही अनन्त शक्तिमान और शक्ति का महाविलास है—

उदित चन्द्र निर्मल नभ-मण्डल थकि गये देव-बिमान।
कुनित किंकनी नूपुर बाजत झनझन शब्द महान ॥
मोहे शिव ब्रह्मादिक बहि निसि नाचत लखि भगवान।
'हरीचंद' राधा-मुख निरखत छूट्यो सुर-तिय मान ॥[1]

परमात्मा के इस महारास की वैष्णवशास्त्र में बड़ी महत्ता है। इसे ही शाक्तों की कामकला के समकक्ष माना गया है।

## काम-कला :

किन्तु, इससे भी आगे बढ़कर भारतेन्दु ने रति का वर्णन किया है। यह रति-वर्णन सांसारिक नहीं है। शक्ति और शक्तिमान की यह लीला तो नित्य है और यही उनकी तत्त्वातीत अद्वैत स्थिति है। भारतेन्दु के श्रीकृष्ण और राधा की यह केलि निभृत नहीं है। सखियाँ भी विकारहीन होकर शक्ति और शक्तिमान की इस लीला की साक्षी हैं—

निविड़ तम-पुंज अति स्याम गहवर कुंज
राधिका-श्याम तहँ केलि सुन्दररची।
परम अंधियार मधि उदय मुखचंद को
करत तम दूर सब भाँति सोभा सची ॥
हाय हिय चमकि उडुगनन की छबि हरत।
करत किंकिनी चुरी शब्द मनिगन खची।
लखत 'हरिचन्द' सखि लोट ह्वै सुरनि-सुख
काम-कामिनी-काम-गरब गति नहीं बची ॥[2]

श्रीकृष्ण ब्रह्म का निष्क्रिय रूप निश्चल है और उसपर त्रिकोणात्मक स्पन्दन नृत्य करता रहता है। त्रिकोण की यह क्रिया या गति ब्रह्म का अपने स्पन्दन के खेल, क्रीड़ा या मिथुन है। यह चिदानन्द के महानन्द से प्रसूत आनन्दमयी शक्ति है जो सृष्टि का कारण है। इसी को शाक्त-भावना में महाकाल के साथ महाकाली की विपरीत रति कहा जाता है।

## सारांश :

भारतेन्दु की दृष्टि में शक्ति की महत्ता है और श्रीराधा के जन्म के सम्बन्ध

---

१. राग-संग्रह—पद-संख्या ७६
२. प्रेममालिका— ,, ९६

में अनेक पद रचित हैं। श्रीराधा का जन्म ही श्रीकृष्ण की लीला के लिए हुआ था। गोपियाँ भी श्रीराधा की अंशभूता हैं। इनमें राधा की अष्ट सखियाँ हैं। अष्टसखियों की भावना राम-रसिकों में भी है और अष्टकमल के चक्र के रूप में इनकी स्थिति मानी गयी है जिनके मध्य में बिन्दुरूपा शक्ति है।

श्रीराधा के अतिरिक्त भारतेन्दु ने गिरिनन्दिनी का भी परमशक्ति के रूप में स्मरण किया है—

शक्ति जानि गिरि-नन्दिनी परमशक्ति जो आप॥[1]

श्रीराधा भी परमशक्ति हैं जो अपने स्वामी की इच्छा से सृष्टि-लीला की क्रियाएँ करती रहती हैं। यहाँ शाक्तों और वैष्णवों की भावना में कोई अन्तर नहीं परिलक्षित होता। मूल आत्मा उनकी एक ही है।

---

१. भक्त-सर्वस्व—पृष्ठ सं०२३

# हरिऔध की शक्ति-भावना

हरिऔधजी तक आते-आते धार्मिक भावना रूढ़ियों में आबद्ध नहीं रह सकी। नवयुग ने जीवन के समस्त क्षेत्रों के साथ-साथ धार्मिक भावना को भी बौद्धिक औचित्य के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। यही कारण है कि नवजागरण के काल में धार्मिकता अपनी परम्परागत लकीरों से कतराती हुई दीखती है। नये लोक अथवा नयी भावना ने किस प्रकार अपनी सत्ता को स्थायित्व दिया, यह हमारी चर्चा का विषय नहीं है, पर बदलते हुए मान के युग में शक्ति-भावना का वह परम्परागत रूप नहीं है। इसके स्वर में किंचित् नवीनता का आभास है।

## प्रियप्रवास :

हरिऔधजी के प्रियप्रवास की कथा का आधार श्रीमद्भागवत का ही है। पात्र भी वे ही हैं, किन्तु परिचर्या नवीन है।

कथा श्रीकृष्ण की मथुरा-यात्रा से सम्बन्धित है। कथा-सूत्र से मथुरा-यात्रा के अतिरिक्त उनकी और ब्रज-लीलाएँ भी यथास्थान रखी गयी हैं। कवि ने भूमिका में ही कहा है—मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।[1] हरिऔधजी ने आधुनिकता की रक्षा के निमित्त कृष्ण-चरित का परिष्कार किया है।

## शक्ति-तत्त्व :

आधुनिकता के प्रस्तुत परिवेश में भी प्रियप्रवास में शक्ति-तत्त्व के सूत्र मिलते हैं। इसका कारण कवि की संस्कारबद्ध भावना को कहा जायगा जिसमें शक्ति-तत्त्व नीर-क्षीर-न्याय की तरह मिश्रित हो गया है। कोई भी कवि परम्परा-प्रवाह में असम्पृक्त द्वीप-खण्ड की तरह रह ही नहीं सकता। चतुर्दिक लहराती जलराशि का रस उसकी आत्मा में भीग जायेगा ही। हरिऔधजी इसके अपवाद नहीं कहे जा सकते। हाँ, इतना तो है कि राधा-शक्ति के चित्रण में अपेक्षाकृत नवीनता की संयोजना है।

## स्वतंत्र शक्ति : जगदम्बिका :

प्रियप्रवास के तृतीय सर्ग में हम शक्ति का स्वतन्त्र रूप में चित्रण पाते

---

१. भूमिका : पृष्ठ २३, तृतीय संस्करण (१९४४)

हैं। शक्ति का यह जगदम्बिका-रूप भारत में चिरकाल से पूजित होता रहा है भारत की नारीजाति ने सदा ही अखण्ड सौभाग्यवती जगदम्बिका के समक्ष विपद्‌काल में आंचल पसारा है और उनकी कृपा की कांक्षा की है। यशोदा भी कृष्ण के मथुरा-गमन की बात जान, व्याकुल हो भगवती जगदम्बिका का स्तवन करती दिखाई देती हैं। जगदम्बिका समस्त पापों का नाश करनेवाली, दुष्टों का दलन करनेवाली, जगत् की जननी तथा शिववल्लभा हैं—

**कलुष-नाशिनी दुष्ट-निकंदिनी।**
**जगत् की जननी भव-बल्लभे।**
**जननि के जिय की सकला व्यथा।**
**जननि ही जिय है कुछ जानता॥**[१]

यशोदा जगदम्बिका की आराधना अनन्य भाव से करती दिखाई देती हैं। वे ही यशोदा की आराध्या हैं एवं आश्रय हैं—

**सकल भाँति हमें अब अम्बिके।**
**चरण पंकज ही अवलम्ब है।**
**शरण जो न यहाँ जन को मिली**
**जननि, तो जगती तक शून्य है॥**[२]

यशोदा भगवती के विधान की महत्ता का वर्णन करती दिखाई देती हैं। भगवती की सृष्टि में सारे तत्त्व समझ में आने योग्य नहीं है। इस सृष्टि में बहुरूपता है, पर सभी के निर्माण में युक्ति और औचित्य है। यशोदा भगवती के माहात्म्य का निम्नलिखत शब्दों में वर्णन करती हैं—

**विधि अहो भवदीय विधान की।**
**मति-अगोचरता बहुरूपता।**
**परम युक्तिमयी कृति भूति है॥**
**पर कहीं दह है अति कष्टदा॥**[३]

यशोदा के अतिरिक्त राधा भी भगवती की आराधिका है—

**सविधि भगवती को आज भी पूजती हूँ**
**बहु-व्रत रखती हूँ, देवता हूँ मनाती॥**[४]

---

१. प्रियप्रवास—तृतीय सर्ग—छन्द-संख्या ४९
२. वही — ,, — ,, ३।७०
३. प्रियप्रवास—३।७१
४. वही —४।३६



पार्वती ने संकल्प किया था—जन्म-कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ शंभु न त रहउँ कुमारी[१]—यह प्रत्येक हिन्दू-नारी का और राधा का भी संकल्प है। यही भावना आज प्रत्येक हिन्दू-नारी का विश्वास है कि पति-पत्नी का संयोग एक जन्म का नहीं, जन्म-जन्म का है,—अनन्त है। इस अनन्त-सम्बन्ध का प्रसाद भगवती पार्वती के चरित-प्रसाद से ही प्राप्त हुआ है।

राधा-तत्त्व :

राधा का वर्णन प्रियप्रवास में यद्यपि कवि के कथनानुसार लौकिक धरातल पर ही है, पर अनेक विशिष्ट गुणों से युक्त होकर राधा अलौकिकता की ओर प्रयाण करती सी लगती है। अलौकिकता वही है जो सहज ही लोक में प्राप्त न हो और राधा का निर्माण भी हरिऔधजी ने लोक की सीमा से उठकर ही किया है। राधा कृष्ण की शक्ति हैं। राधा के दर्शन होते ही उद्धव की भक्ति-भावना उमड़ पड़ती है। यह मात्र लौकिक श्रद्धा नहीं है; देवी के समान दिव्यता यहाँ स्वयं देवी की दिव्यता हो गयी है—

**प्रशान्त, म्लाना वृषभानु-कन्यका।**
**सु-मूर्त्ति, देवी सम दिव्यतामयी।**
**विलोक, हो भावित भक्ति-भाव से।**
**विचित्र उधो-उर की दशा हुई॥**[२]

चतुर्थ सर्ग में भी राधा के प्रथम उल्लेख में भी इस दिव्यता का कथन हुआ है—

**थक सुता उनकी अति-दिव्य थी।**
**रमणि-वृन्द-शिरोमणि राधिका।**
**सुयश-सौरभ से जिनके सदा।**
**व्रज-धरा बहु-सौरभवान थी॥**[३]

राधा व्रज-धरा को सुरभि हैं।, रमणी-श्रेष्ठ हैं और दिव्य हैं। ये तत्त्व राधा को लोक-प्रतिष्ठा में अलौकिक प्रतिष्ठा में ही सहायक होते हैं।

रूपच्छवि :

इसी सर्ग में कवि राधा के माधुर्य-वर्णन में मुग्ध-से दीख पड़ते हैं। राधा-रूप के उद्यान में प्रफुल्लकलिका के समान, चन्द्रमा के समान मुखवाली, तन्वंगी, निरन्तर मधुर हास्ययुता, सुरसिका, अनन्त क्रीड़ाओं एवं कलाओं की पुत्तलिका

---

१. रा० च० मा०—बालकाण्ड—पृ० ४६।
२. प्रियप्रवास—१६।३३
३. प्रियप्रवास—४।३

है। वह शोभा के सागर की अमूल्य मणि के समान लावण्य लीलामयी माधुर्य की मूर्ति है। आगे कवि निम्नलिखित पंक्तियों में राधा का वर्णन करता है—

नाना-भाव विभाव-हावकुशला आमोद आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्षा-पात-निपुणा भ्रू भंगिमा-पंडिता।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणाभूषिता।
राधा थीं सुमुखि विशाल-नयना आनन्द-आन्दोलिता॥[1]

इतनी विशिष्टताएँ इसी शक्ति की ही हैं जो अपने शक्तिमान के साथ लीला-विलास करने के निमित्त सृष्टि में अवतरित हुई हैं।

रूप-वर्णन के क्रम में कवि भाव-विह्वलता की अवस्था में राधा-रूपच्छवि का साक्षात् दर्शन करता सा दीखता है—

फूले कंज-समान मंजु-दृगता थी मत्तताकारिणी।
सोने-सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि—उन्मेषिणि।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्ति-सी।
काली-कुंचित-लम्बमान-अलकें थीं मानसोन्मादिनी॥[2]

लालो थी करती सरोज-पग की भूपृष्ठ की भूषिता।
बिम्बा विद्रुम को अकान्त करती थी रक्तता ओष्ठ की।
हर्षोत्फुल्ल-मुखारविंद-गरिमा सौन्दर्य आधार थी।
राधा की कमनीय कान्त छवि थी कामांगना मोहिनी॥[3]

राधा प्रणय की प्रतिमा है। यह 'शान्ता धीरा मधुरहृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा' है।[4] वह कृष्ण की शक्ति-अस्तु ब्रजदेवी या ब्रजेश्वरी है। प्रियप्रवास में हरिऔधजी ने राधा को चिरकुमारी के रूप में चित्रित किया है;[5] अस्तु ब्रजदेवी या ब्रजेश्वरी चिरकुमारी राधा नहीं हो सकती। वह राधा-ब्रजेश्वरी कृष्ण की शक्ति ही है, अन्य कोई नहीं।

प्रेमरूपा राधा :

हरिऔधजी की राधा-शक्ति प्रेमरूपा है। वह शोभावाले जलद-वपु

१. प्रियप्रवास —४।६
२. वही —४।५
३. वही —४।७
४. ,, —१०।३४
५. मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे॥—प्रियप्रवास, १६।१३५॥



की चातकी' है।[1] वह ब्रज के विभूषण में अनुरक्त है और परम-कृष्ण-समर्पिता है।[2] समर्पिता राधा निरन्तर कृष्ण की रूपच्छवि में मत्त रहा करती है।[3]

क्रीड़ा-विलास :

राधा का यही अनन्य भाव है जिसके वशीभूत होकर वह श्याम के साथ क्रीड़ा-मग्न रहा करती है।[4] यह क्रीड़ा अलौकिक है क्योंकि राधा और कृष्ण दोनों अलौकिक हैं।[5] प्रणय-लीला को कवि ने स्मरण के माध्यम से पन्द्रहवें सर्ग में उल्लेख किया है। वियोगप्रधान काव्य होने के कारण कवि को संयोग-लीला-वर्णन के लिए अवकाश नहीं था। राधा यहाँ विगत लीलाओं का स्मरण करती हुई पत्रावली से कहती है—

छोटी-छोटी रुचिर अपनी श्याम-पत्रावली में।
तू शोभा से विकच जब थी भूरिता साथ होती।
ताराओं से खचित नभ-सी भव्य तो थी दिखाती॥[6]

तादात्म्य :

चमेली से, जूही से राधा-वियोगिनी प्रश्न करती है और उसे जूही-चमेली से कोई उत्तर नहीं मिलता। राधा का भाव यहाँ जूही में समाहित हो गया है और उसे जूही भी तद्गता लगती है जैसे वह स्वयं तद्गता हो गयी है।[7] प्रियतम के रंग में सर्वांग रँगी राधा अब अपने शक्तिमान में लीन हो गयी है। यह लीनता नीरक्षीरवत् है,[8] तिल-तण्डुल भाव नहीं। यहाँ अपनापन शेष हो गया है—

जब अब अपने ए अंग ही हैं न आली।
तब प्रियतम में मैं क्या करूँ तर्कनाएँ।
जब निज तन का ही भेद मैं हूँ न पाती।
तब कुछ कहना ही कान्त को अज्ञता है॥[9]

१. प्रियप्रवास —६।२६
२. वही —४।९
३. वही —४।१७-१८
४. वही —४।१३
५. वही —५।१३
६. ,, —१५।१०
७ ,, —१५।२०
८ ,, —१६।३८
९. ,, —१५।१२०

हरिऔधजी ने सर्वत्र ही राधा-भाव को सात्त्विक वृत्ति के रूप में वर्णित किया है। यह वृत्ति ही हृदय को उज्ज्वल भाव से रँग देती है और इस योग को मणिकांच-नयोग कहते हैं।[१] राधा का प्रेम शरीर का आधार लेकर उदित नहीं हुआ है। यह आत्मा की सहज प्रवृत्ति है जो विश्वात्मा की ओर आकर्षित हो जाती है। यह शक्ति ही है जो शक्तिमान से मिलने के लिए अग्रसर होती है और दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता, क्योंकि इन दोनों का सहज अद्वय सम्बन्ध है। ये मात्र कथन के लिए भिन्न-भिन्न कथित होते हैं, पर मूलतः एक ही हैं।

**रास का नवीनीकरण :**

रास के वर्णन में हरिऔधजी ने नवीन योजना की है। रास का परम्परागत महत्त्व तो शक्तिमान एवं शक्ति की महाभाव लीला के रूप में है पर हरिऔधजी ने इसे सामूहिक नृत्य के रूप में चित्रित किया है। उद्देश्य भी मात्र प्रकृति की सुरम्य शोभा के दर्शन के निमित्त रखा गया है। मात्र प्रकृति-प्रेम का आधार लेते हुए भी इसका स्वर अलौकिक हो गया है।[२] रास की इस दृष्टि से सुन्दर पृष्ठभूमि वर्णित है। इस रास में राधा का कहीं भी उल्लेख नहीं है और एकमात्र श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ रास नहीं कर रहीं वरन् अनेक गोप भी हैं। गोप और गोपियों के जोड़े नृत्य कर रहे हैं और श्रीकृष्ण सबके सूत्रधार एवं नेता-रूप में दिखाई देते हैं।

**वंशीनाद :**

किन्तु, इसके साथ वंशी की ध्वनि की अलौकिकता दृष्टिगत होती है। वंशी-स्वर केवल आवाहन के लिए यंत्रमात्र नहीं है। इसकी ध्वनि (नाद) का प्रभाव है कि सभी इसकी ओर बरबस खिंच जाते हैं। अनेक वाद्यों के बीच वेणु-ध्वनि अपने निराले स्वर का प्रसार कर रही है। मुरली के रस-नाद में सभी अपने शरीर की सुधि भूल जाते हैं यहाँ तक कि सारे वाद्ययंत्रों के मूक हो जाने पर भी वंशी का स्वर गूँजता सा सुनाई देता है—

**होती प्रीतीति सूर में उस काल यों थी।**
**है मंत्र साध मुरली अभिमंत्रिता सी।**
**उन्माद मोहन-वशीरनणादिकी के।**
**हैं मंजु-धाम उसके ऋजु-रंध्र-सातों ॥**[३]

यह मुरली आत्मा का आह्वान करनेवाली है। यह शब्द-ब्रह्म का रूप

१. प्रियाप्रवास—१६।१०१, १११, १२८
२. प्रियप्रवास—१४।१०७ धारा अपूर्व रस को महि में बहा कँ
सर्वत्र थी अति-जलौकिकता लसाती ॥
३. ,, १४।११६



है।[१] जिसके कानों में यह ध्वनि पड़ी वह मोहित हो गया।[२]

हरिऔधजी ने सदा ही आधुनिकता का ध्यान रखने की चेष्टा की है। यही कारण है कि कृष्ण का आख्यान होते हुए भी यह धार्मिक परम्परा से दूर जा पड़ा है। पात्र, घटनाएँ एवं दृश्य-योजना सभी वे ही हैं, पर उनमें बौद्धिकता बोल रही है। यही कारण है १६वें सर्ग में नवधा-भक्ति का नवीन मूल्यांकन करते हुए हरिऔधजी नवीन धरातल प्रस्तुत करते हैं। प्रियप्रवास में स्थूल का आधार लेकर सूक्ष्म की प्राप्ति करने का मार्ग प्रस्तुत किया गया है। इसी से राधा को अपने प्राणेश में परम प्रभु के दर्शन होते हैं। इस प्रकार, राधा लोकाधार से उठकर शक्ति बन जाती है और कृष्ण शक्तिमान। प्रेम ही वह सूत्र है जो लोकोत्तरता की सृष्टि कर डालता है और प्रेम तथा भक्ति में यहाँ कोई भेद नहीं है।

**वैदेही-वनवास :**

हरिऔधजी के एक अन्य ग्रन्थ **वैदेही-वनवास** में भी प्रियप्रवास की भांति राम के राज्यरोहण के पश्चात् सीता का वनवास से लेकर स्वर्गारोहण तक की कथा है। यह ग्रन्थ भी यद्यपि भवभूति के उत्तर-रामचरित के आधार पर है, पर इसमें भी नवीनता का आग्रह पूर्णरूपेण विद्यमान है।

**सीता-तत्त्व :**

वैदेही-वनवास की नायिका श्रीजानकी हैं। कवि ने कई स्थलों पर उन्हें पुण्यमयी-महिनंदिनी, कलुष-निकंदिनी इत्यादि कथित किया है। वे श्रीराम की हृदय-वल्लभा हैं, सिद्धिदायिनी एवं सुख का सर्वस्व हैं। वे श्रीराम की आनन्द-विधातृ हैं और उन्हीं की शक्ति-स्वरूपा हैं—

**जिसकी सुख-सर्वस्व तुम्हीं हो।**
**जिसकी हो आनन्दविधाता ॥**
**जिसकी तुम हो शक्तिस्वरूपा।**
**जो तुमसे है पौरुष पाता ॥**[३]

श्रीसीता के सम्मुख ऋद्धि-सिद्धि हाथ जोड़ खड़ी रहती हैं और वे स्वयमेव दिव्य देवियों-सी हैं। कवि एक स्थल पर उनके मानवीत्व का निराकरण भी करते

१. विष्णु के हाथ का शंख और शिव का डमरू, कृष्ण के हाथ की वंशी है, जो शब्द-ब्रह्म का प्रतीक है और सृष्टि-प्रवर्त्तन में महामाया का रूप धारण करता है—डा० ज० मि० (भा० प्र० वि०)—पृष्ठ १५४
२. प्रिय-प्रवास—१५।८३
३. वैदेही-वनवास—षष्ठ सग—पद-संख्या ३७
४. वैदेही-वनवास—षष्ठ सर्ग—८।२६

हुए स्पष्ट कहता है—

आप मानवी हैं तो देवी कौन है।
महादिव्यता किसे कहाँ ऐसी मिली ॥[1]

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए पुनः कवि ने द्वादश सर्ग में कहा है—

सहधर्मिणी आप हैं उनकी देवि आप दिव्यतामयी हैं।
इसीलिए बहु-प्रबल-कलाओं पर भी आप हुई विजयी हैं ॥[2]

अभेदत्व :

श्रीसीता का शक्तित्व इसी से सिद्ध है कि वह लोकोत्तर ज्योति के रूप में वर्णित हैं। स्वर्गारोहण-सर्ग में हरिऔधजी सीता-शक्ति को राम के चरणों में मिल जाते हुए दिखलाते हैं। यह दिव्य-ज्योति भगवान राम की ही शक्ति हैं जो पुनः इन्हीं के चरणों पर लीन हो जाती है।[3] जीवनपर्यन्त सीता राम का मुखारविन्द विलोककर जीवित रहती हैं। वे चकोरी के समान हैं जो चन्द्र-सुधा का पान कर ही सप्राणा रह सकती हैं। पति से विलग रहने पर भी वे निरन्तर पति से अभिन्न हैं।

अन्तर का परदा रह जाता ही नहीं।
एक रंग में जो रँग जाते हैं उभय ॥
जीवन का सुख तब हो जाता है द्विगुण।
बन जाते हैं एक जब मिले दो हृदय ॥[4]

यही परमानन्द की स्थिति है जिसमें सारा संसार आनन्दमय हो जाता है। यह साधना लौकिक होने के साथ-साथ अलौकिक है। यही वह आध्यात्मिकता है जिसमें चिन्मयत्व है।

आध्यात्मिकता मध्य चिन्मयी-शक्ति हैं ॥[5]

सीता-राम-सम्बन्ध :

श्रीराम और सीता के सम्बन्ध लौकिक स्त्री-पुरुष के नहीं। वह ब्रह्म और उनकी शक्ति का सम्बन्ध है। यदि श्रीराम त्रिभुवन-पति हैं तो सीता उनकी भक्ति हैं—

यदि रघुकुल-तिलक पुरुष हैं।
श्रीमती शक्ति हैं उनकी ॥

१. वैदेही-विवाह—षष्ठसर्गः, ८।२९
२. वैदेही-वनवास—१२।२।५६
३. ,, —१८।४०
४. ,, —१३। ८
५. ,, —१४।१५७



जो प्रभुवर त्रिभुवन-पति हैं।
तो आप भक्ति हैं उनकी ॥[1]

शक्ति और शक्तिमान का वही सम्बन्ध है जो भक्त और भगवान का है। दोनों में कोई अन्तर नहीं।

नर एवं नारी का प्राकृत सम्बन्ध है। यही शक्ति-शक्तिमान का आधार बनता है पर उसमें प्राकृतता नहीं। संयोग के पहले दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। शिव भी शक्ति के बिना शव रहते हैं और भगवान का इसीलिए अर्द्धनारीश्वर-रूप भी वर्णित किया गया है। हरिऔधजी इस भाव को निम्नलिखित रूप में व्यक्त करते दिखाई देते हैं—

भव-मंगल-कामना तथा स्थिति-हेतु से।
नर-नारी का नियति ने किया है सृजन ॥
हैं अपूर्ण दोनों पर उनकी पूर्णता
है प्रदान करता दोनों का सम्मिलन ॥[2]

अलौकिक रस :

राम और सीता के संयोग में राजभवन में अलौकिक रस प्रवाहित रहता है। यह अलौकिक रस ही शक्ति-शक्तिमान का दिव्य-दाम्पत्य है। ऐसे दम्पति को कोई भला दम्पति कहेगा ही क्यों अगर वहाँ दिव्य-दाम्पत्य का निवास न हो। कारण, इस भाव में सारी मलिनताएँ शेष हो जाती हैं और गंगा की पवित्रता का निवास हो जाता है। उसकी सात्त्विक प्रवृत्तियाँ, एवं कल्याणकारी वृद्धियाँ नन्दवन की सुरम्यता को प्रकाशित करती रहती हैं।

उसमें है सात्त्विक-प्रवृत्ति-सुमनावली।
उसमें सुर-तरु रा विलसित भव-क्षेम है ॥
सकल-लोक अभिनन्दन-सुख-सौरभभरित।
नन्दनवन-सा अनुपम दम्पति प्रेम है ॥[3]

इसको प्राप्त करने के लिए भेद का भाव भुला देना पड़ता है और तदीयता लानी पड़ती है। यह सम्बन्ध चन्द्र और उसकी चन्द्रिका का है।[4] गोस्वामीजी की

१. वैदेही बनवास—११।६५
२. ,, ,, —१४।५१
३. ,, ,, —१४।८९
४. वही ,, —२।३६

सीता भी इन्हीं शब्दों में भगवान राम से कहती हैं—

> प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।
> कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई ॥[1]

चन्द्रिका ही चन्द्रमा को चन्द्रमा बनानेवाली है और शक्ति की शक्तिमान को संज्ञा देती है। यह भाव हरिऔधजी ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

> शिवा से है शिवता की प्राप्ति।
> रमा का है घर-घर में वास ॥[2]

शिव को शिवत्व देनेवाली उनकी शक्ति के सिवा अन्य कोई नहीं। यह शक्ति अनन्त रूप धारण कर सृष्टि में प्रतिपल विभासित हो रही है। यही सृष्टि का मूल कारण है। इसी से इसको अगणित नामों से कहा जाता है। यही जगन्माता है।

**सारांश :**

भारतीय चिन्ताधारा में यही कारण है कि शक्ति की माता-रूप में प्रतिष्ठा है क्योंकि यह समस्त विश्व वहीं से उत्पन्न होता है। वही जगन्माता राम की, कृष्ण की, शिव की शक्ति हैं। ये सभी शक्तियाँ एक ही हैं। जिस प्रकार ब्रह्म की एकता में भी उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में कथित किया जाता है। इसी प्रकार शक्ति भी तत्त्वतः एक ही है। वह विविध रूपों में विलास करती दिखाई देती है। इस दृष्टि से सीता और राधा में कोई अन्तर नहीं। हरिऔधजी की राधा भी प्रेम का आधार लेकर अपने शक्तिमान में लीन होती है और उनकी सीता भी। प्रेम ही वह तत्त्व है जो भक्ति का अवलम्ब है और भक्ति से ही अद्वैतता की प्राप्ति होती है। इस तरह, वैदेही-वनवास की सीता और प्रियप्रवास की राधा ब्रह्म को विविध रूप भासमाना एक ही शक्ति हैं।

१. रा० च० मा०—अयोध्याकाण्ड—पृ० २५४
२. वैदेही-बनवास —३।१५

# मैथिली शरण गुप्त की शक्ति-भावना

**व्यापक हिन्दू-भावना :**

आधुनिक युग के कवियों में गुप्तजी एकमात्र ऐसे कवि दृष्टिगत होते हैं जो मनसा, वाचा एवं कर्मणा वैष्णव हैं। पर वैष्णवता इनका कर्म और मर्म भले ही रहा हो, उन्होंने अपने युग की माँग पूरी की है। अर्थात्, प्राचीनता के साथ नवीनता का संयोग—यह गुप्तजी की निजी कला है। इस प्रकार का कवि-कर्म बड़ा ही कठिन होता है क्योंकि एक ओर परम्परागत बद्धमूल संस्कार और दूसरी ओर बुद्धि की कसौटी पर कसी गयी नवीन विचारधारा का निर्वाह किए रखने में प्रमाद हो जाने का भय होता है। गुप्तजी ने नवीनता का परिधान तो दिया है पर आस्था बोलती है। वैष्णव होकर वे शैवों के विरोधी नहीं और राम-कृष्ण में कोई अन्तर नहीं मानते। यहाँ तक कि उन्होंने शक्ति के उपासकों के लिए दुर्गा-सप्तशती का सार 'शक्ति' नामक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया है। इस प्रकार, गुप्तजी एक भारतीय हिन्दू के सारे संस्कारों से युक्त वैष्णव के रूप में मिलते हैं। परम्परा उनकी वही है जो गोस्वामी तुलसीदास से होती अद्यावधि आयी है और 'पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते, मानहिं सबहिं राम के नाते' के आधार पर आपकी भावना में व्यापक हिन्दू-भावना का स्वर बोलता है। इस व्यापक हिन्दू-भावना में इष्टदेव जो हों, पर सभी देवता पूज्य हैं।

**सरस्वती-तत्त्व :**

साकेत के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में ही आपने कवियों की आराध्या वीणा-वादिनी की स्तुति की है। वीणावादिनी का स्वरूप यहाँ वर्णित नहीं हुआ है। कवि केवल भक्ति का आकांक्षी है जिससे साकेत नामक ग्रन्थ की रचना करने में सफलता प्राप्त हो।

> बैठ आ मानसमराल सनाथ हो
> भार-वाही कण्ठ केकी साथ हो ॥[1]

मराल और केकी सरस्वती के वाहन माने गये हैं। कवि ने केवल वाहनों का उल्लेख कर दिया है। सरस्वती का हंस निश्वास-प्रश्वास का आवागमन 'हंसः' माना जाता है जिसके द्वारा चिद्रूपिणी सरस्वती क्रिया सम्पादन करती रहती हैं। यह मयूर शाक्तों की सहस्रारगत कुण्डलिनी है। मयूर धर्म का प्रतीक माना गया है

१. साकेत—पृष्ठ ११

जो काल से भी प्रबल है और कालरूपी सर्प का भक्षण करता रहता है। इसके अतिरिक्त वाग्देवता या सरस्वती को आध्यात्मिक पक्ष में निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय रूप माना गया है। गति प्रदान करनेवाली शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी की पूज्या हैं और इसका उज्ज्वल वर्ण ज्योतिर्मय ब्रह्म का प्रतीक है। डा० जनार्दन मिश्र के अनुसार सरस्वती आध्यात्मिक सिद्धि के लिए सभी धर्मावलम्बियों की उपासना का अवलम्ब बनी हैं।[1]

सरस्वती के स्तवन के पहले ही गुप्तजी गणेश की स्तुति करते है। यहाँ गणेश की क्रीड़ा का उल्लेख है, रूप-वर्णन नहीं। शिव-परिवार में गणेश की क्रीड़ा कार्तिकेय के साथ हो रही हैं और कार्तिकेय का अभियोग वर्णित है।

### गणेश-तत्त्व :

गणेश को प्रणव का प्रतीक माना जाता है। ॐकारस्वरूप में सूंड नाद का एवं मोदक विन्दु का प्रतीक है। मोदक असंख्य जीव हैं जो इनके आकाशरूपी उदर में निवास करते हैं। सूर्य, अग्नि एवं चन्द्रमा इनके तीन नेत्र हैं। विघ्न के नाशक के रूप में गणेश का महत्त्व है।

गणेश एवं सरस्वती की वन्दना वैष्णवों के ऊपर शाक्त-तंत्रों का प्रभाव ही माना जाना चाहिए। वैसे स्मार्त अन्य देवी-देवताओं की भी आराधना करते हैं और इसी परम्परा में गुप्तजी ने ऐसा किया भी है।

### गिरिजा हैमवती :

इनके अतिरिक्त गुप्तजी ने साकेत के दशम सर्ग में उर्मिला के मुख से गिरिजा-पूजन का उल्लेख किया है। रामचरितमानस की कथा में सीता द्वारा गिरिजा-पूजन का उल्लेख है, किन्तु गुप्तजी ने गिरिजा हीं उन्हें गिरिजा हैमवती कहा है।

**मजि मन्दिर में महासती, गिरजा हैमवती विराजती ॥**[2]

हैमवती गिरिजा अथवा हैमवती उमा गुप्तजी की नवीन कल्पना नहीं। केनेपनिषद् में हैमवती उमा का प्रसंग आया है जब वह इन्द्र के समक्ष ब्रह्म की शक्ति और महिमा प्रकट करती है। यह देवी दार्शनिक रूप में ब्रह्मविद्या का स्वरूप मानी जाती है। यही ब्रह्मज्योतिरूपिणी आदि शक्ति है।[3]

### अम्बिका-शक्ति :

इसके अतिरिक्त एक अन्य देवी शुंभ-निशुंभमर्दिनी का भी गुप्तजी ने

१. भारतीय प्रतीकविद्या—द्रष्टव्य, सरस्वती प्रकरण।
२ साकेत—पृ० २५३।
३. भारतेर शक्ति साधना ओ शाक्त साहित्य—पृ० ३५



उल्लेख किया है—

**जब शुम्भ-निशुम्भमर्दिनी बनती कामकला कपर्दिनी**
**करता तब चित् बाल सा जन-धात्री-स्तन-पान-लालसा**[1]

यह प्रसंग गुप्तजी ने मार्कण्डेयपुराणोक्त श्री दुर्गासप्तशती से लिया है जिसमें भगवती अम्बिका शुंभ-निशुंभ का बध करती है। भगवती अम्बिका ही काली-रूप में मुण्डों की माला धारण किये असुरों का विनाश करती हैं। काली का जो रूप मूर्ति-कला में दृष्टिगत होता है उसका दार्शनिक आधार है। काली का वर्ण काला है। वह छिन्नकेशी, बावन मुण्डों की माला धारण कर करवालधारिणी भगवान शिव के शरीर पर चरण रखे दिखाई देती हैं। भगवती का यही रूप कामकला का रूप है जिसका उल्लेख करने में गुप्तजी नहीं चूके है।

गुप्तजी शक्ति के विभिन्न स्वरूपों की एकता का उल्लेख करते दिखाई देते हैं। शुंभ-निशुंभमर्दिनी एवं कालिका में कोई अन्तर नहीं। वही एकमात्र शक्ति है। वही सृष्टि का मूल कारण है। वही ब्रह्मविद्या के दस रूपों में प्रथम रूप है। इसलिए इन्हें प्रथमा और आद्याशक्ति कहा जाता है। यही शक्ति सृष्टि—के इच्छा-काल में कामकला रूप मे शिव प्रेत (निष्क्रिय ब्रह्म अर्थात् अपने ही स्थिर रूप) पर विराजमान रहती हैं।

### शक्ति की आन्तरिक एकता ;

गुप्तजी ने न केवल इन देवियों का उल्लेखमात्र ही किया है वरन् वे इन देवियों के आध्यात्मिक रूपों से परिचित-से लगते हैं। सरस्वती के प्रकरण में वाहन प्रतीकों का उल्लेख और काली की कामकला की चर्चा से यह लगता है कि कवि को शक्ति की अनेकता में एकता का ज्ञान है। वही मातृशक्ति साकेत में सीता, द्वापर में राधा, यशोधरा में यशोधरा बनकर प्रकट होती है पर कवि गुप्तजी काव्य की विविध कथाओं में भी इनकी मूलभूत एकता को स्वीकारते दिखाई देते हैं।

### सीता-शक्ति :

साकेत की सीता मानवी ही नहीं है। आधुनिक युग की परिधि से उनकी विवृति मानवी आधार लेकर भले ही प्रकट हुई हो, पर वह आद्याशक्ति ही है। वे विदेह की कन्या होने के कारण विदेहिनी नहीं, पर उनका कोई शरीर नहीं, इसलिए विदेहिनी हैं। वे अन्तर्भूत शक्ति के रूप में कथित हैं, इसीलिए विदेहिनी हैं।[2] यह अन्तर्भूता शक्ति मात्र एक पिण्ड में निवास करनेवाली ही

१. साकेत —पृ० २५४
२ साकेत —पृ० १०८

नहीं, समस्त विश्व के पिण्ड में वर्तमान है। इसी भाव को गुप्तजी ने द्वापर में राधा-शक्ति के विषय में कहा है कि राधा एक ही नहीं है, राधा तो ब्रज की प्रत्येक गोपिका है।[१] राधा यहाँ शक्ति के रूप में ही कथित है जो अपने श्रीकृष्ण की आह्लादिका है। इसीलिए इस शक्ति के प्राकृत या लीला-स्वरूप में उमा, रमा, ब्रह्माणी सभी समाहित लगती हैं। साकेत में उर्मिला के मुख से इस तथ्य को गुप्तजी ने कहलवाया है। जब खेल खेल ही में सीता शिव का धनुष उठा लेती हैं—

**दल विस्मय से अवाक् था, उनके हाथ उठा पिनाक था।**
**उस काल गिरा, उमा, रमा, उनमें दीख पड़ीं सभी समा॥**[२]

फिर तो इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए राम को भी साधना करनी पड़ती है और भवरूपी चाप को तोड़ना पड़ता है। मात्र शारीरिक बल से यह चाप नहीं टूट सकता। इसके लिए मन की गाँठ भी खोलनी पड़ती है। भगवान शिव का धनुष भ्रूमध्यस्थित आज्ञा-चक्र का प्रतीक-सा लगता है। साकेत के दशम सर्ग में गुप्तजी की उक्ति है—

**कहता भव-चाप आइये, मुझ-सा निश्चल चित लाइये**
**तन बल का ही न तौलिए, मन की भी वह गाँठ खोलिए॥**[३]

संभवतः इसीलिए गुप्तजी सीता को अलखज्योति के समान सम्बोधित करते दिखाई देते हैं। शक्ति का रूप तो वस्तुतः ज्योतिर्मय ही है।

**यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी।**
**योगी के आगे अलख ज्योति ज्यों जागी॥**[४]

यहाँ तक ही नहीं, वरन्, सीता का चित्रकूट में गायन राम को प्राकृतिक स्वर के रूप में नहीं वरन् अनाहत स्वर के रूप में लगता है—

**थे समाधिस्थ-से राम अनाहत सुनते॥**[५]

गुप्तजी की सीता इसीलिए यद्यपि कथा-क्रम में मानवी-सी प्रतीत होती हैं, फिर भी उनका शक्तितत्त्व हर कहीं परिलक्षित होता है। गुप्तजी ने सीता के चित्रण में स्थान-स्थान पर उन्हें माया के समान, मुक्ति के समान तथा श्रद्धा के रूप में

---

१. द्वापर—पृ० १७४
२. साकेत—पृ० २५४
३. ,, —,, २५८
४. ,, —,, १५६
५. ,, —,, १६१



वर्णित किया है। सीता-शक्ति मुक्ति की युक्ति है और मुक्ति भगवान राम की अनुचरी बनी रहती है। यह मुक्ति भी भगवती सीता की ही शक्ति है और वह स्वयं सीता है—

**भव की यह भेंट मुक्ति लो, वह सीता, वह मुक्ति-युक्ति दो।**
**(पृ० २५८)**

**जा खड़ी हुई पति के पीछे, ज्यों मुक्ति महायति के पीछे।**
**(पृ० १२२)**

## सीता—महामाया :

सीता के लिए विदेहराज जनक भी 'माया' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह सांसारिक माया नहीं। सीता स्वयं ही जगत् का कारणस्वरूप महामाया है—

**निज मानस-मग्न मौन में, श्रुत हूँ सन्तत आत्मलीन मैं**
**पर प्राप्त मुझे महाद्भुता, वह माया बन मैथिली सुता॥**[१]

गुप्तजी इस भाव को अष्टम सर्ग में और भी अधिक स्पष्ट करते दिखाई देते हैं। सीता माया-शक्ति तो हैं पर वे श्रीराम की ही माया-शक्ति हैं। वे अपने शक्तिमान की शक्ति हैं तथा उनकी प्रणयप्राणा हैं—

**उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को**
**प्रणयप्राणा को और कान्त काया को॥**[२]

## सीता—श्रद्धा :

पुनः सीता श्रद्धा के समान हैं। गोस्वामीजी ने रामायण के मंगलाचरण में ही श्रद्धा का रूप स्पष्ट करते हुए कहा कि श्रद्धा और विश्वास के बिना सिद्ध भी अपने अन्तरस्थित ब्रह्म का साक्षात् नहीं कर सकते। गुप्तजी भी सीता-शक्ति को श्रद्धा के रूप में कहते हुए दिखाई देते हैं। राम सद्धर्म हैं और श्रद्धा सीता हैं तथा परिजन विश्वास के सदृश हैं। हृदय में विश्वास रखकर ही श्रद्धा के सहारे सद्धर्मरूपी परमतत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है—

**यह कह सीता सह नदी-तीर प्रभु आये,**
**श्रद्धा-समेत सद्धर्म समान सुहाये॥**[३]

---

१. साकेत—पृ० २५५
२. ,, —,, १५६
३. ,, —,, १७५

अभेदत्व :

गुप्तजी के साकेन की सीता श्रद्धा भी है, माया भी और वह मुक्ति भी
है, पर वह कहीं भी स्वतंत्रा नहीं। स्वतंत्रा से तात्पर्य यह है कि शक्ति अपने-आप-
में स्वतंत्र नहीं, वह किसी शक्तिमान की ही होगी। सीता भी इसी प्रकार अपने
शक्तिमान राम की ही शक्ति है। यहाँ राम और सीता का भेद केवल नाम का
है। उनका सम्बन्ध मेघ और बिजली का है। दोनों दो तत्त्व तो हैं, पर मेघमाला
से ही विजली उत्पन्न होती है—

**बैठी है सीता सदा राम के भीतर**
**जैसे विद्युद्द्युति धनश्याम के भीतर ॥**[1]

यह शक्ति एक ओर तो विश्व का निर्माण करनेवाली है, दूसरी ओर इसने
जिस प्रकार असुरों का नाश किया था, उसी प्रकार पापपुंज पर बिजली के
सदृश टूट पड़नेवाली बिजली है—

**तो बरसौं, सरसे रहै न भूमि जली-सी**
**मैं पापपुंज पर टूट पड़ूँ बिजली-सी ॥**[2]

और, आगे चलकर गुप्तजी मातृ-शक्ति की महत्ता बखान करते-करते शक्ति
को ही साधन एवं शक्तिमान का चरम फल के रूप में वर्णित करते दिखाई देते हैं।
शक्ति ही वास्तविक सिद्धि है। सिद्धि प्राप्त हो जाने पर फल तो हस्तामलक
हो जाता है। इसी से गुप्तजी की दृष्टि में सीता ही सिद्धि हैं। उर्मिला इसी भावना
को द्वादश सर्ग में व्यक्त करती है—

**हैं निज पार्थिव सिद्धिरूपिणी सीता रानी**
**और दिव्य-फल-रूप राम राजा बल-दानी ॥**[3]

राम और सीता के सम्बन्ध को कवि अद्वैत सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करता
है। और, यह सम्बन्ध परमऐक्य सम्बन्ध है। सीता इसी भावना को साकेत के
चतुर्थ सर्ग में स्पष्ट करती दिखाई देती हैं। धरातल तो दाम्पत्य का ही है, पर
वह काव्य की शैली की देन है। जो अविच्छिन्न सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान का
है वह सहज ही इन पंक्तियों में व्यक्त हो रहा है—

**समझो मुझको भिन्न न हा! करो ऐक्य उच्छिन्न न हा।**

दिव्य दाम्पत्य :

दूसरा पक्ष दाम्पत्य-लीला है जिसको गुप्तजी ने वर्णित किया है। शक्ति

---

१. साकेत—पृ० १६३
२. ,, —,, १६६
३. ,, —,, ३१४



और शक्तिमान की क्रीड़ा ही उनका लीला-विलास है जो अवतारी रूप में वैष्णव
भावना में और दार्शनिक रूप में शाक्त-भावना में निरन्तर होता रहता है।

दाम्पत्य-लीला के वर्णन के लिए गुप्तजी को अवकाश नहीं रहा है। साकेत
में कवि का इष्ट था उर्मिला का उद्धार और प्रसंगरूप में श्रीराम का चरितगान
करना आवश्यक था, इसलिए राम के आख्यान में संक्षिप्तता से काम लेना पड़ा।
अवध में उर्मिला और लक्ष्मण के मधुर दाम्पत्य का वर्णन करने में ही कवि लगा
रह गया और घटनाओं की तीव्रता में सीताराम की प्रेम-क्रीड़ा का सुयोग देना
उन्हें इष्ट नहीं था। इसका अवसर वन-बिहार में ही मिलता है। गुप्तजी ने
भगवान राम और सीता की दाम्पत्य-लीला का वर्णन अयोध्या को छोड़कर चित्रकूट
में ही किया है।

यहाँ एक वात विचारणीय है कि रसिक-भक्त दिव्य और प्राकृत दोनों
प्रकार की लीलाओं में राम और सीता का संयोग नित्य मानते हैं। उनके अनुसार
लोकप्रसिद्ध रामचरित में सीताहरण के पश्चात् दम्पति-विच्छेद जो दिखलाया
गया है वह भगवान राम की लोकलीला का एक रहस्यमय तथ्य है। वन-यात्रा
में राम लक्ष्मण और सीता सहित चित्रकूट से आगे नहीं गये। बे स्वयं ब्रह्म-रूप
में अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ चित्रकूट में विहार करते रहे। चित्रकूट से
आगे लक्ष्मी, नारायण और शेष उनके ही वेष में गये और परात्पर ब्रह्मा की आज्ञा
से उन्होंने रावण का वध कर सीतारूपी लक्ष्मी का उद्धार किया। चित्रकूट में
भगवान राम का यह विलास तब तक चलता रहा जब तक विभीषण को राज्य
देकर नारायण, लक्ष्मी और शेष पुनः चित्रकूट नहीं लौट आये। कृपा निवासजी
ने अपनी रामायण में यह कथा विस्तारपूर्वक लिखी है।[1] सम्भवतः गुप्तजी को
भी यही इष्ट था जिसका संकेत चतुर्थ सर्ग में दिया गया है। सीता इसका
संकेत करती दिखाई देती हैं—

**सीता ने सोचा मन में, स्वर्ग बनेगा अब बन में।**
**धर्मचारिणी हूँगी मैं, वन बिहारिणी हूँगी मैं ॥**[2]

रामभक्त चित्रकूट को इसीलिए महत्त्व देते हैं। कामदगिरि अभी भी
साधकों के लिए सिद्ध स्थल माना जाता है। उर्मिला भी नवम सर्ग में चित्रकूट
का स्तवन करती, मात्र इसीलिए नहीं दिखाई देती कि वहाँ लक्ष्मण हैं वरन् गुप्त-
जी की भावना ने उर्मिला के माध्यम से अपने इष्टदेव की विहारस्थली का

---

१. द्रष्टव्य : रामभक्ति में रसिकसम्प्रदाय : अ० प्र० सिं०—पृ० २९७
२. साकेत—पृ० ७७

वर्णन किया है।—

> विविध राग-रंजित, अभिराम
> तू विरागसाधन, वन-धाम
> कामद होकर आप अकाम
> नमस्कार तुझको शत बार
> ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार।[1]

पुनः अष्टम सर्ग के पूर्वार्द्ध में कवि ने विहार-स्थली के वर्णन के प्रारम्भ में ही जगज्जननी के रूप एवं उल्लास का सात्त्विक वर्णन किया है। इस वर्णन में सीता का मातृरूप ही व्यक्त हुआ है—

> जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन मनभावन॥[2]

सीता के अंग-अंग में दिव्यता है। अंगों की दिव्यता को कविने दुकूल की दिव्यता के द्वारा कथित किया है।

> पहने थीं दिव्य दुकूल अहा वे ऐसे,
> उत्पन्न हुआ हो देह के संग ही जैसे॥[3]

तक्षक के समान केशराशि, अम्बुज-सदृश धर्ममय मुखमण्डल, कमलनाल-सी भुजाएँ, नखज्योति से दीप्त ऊँगलियाँ, अरुण एड़ियों से सुहास इत्यादि लौकिक उपमान होते हुए भी दिव्य भाव का ही सर्जन करते हैं। सीता के अनाहत स्वर सरीखे गीत का श्रवण कर वन प्रान्तर की कलियाँ खिलने लगती हैं तथा खग-मृग अपनी सुधबुध भूल जाते हैं।

गुप्तजी के प्रस्तुत वर्णन में रागात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता है। यहाँ दाम्पत्य बौद्धिकता के परिवेश में घिरा लगता है। पर राम और सीता क्रमशः ब्रह्म और उनकी शक्ति ही हैं। राम का संकेत अद्वैत स्थिति की ओर है—

> .........कहीं न कुछ भी होता
> निर्द्वन्द्व भाव हो पड़ा शून्य में सोता॥[4]

यह निर्द्वन्द्विता ही हो अद्वय स्थिति है जहाँ शक्ति कूटस्थशक्तिमान में अचल

---

१. साकेत—पृ० १९९
२. „ —पृ० १५६
३. „ —पृ० १५६
४. साकेत—पृ० १६५



रहती है। सीता के प्रश्न पर-'हम तुम तो होते कान्त' का राम उत्तर देते हैं—
न थे कब कान्ते। हैं और रहेंगे नित्य विविध वृत्तान्ते॥[1]

यहाँ उनका अभिन्नाभाव सम्बन्ध है जो राम के द्वारा गुप्तजी स्पष्ट करते दिखाई देते हैं।

## कामकला-विलास :

शक्ति और शक्तिमान की लीला से ही यह समस्त विश्व या प्रपंच उद्भासित हो रहा है। यह लीला उनका अहर्निश विलास है, यही महारास है अथवा शाक्तों की कामकला है। राम कहते हैं—'हमको लेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीड़ा—आनन्दमयी नित नयी प्रसव की पीड़ा॥[2]

सृष्टि की उत्पत्ति को गुप्तजी ने सुन्दर रूप से व्यक्त कर उसे शक्ति और शक्तिमान के लीला-विहार का प्रतिफल माना है।

## महारास :

द्वापर में यही भाव महारास के रूप में चित्रित किया गया है। कृष्ण के अंक में राधा लिपटी हुई हैं। मनोमुग्धकारिणी रजनी और प्रवहमान त्रिविध मलय, ज्योत्स्ना रात्रि, कालिन्दी का तट है।[3] ग्वालबाल की उक्ति इस रास के रूप एवं प्रभाव को व्यक्त करती है—

> निर्मल नीलाकाश ही समय
> चमके चन्द्र-विकास में
> दमके कल-जल, गमके थल-थल
> कोमल कुसुम सुवास में
> लय से बंधा अराल-काल भी
> बे रासोल्लास में॥[4]

महारास के प्रभाव में और उसके उल्लास में कुटिल काल की गति भी समाप्त हो जाती है क्योंकि काल तो स्वयं शक्ति एवं शक्तिमान के अधीन है।

महारास के इस पल में ब्रजभूमि में तीनों लोकों का सुख रजकण में लोटता दिखाई देता है और महारास के आनन्द के रस की रिमझिम में राधा-कृष्ण का

---

१. साकेत—पृ० १६५
२. साकेत—पृ० १६५
३. द्वापर—पृ० १४
४ द्वापर—पृ० ७४

विलास चलता रहता है—

झन झम रस की रिमझिम में
दोनों हिले-मिले थे ।।[1]

### योगी हनुमान :

गुप्तजी ने आधुनिकता की माँग पूरी करने के निमित्त हनुमान को भी योगी के रूप में चित्रित किया है। योगी हनुमान त्रिकूट (लंका) पर सहज ही पहुँचते दिखाई देते हैं। यह त्रिकूटिनी लंका भी यन्त्र-तन्त्रों की सिद्धि से युक्त माया के समान नगरी है।[2]

साकेत में कवि ने राम को ईश्वर की अपेक्षा मानव के समीप रखने की चेष्टा तो की, पर उसके प्रतिकूल राम ब्रह्म ही रहते हैं और सीता जगज्जननी शक्ति के ही रूप में दिखाई देती हैं। राम और सीता का सम्बन्ध शक्तिमान और शक्ति के ही रूप में वर्णित हुआ है। द्वापर में भी कवि इस भाव को व्यक्त करते दीखते हैं, यद्यपि द्वापर की नाटकीय स्वगत शैली में इसके लिए अवकाश था, फिर भी कवि इस भाव का खुलकर वर्णन नहीं कर पाये हैं।

### यशोधरा में शक्ति-तत्त्व :

यशोधरा में हम कवि को एक नये रूप में शक्ति और शक्तिमान का सम्बन्ध निरूपित करते हुए पाते हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने राम, विष्णु और अमिताभ को एक ही माना है और उनसे भक्ति की याचना करते दिखाई देते हैं। उन्होंने अमिताभ को भी विष्णू का अवतार ही माना है।[3] गुप्तजी के अवतार, यशोधरा के निमित्त अन्त में मिलते हैं। भक्त की टेक रह जाती है और भगवान भी भक्त की मर्यादा रखते हैं। इसके अतिरिक्त यशोधरा और गौतम का सम्बन्ध है। यशोधरा ही वह साधक है जो स्वयमेव शक्ति है। राहुल का अर्थ ही है—जो ज्ञान को ग्रसने के निमित्त राहु के समान हो। राहुल गौतम के लिए ही नहीं यशोधरा के मार्ग की भी बाधा है। यशोधरा इसीलिए राहुल को भी इष्टदेव को समर्पित कर देती है। यशोधरा वियोगावस्था में साधना के सोपान पर अभिवृद्धि पाती हुई अपने शक्तिमान के स्वरूप में स्थित हो जाती है। राहुलरूपी विश्व भी साथ ही ब्रह्म में लीन हो जाता है।

यशोधरा की मिलनेच्छा और व्याकुलता नारी की व्याकुलता हैं। शक्ति नारी ही है और नारी के रूप में शक्ति ही मातृत्व का मूल मिटाकर शक्ति के शुद्ध

१. द्वापर—पृ० १८८
२. द्वापर— ,, २८६
३ यशोधरा — षष्ठावृत्ति—पृ० ११



स्वरूप में अपने कूटस्थ शक्तिमान में लीन हो जाना चाहती है।[1] यशोधरा इसी शक्ति का प्रतिरूप-सी ज्ञात होती है। यह अद्वयता तो सिद्ध सत्य और मिलनेच्छा में अहम् का परित्यागकर ही साधक शक्ति का स्वरूप धारण कर शिव-शक्ति संयोग में सफल होता है। यशोधरा में भी इस प्रकार सूक्ष्म रूप में शाक्त-भावना के संकेत मिल ही जाते हैं।

### 'शक्ति' में शक्ति-तत्त्व :

गुप्तजी के शक्ति नामक ग्रन्थ में शक्ति-भावना का पौराणिक स्वर गूंज रहा है, यद्यपि गुप्तजी ने नवीनता का इषत् संकेत भी कर डाला है। शक्ति की रचना दुर्गासप्तशती के आधार पर हुई है, पर वह अनुवाद नहीं है।

ग्रन्थ के प्राक्कथन में ही गुप्तजी ने देवी के सौंदर्य एवं तेजोमय रूप की वन्दना की —

तुम्हारी वह 'हिमाचल कृताश्रया'
असुर-मोहिनी मूर्त्ति सौन्दर्य इतना कि 'परं रूपं
बिभ्राणां सुमनोहरम्, और तेज इतना कि—

यो मां जयति सग्रामे, यो मे दर्पं व्यपोहति
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्य ति।[2]

गुप्तजी ने यहाँ पर दुर्गासप्तशती के पाँचवें अध्याय के १२०वें श्लोक को उद्धृत किया है। देवी का स्वरूप यहाँ तेजोदीप्त है। पुनः ग्रन्थ के आरम्भ में भगवती सीता की वन्दना की है। कवि की दृष्टि मे भगवती सीता भी हरि की ही शक्ति है। भगवती के अनेक रूपों में कोई अन्तर नहीं।[3]

साकेत की सीता भी असुरों के उच्छेद के निमित्त बिजली के समान उनका विनाश करने को कृतसंकल्प हैं।[4] शक्ति में भी शक्ति करका के समान असुरों का विनाश करती दृष्टिगत होती हैं।

शक्ति का उद्गम-स्थल शक्तिमान हैं। शक्ति यहाँ देवताओं की वन्दना के फलस्वरूप हरि की इच्छा से हरि के शरीर से तेजोमय रूप में निकलती है। साथ ही, सभी देवताओं के शरीर से उनकी शक्तियाँ मूर्त्तरूप में अवतीर्ण होती हैं। इन

१. यशोधरा—षष्ठावृत्ति—पृ० ११८
२. शक्ति —(१६२७)—पृष्ठ ३
३. ,, — ,, ७
४. साकेत — ,, १६६

शक्तियों का पुंजीभूत रूप है।

**निकला तब उनके तन् से तेज एक अकलंक**
**ब्रह्म, रुद्र, इन्द्रादि सुरों के**
**तन् से भी तत्काल—**
**निकले ज्योतिः-पुंज और सब**
**—मिले उसी में हाल।**[1]

## पौराणिकता एवं नवीनता का संयोग :

गुप्तजी ने यहाँ पौराणिकता एवं नवीनता का अपूर्व संयोग कर दिया है।

**संघ-शक्ति ही कलि-दैत्यों का मेटेगी आतंक।**[2]

यह संघ-शक्ति विश्वरूपा शक्ति है जो समस्त प्राणियों में निवास करने-वाली है। जब आसुरी प्रवृत्तियों का संघटन होता है तो उनके विनाशार्थ ये देवी शक्तियाँ आप-से-आप प्रकट होती हैं। अगर ऐसा न होता तो 'सत्यमेव जयते' कहाँ होता। यही संघ-शक्ति गुप्तजी के शब्दों में महाशक्ति है—

**सबकी एक प्रदीप्ति-पूर्ति वह**
**सबकी एक—स्फूर्ति**
**सबकी वह सम्मिलित शक्ति थी**
**महाशक्ति की मूर्ति।**[3]

महाशक्ति का द्विविध रूप इस विश्व में भासित होता रहता है। वह भुक्ति एवं मुक्ति दोनों प्रदान करनेवाली है। भोग एवं मुक्ति दोनों से तात्पर्य सांसारिकता एवं आध्यात्मिकता से है। सांसारिक शक्ति ही सद्व्यवस्था का सर्जन करनेवाली है। यही संसार और समाज की सदास्था हैं। मुक्ति के लिए ऐसा ज्ञान होना कि वह शक्ति हमारी अन्तर्भूता शक्ति है साधक को मुक्तावस्था की स्थिति में ला देती है और अपनी शक्ति का शिव से संयोग हो जाने पर व्यक्ति परमानन्द की प्राप्ति करने में सफल होता है। शक्ति का यह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। चूँकि भक्ति की सुविधा के लिए रूप के आधार की आवश्यकता होती है और इसीलिए देवी के रूप का शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

१. शक्ति—पृ० ११
२. शक्ति—पृ० ११
३. शक्ति—पृ० ११



गुप्तजी ने भी देवी-शक्ति के प्रकट होने पर उनके रूप का वर्णन किया है—

**देवी में दर्शित था सबका तेज : पूर्ण प्रताप,**
**चरणों में विधि, हाथों में हरि, मुख में हर का आप।**
**काल रूपमय-विशाल वह उनका केशथा-कलाप**
**अंगुलि और नसों में थी वसु-विभाकरों की छाप।**

**मां के पीत पयोधर युग थे**
**बून्द्र-सुधा परिपूर्ण,**
**और अग्नि तेजोमय उनके**
**दृग थे विषम विघूर्ण।**[1]

## देवी की दिव्यता :

सम्पूर्ण देवताओं के शरीर से प्रकट वह तेज नारीरूप में परिणत होकर प्रकाश से तीनों लोकों में परिव्याप्त जान पड़ा। भगवान शंकर के तेज से देवी का मुख, यमराज के तेज से सिर के बाल, विष्णु के तेज से भुजाएँ, चन्द्रमा के तेज से दनों स्तन तथा इन्द्र के तेज से कटिप्रदेश का निर्माण हुआ। वरुण के तेज से जंघा और पिण्डली तथा पृथ्वी के तेज से नितम्ब-भाग प्रकट हुआ। ब्रह्मा के तेज से दोनों चरण और सूर्य के तेज से चरणों की ऊँगलिया। वसुओं के तेज से हाथों की उँगलियाँ और कुबेर के तेज से नासिका प्रकट हुई। इस देवी के दाँत प्रजापति के तेज से और तीनों नेत्र अग्नि के तेज से प्रकट हुए थे। उनकी भौंहें संध्या के और कान वायु के तेज से उत्पन्न हुए थे।[2]

देवी के रूप-वर्णन में गुप्तजी ने दुर्गासप्तशती का ही आधार लिया है। अपनी ओर से उन्होंने कुछ भी बढ़ाने-घटाने की चेष्टा नहीं की है। उपर्युक्त सन्दर्भों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है।

देवी के प्राकट्य के विषय में इन्द्र पुरदेवी से कहते है कि देवी स्वयं पापघट को फोड़कर सोलहों कलाओं से प्रकट हुई हैं और यह पुर ही उनका क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ है।[3] देवी के रूप में गुप्तजी ने सुन्दर योजना की है—

**कैसा सुन्दर, कैसा भीषण, था देवी का रूप।**
**इधर अमृत की चारु चन्द्रिका, उधर प्रलय की धूप।**

१. शक्ति—पृ० १२
२ दुर्गासप्तशती—द्वितीय अध्याय—१४-१८
३. शक्ति—पृष्ठ ३२

सुन्दरता और तेज का, अमृत और प्रलय का यह अद्‌भुत समन्वय है।[1] वही महामाया की माया है।[2] यह लीलामयी इसी प्रकार निरन्तर ही विश्व में क्रीड़ा करती रहती है। इसी विश्व में हमें महामाया की अनुकम्पा से अमृत की प्राप्ति होती हैं, साधक अमृततत्त्व को प्राप्त करता है और असुर विनाश का अधिकारी बनता है।

**समापन :**

गुप्तजी की वैष्णवता में शक्ति-तत्त्व का प्रभाव उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है। गुप्तजी ने शक्ति के विविध रूपों में एक ही रूप के दर्शन किये हैं। इस दृष्टि से उनकी सीता, राधा, यशोधरा एवं पार्वती में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उस अनन्त शक्तिमान की ये विविध शक्तियाँ हैं जो अनन्त रूपों में लीला करती दृष्टिगत होती हैं।

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ऊर्वशी में भी इसी रूप का वर्णन है।
२. शक्ति—पृष्ठ १७

# जयशंकर प्रसाद की शक्ति-भावना

**प्रसाद और कामयनी-तत्त्व :**

प्रसादजी शिव-भक्त थे और उन्हें शैवागम का अच्छा अध्ययन था। विद्वानों ने प्रसाद की कामायनी पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन एवं शैवागम का प्रभाव स्वीकार किया है। इसके साथ ही विद्वानों की यह भी राय रही है कि कामायनी में मानव-मन के प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। ये सभी विचार सही हो सकते हैं। विद्वानों की कृतियों में सदैव ही 'नूतनं नूतनं पदे पदे' का भाव होता है और प्रसादजी की कामायनी भी ऐसा ही एक ग्रन्थ है।

प्रसादजी कामायनी के पात्र वैदिक नामधारी हैं। कथा में प्रतीकात्मकता है--ऐसा प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं। प्रतीकात्मकता के प्रसंग में प्रसादजी ने ग्रन्थ की भूमिका में ही कहा है कि मनु, श्रद्धा, इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।[1]

संकेत और अभिप्रेत में अन्तर होता है। कामायनी के संकेत चाहे जितने भी हों, अभिप्रेत मात्र एक ही होगा और उस अभिप्रेत के साथ कवि के विचार, दर्शन, ज्ञान एवं निष्ठा आप-से-आप संयुक्त हो जाती है। प्रसादजी की कामायनी में त्रिपुर की चर्चा है। शिव-शक्ति के संयोग पर कथा की समाप्ति होती है। अतः यह सहज ही विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने शिवत्व को चरमलक्ष्य मानकर उनके साथ शक्ति-तत्त्व या श्रद्धात्व को संयुक्त करने की चेष्टा की। इसके लिए उन्होंने एक कथा का आधार लिया। कथा सांगोपांग रूप में इस तथ्य की पुष्टि न भी करे, पर चरमलक्ष्य ही कवि के मन्तव्य का निर्धारण करता है।

**मनु :**

प्रसादजी ने 'मनु' को प्रतीक-रूप में लिया है। यह मनु मानव हो सकता है, मात्र एक नायक हो सकता है और यह भी हो सकता है कि वे स्वयं प्रसादजी हों। कवि अपनी अभिव्यक्ति में कहीं स्वयमेव अवतीर्ण हो जाता है और प्रसादजी का मनु एक ऐसा ही पात्र है जिसे स्थान-स्थान पर तपस्वी के रूप में संकेतित किया गया है। यह तपस्वी पंचाग्नि का सेवन करनेवाला ही तपस्वी है—ऐसा नहीं। वह जीवन की द्विधा एवं चिन्ता से प्रताड़ित अपनी राह स्वयं बनाता हुआ, ऊपर संकट झेलते चले जानेवाला तपस्वी है। संसृति तो जलनिधि के तीर पर तरंगों से फेंकी

१. कामायनी—पृष्ठ ८।

हुई एक मणि है वह तपस्वी और साधक है—यह बार-बार निर्देशित किया जाता है।

**तरुण तपस्वी-सा वह बैठा**
**साधन करता सुर-श्मशान ।[१]**

श्मशान-साधक कोई कापालिक या सिद्ध ही हो सकता है, किन्तु उसकी शक्ति अभी उससे दूर है। वह एक उल्का के समान अपनी ही आँच में जल रहा है। उसकी बहुरूपिणी संगिनी 'चिन्ता की पहली रेखा' है।

**बुद्धि, मनीषा, मति आशा, चिन्ता**
**तेरे हैं कितने नाम ॥[२]**

**चेतना-शक्ति :**

यह बहुरूपिणी संगिनी ही वह चेतना-शक्ति है जो स्थूल जड़-इन्द्रियों को अनुप्राणित करनेवाली है। वही प्राणी के जीवन में सुख, दुख, प्रेम आदि अवस्थाओं, सारी क्रियाओं तथा भावनाओं का स्रोत है। इसे ही स्पन्दन कहा जाता है।[३]

यह स्पन्दन न केवल पिण्ड में होनेवाली सृष्टि का अपितु ब्रह्माण्ड में होनेवाली सृष्टि का भी स्रोत है। अतः सृष्टि का प्रथम बीज है। मनु के भीतर यह स्पन्दन होता है और उनकी जिज्ञासा बढ़ती है। इसी आत्मज्ञान के लिए मनु सचेष्ट हैं। मनु उस अनन्त रमणीय को जानने के लिए व्याकुल-से हो जाते हैं —

**हे अनन्त रमणीय कौन तुम**
**यह मैं कैसे कह सकता**
**कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो**
**भार-विचार न सह सकता ॥[४]**

**सौन्दर्य-शक्ति—त्रिपुर-सुन्दरी :**

सृष्टि में अनन्त रमणीयता भरी है और इस रमणीयतत्त्व की प्रेरिका एवं उत्पादिका शक्ति के प्रति मनु की सहज जिज्ञासा है। मनु इस सौन्दर्य-शक्ति से अभिभूत है। वह सौन्दर्य-शक्ति प्रकृति के कण-कण में विभासित है। मनु आवरण-मुक्त प्रकृति को देखने लगते हैं। प्रकृति की यह मनोहर एवं शान्त विभूति है जो

१. कामायनी—पृष्ठ ११
२. वही —पृ० १४
३. द्रष्टव्य—भा० प्र० वि०—पृ० ८
४. कामायनी - पृ० ३४



इनकी दृष्टि को बाँध लेती है। पर इस सौन्दर्य-द्रष्टा का चित्त अभी शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता है और एक अतीन्द्रिय स्वप्नलोक का मधुर रहस्य मन के पट पर झिलमिल करने लगता है। मनु की अनादि वासना जग उठती है—

**नव हो जगी अनादि वासना**
**मधुर प्राकृतिक भूख-समान**
**चिर-परिचित-सा चाह रहा था**
**द्वन्द्व सुखद करके अनुमान ॥[१]**

मनु भोगवादी परम्परा की विरासत में एक प्राणी है। वह सौन्दर्य की शक्ति के तत्त्व को समझ नहीं पाता और सौन्दर्य के सूक्ष्मतत्त्व से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाता। अचानक ही उसे श्रद्धा के दर्शन होते हैं। श्रद्धा और कोई नहीं वरन् प्रसादजी की दृष्टि में प्राकृतिक सौन्दर्य का ही मांसल चेतनास्वरूप है। वही सौन्दर्य की वास्तविक प्रतिमूर्ति है। अर्थात्, वह स्वयमेव सौन्दर्य-शक्ति है।

**नित्य-यौवन-छवि, से ही दीप्त**
**विश्व की करुण कामना मूर्ति**
**स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण**
**प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति ।[२]**

यह शक्ति नित्य यौवन की छवि से प्रकाशित है और इसके स्पर्श का आकर्षण जड़ तत्त्वों में भी चेतनता ला देनेवाला है। मनु के समक्ष यह पार्थिव सौन्दर्य अपने-आपमें बड़ा ही रहस्यमय लगता है। वे विचार करने लगते हैं कि सुन्दरता के इस परदे में क्या कोई अन्य धन है। क्या वही मनु का इप्सित है ? क्या वही उनके जीवन की अक्षय निधि है ?[३]

प्रसादजी की शब्दावलि में यह शक्ति ज्योत्स्ना-निर्झर है जिसपर आँखें नहीं ठहर पाती हैं।[४] यह सौन्दर्य-शक्ति रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विजयिनी' है जिसके समक्ष कामदेव भी प्रणत हो जाया करता है। यही चेतना का उज्ज्वल वरदान है—

**उज्ज्वल बरदान चेतना का**
**सौंदर्य्य जिसे सब कहते हैं,**
**जिसमें अनन्त अभिलाषा के**
**सपने सब जगते रहते हैं ।[५]**

१. कामायनी—पृ० ४३
२. कामायनी—पृ० ५५
३. वही —पृ० ७४
४. वही —पृ० ६४
५. वही —पृ० ११०

सौन्दर्य-शक्ति विश्वविमोहिनी शक्ति है। वह स्वयं महामाया है। वही त्रिपुर-सुन्दरी है। सौन्दर्य का यह भावात्मक स्वरूप साधना के द्वारा ही लभ्य है। इसमें कहीं भी वासना की गन्ध नहीं, क्योंकि इसमें दाहिका शक्ति नहीं। प्रसाद-जी ने लज्जा सर्ग में इसीलिए लज्जा को सौन्दर्य की धातृ, गौरव-महिमा तथा शालीनता सिखलानेवाली कहा है। लज्जा ही है जो सुन्दरता की रखवाली करनेवाली है।[1]

श्रद्धा उसी सौन्दर्य-शक्ति का प्रतीक है और मनु के जीवन में सहजभाव से यह सौन्दर्य-शक्ति आत्मसमर्पण कर देती है। सौन्दर्य के सहज सात्त्विक तत्त्व का ज्ञान न होने के कारण मनु आनन्द की खोज में तरह-तरह के अनुष्ठानों एवं यज्ञों से, सोम से तथा विलास आकुलि-जैसी आसुरी प्रवृत्तियों के प्रवाह में बहते चले जाते हैं। गंगा की धारा पास वह रही है पर उसमें मनु वारुणी की उत्तेजना ढूँढ़ते हैं। यही कारण है कि मनु दम एवं संयम की सारी बाधाओं का अतिक्रमण करना चाहते हैं। आनन्द की लीला यद्यपि समस्त विश्व में परिव्याप्त है किन्तु मनु उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाते।

आनन्द-शक्ति :

आनन्द-शक्ति सौन्दर्य-शक्ति से ही प्रादुर्भूत होती है। चेतना का उज्ज्वल वरदान सौन्दर्य ही महाचिति-सा समस्त विश्व में व्यक्त है। वही लीलामयी आनन्द का सर्जन कर रही है। विश्व, इसी चिति की सत्ता में अपनी आँखें खोलता है—

**कर रही लीलामय आनन्द—**
**महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,**
**विश्व का उन्मीलन अभिराम—**
**इसी में सब होते अनुरक्त।[2]**

यह नित्य संसार उसी चिति का (आनन्द-शक्ति) का स्वरूप है। वही शतशः स्वरूपों में भासित हो रही है। वह विरह और मिलन दोनों में सम्यक् रूप से नृत्य कर रही है—

**चिति का स्वरूप यह नित्य-जगत्,**
**वह रूप बदलता है शत-शत,**
**कण विरह-मिलन-मय नृत्य निरत,**
**उल्लासपूर्ण आनन्द सतत।[3]**

१. कामायनी—पृ० ११०-१११
२. कामायनी—पृ० ६१
३. वही —पृ० २५०



वह आनन्द-शक्ति इस जड़ विश्व के 'कर्म के भोग और भोग के कर्मों' में व्यक्त होती है। यही चेतन आनन्द शक्ति है।[1]

किन्तु यह आनन्द-शक्ति वह नहीं जिसमें धधक हो। भोग की चिन्ता आनन्द को परे ले जाती है। इस सुख की चिन्ता करनेवाले मनु के लिए अनन्त में दुख की रेखाएँ बनती जाती हैं। तृप्ति को ढूँढ़नेवाला मनु अपने शीतल प्राणों को थका लेता है।[2] इस मरीचिका में मनु भोगवादी होने लगता है—

**श्रद्धे यह नव संकल्प नहीं—**
**चलने का लघु जीवन अमोल,**
**मैं उसको निश्चय भोग चलूँ**
**जो सुख चलदल-सा रहा डोल॥[3]**

आनन्द-शक्ति को ढूँढ़ने में मनु एक मधुमय विश्व का सर्जन करना चाहता हैं जिसमें अनवरत सुख की लहरें उठती हों[4], किन्तु अनवरत भोग के पश्चात् भी मनु का अन्तर ज्वलनशील ही रहता है। मनु की यह विफलता इड़ा सर्ग के चौथे गीत में प्रकट हो उठी है। पावस रजनी के जुगनू के कणों को पकड़ने के क्रम में मनु प्रतिपल उन ज्योतिरिंगणों का विनाश करते चले जाते हैं पर फिर जो तृप्ति नहीं।[5] मनु अपनी धधकती हुई पिपासा से भरे इस आनन्द-शक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते और वे इड़ा के सम्पर्क में आते हैं। आनन्द-शक्ति को खोजने के क्रम में श्रद्धारूपिणी हृदय की वाणी को भूल वे बुद्धि के सहारे आनन्द के नये उत्सों की खोज करते हैं।

इड़ा-तत्त्व :

यह इड़ा अग्नि-ज्वाला के समान मनु के समक्ष उल्लास से जल रही है। मनु इस ज्वाला के समक्ष पतिंगे के समान लोभी बने फिर रहे हैं। इड़ा वह आसव है जिसको निरन्तर पीते रहने पर भी उनकी प्यास बनी रहती है—

**तुम आशामयि ! चिर आकर्षण,**
**तुम मादकता की अवनत धन**
**मनु के मस्तक की चिर-अतृप्ति**
**तुम उत्तेजित चंचला-शक्ति॥[6]**

१. कामायनी—पृष्ठ ६४
२. ,, —पृ० १४४
३. ,, —पृ० १५६
४. ,, —पृ० १५६
५. ,, —पृ० इड़ा गीत ४
६. कामायनी—पृष्ठ २४५

प्रसादजी ने इड़ा के रूप-वर्णन में[1] बुद्धि का मांसल चित्रण करने में बुद्धि-सम्बन्धी उपमानों का प्रयोग किया है। तर्क के समान उलझे, किन्तु मनोरम केश, अर्द्धचन्द्र की भाँति मोहक ललाट, राग-विरागरूपी कमल के समान दोनों नेत्र, कली के समान मुख एवं भ्रमर के समान बोली, ज्ञान-विज्ञान के पुंज के समान उरोज। उसके एक हाथ में कर्म-कलश और दूसरे हाथ में अभयता और निर्भीकता थी। त्रिवली, त्रिगुणात्मक थी और प्रकाशमय शुभ्र वस्त्रों से उसका सारा शरीर वेष्ठित था।

इड़ा का यह चित्र सांसारिक धरातल पर निर्मित हुआ है और उसमें मोहकता के साथ-साथ बुद्धिबल का भरोसा है। उसमें अतीन्द्रिय एवं अव्यक्त के प्रति उपेक्षा तथा अश्रद्धा है। वह प्रत्यक्ष में विश्वास रखनेवाली है, वह बुद्धि की क्रियात्मिका शक्ति है।

'श्रद्धावाएन्लभते ज्ञानम्'

आनन्द की एषणा में रत मनु तर्क एवं बुद्धि का आश्रय ग्रहण कर उसी के साथ व्यभिचार करने को उद्यत हो जाते है। सृष्टि की सारी श्रृंखला अस्त-व्यस्त हो जाती है और प्रकृति विद्रोह कर उठती है। यह प्रकृति व्यवस्था है, नियम है जिसे जनता के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है। आनन्द के भोग के परिणामस्वरूप मनु मूर्च्छित अवस्था में पड़े हैं।

मनु की यह विफलता उन सारे असफल साधकों की विफलता है जो ईषत् सिद्धि प्राप्त कर संसार में व्यभिचार का द्वार खोलने की चेष्टा करते हैं। परिणाम दोनों का एक ही होता है।

किन्तु कामायनी के कथानक में मनु पर फिर श्रद्धा की कृपा होती है। श्रद्धा मनु को ढूँढ़ती आती है। श्रद्धा साक्षात् रूप में मनु पर अनुग्रह करती है। इसे शक्तिपात के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। शक्तिपात होने पर साधक सहज ही अपने वास्तविक स्वरूप को जानने लगता है। साधना के क्रमबद्ध सोपान पर वह श्रद्धा की सहायता से चढ़ने लगता है। लक्ष्य है वह लोक जहाँ अद्वय भाव से शिव-शक्ति विराजमान रहती है।

### श्रद्धा-तत्त्व :

शक्ति का वास्तविक उत्स हमारे भीतर है। वह शक्ति विविध रूपों में इस सृष्टि में विलास कर रही है। वही सौन्दर्य-शक्ति बनकर आधार देती है और आनन्द-शक्ति के रूप में अनन्त कामनाओं का सर्जन करती है। प्रसादजी

---

१. कामायनी : इड़ा, २४वाँ गीत



श्रद्धा को कामगोत्रजा तो कहा है पर वह स्वमेव शक्ति है जो मनु को चरमसिद्धि की ओर ले जाती है। वह बाह्य शक्ति नहीं, मनु की आन्तरिक शक्ति है। पार्थिव रूप में वही श्रद्धा है जो मनु को दया, माया, ममता. मधुरिमा एवं अगाध विश्वास की रत्न-निधियों से पूरित करनेवाली है।[1] श्रद्धा के सहयोग से विश्व की दुर्बलता और पराजय जय के रूप में परिणत हो जाती हैं। वह मनु को प्रेरणा देती है—

'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'<br>
विश्व में गूँज रहा जय-गान ।।[2]

श्रद्धा ही वह शक्ति है जिससे संयुक्त होकर मनु शक्तिशाली हो सकेंगे और विधाता की कल्याणी सृष्टि इस पृथ्वी पर सफल हो सकेगी। यह सृष्टि इसीलिए कल्याणी कही गयी है कि महामाया जीवों को चिदानन्द स्वरूप भगवान के सौन्दर्यमय राज्य में प्रतिष्ठित करती रहती है। शक्ति अपनी क्रीड़ा से संसार में आनन्द का संचार करती है, पर आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपनी शक्ति के कणों को संचित करे और उसका सम्यक् समन्वय करे।[3] यह श्रद्धाशक्ति ज्योत्स्ना-निर्झर, तथा हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा एवं आनन्द का सागर है। वह नारी है और नारी श्रद्धामात्र है, अन्य कुछ नहीं—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो<br>
विश्वास-रजत-नग पगतल में<br>
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो<br>
जीवन के सुन्दर समतल में ।।[4]

रजत नग ही शिव हैं जो विश्वास की प्रतिमूर्ति हैं और उनके पगतल में निरन्तर निवास करनेवाली नारीरूपिणी श्रद्धा है। गोस्वामीजी ने इस भाव को पहले ही व्यक्त कर दिया है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ<br>
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम् ।।

### काम-शक्ति :

नारी के साथ संयुक्त काम भी उसकी एक शक्ति है जिसका स्वरूप मंगल-

---

१. कामायनी—पृष्ठ ६५<br>
२. वही —पृ० ६५<br>
३. वही —पृ० ६७<br>
४. वही —पृ० ११४

मंडित हैं। वही मूल शक्ति है जो सृष्टि का कारण बनती है—

**'वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई**
**अपने आलस का त्याग किये'**
**परमाणु बाल सब दौड़ पड़े**
**जिसका सुन्दर अनुराग लिये।**[1]

यही चिति-शक्ति है जो विश्व का कारण है। चिति-शक्ति का स्वरूप सत्यं शिवं सुन्दरम् का रूप है। प्रसादजी ने इस भाव को बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

**चिति का विराट्-वपु मंगल**
**वह सत्य सतत चिर सुन्दर।**[2]

'कामकला बिकास' में इसी शक्ति को काम-कला कहा गया है। यह शक्तिमान के साथ शक्ति ही क्रीड़ा है। कला का अर्थ सृष्टि है। ब्रह्म की काम-(इच्छा-) शक्ति द्वारा कला (विश्व) की सृष्टि का नाम कामकला और कूटरूप शिव का नाम कामेश्वर है। प्रसादजी ने चिति-शक्ति की लीला को कामकला के स्थान पर प्रेम-कला कहा है। श्रद्धा के रूप में वही शक्ति विश्व में अमल प्रेम का सन्देश सुनाने आयी है—

**यह लीला जिसकी विकस चली**
**वह मूलशक्ति थी प्रेम-कला,**
**उसका सन्देश सुनाने को**
**संसृति में आयी वह अमला।**[3]

मातृ-मूर्ति :

मनु को शक्ति के वास्तविक तत्त्व का ज्ञान पहले नहीं होता है। श्रद्धा के मधुर स्पर्श का अनुलेप उनकी सारी व्यथा को शेष कर डालता है।[4] और, मनु को श्रद्धा में मातृमूर्ति के दर्शन होते हैं। श्रद्धा यहाँ लोक की अग्नि में तपकर सुबर्ण प्रतिमा के समान हिमशिखरों से भी उन्नत दिखलाई देती हैं। मनु की दृष्टि में

---

१. कामायनी—पृ० ८०
२. वही —
३. वही —पृ० ८४
४. वही —पृ० २२१
५. वही —पृ० २५५



आज तक जो नारीवत् दृष्टिगत हो रही है वह अब शक्तिमयी मातृमूर्ति है—

**'तुम देवि आह कितनी उदार'**
**यह मातृमूर्ति है निर्विकार**
**हे सर्वमंगले ! तुम महती,**
**सबका दुख अपने पर सहती,**
**कल्याणमयी वाणी कहती,**
**तुम क्षमा निलय में हो रहती,**
**मैं भूला हूँ तुमको निहार—**
**नारी-सा ही, वह लघु विचार।।**[1]

सर्वमंगला :

नारी का यह सर्वमंगला रूप भगवती का ही रूप है—

**सर्वमंगल मांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके**
**शरणशम्बिके गौरी नारायणि नमोस्तुते।**

श्रद्धा के गीत के काव्यमय रूप में प्रसादजी ने शक्ति के मांगलिक स्वरूप का वर्णन किया है।[1] श्रद्धा ही शक्ति का परम मांगलिक रूप है। मनु के जीवन में सौन्दर्य, आनन्द एवं शक्ति का सुन्दर समन्वय हो जाता है और वे श्रद्धा को सम्बोधित करते कहते हैं—

**भगवति ! वह पावन मधु-धारा !**
**देख अमृत भी ललचाये,**
**वही, रम्य सौंदर्य्य शैल से**
**जिसमें जीवन धुल जाये।**[2]

और, सौन्दर्य, आनन्द एवं शक्ति का केन्द्र स्वयं श्रद्धा ही है। वही विश्व में दिव्य रागिनी-सी गूंज रही है।

अथर्ववेदोक्त 'देव्यथर्वशीर्ष' में भी शक्ति के इसी स्वरूप का बर्णन किया गया है। शक्ति ही स्वयं आनन्द एवं अनानन्द, विज्ञान एवं अविज्ञान, ब्रह्म एवं अब्रह्म तथा पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत है। यह सारा दृश्य जगत् शक्ति ही है।

**महमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणो वेदितव्ये।**
**अहं पंचभूतान्यपंचभूतानि। अहमखिलं जगत्।।**

---

१. कामायणी—पृ० २५७
२. वही —पृ० २२४
३. वही —पृ० २३२

**शिवलोक :**

श्रद्धा की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् मनु को शिवलोक के दर्शन होते हैं। मनु की दृष्टि के समक्ष सूना अन्तरिक्ष या जिसके एक छोर से दूसरे छोर तक अन्धकार छाया था। इस शून्य को असत् कहें या अन्धकार—दोनों एक ही हैं। अंजन के विशाल पर्वत के समान यह अन्धकार था जिसके परे कुछ भी दृष्टिगत नहीं हो रहा था।[1]

सहसा अन्धकार का परदा हटने लगा। असत् का तिरोभाव हो गया। और, सत्ता का स्पन्दन होने लगा। अन्धकार से ज्योति की नदी फूट पड़ी। उसमें ज्योति-पुरुष शोभा पाने लगा जो चेतन का मंगलमय रूप है। वही उज्ज्वल जीवन का प्रतीक है और उसका वर्ण चाँदी के समान गौर है। मनु के समक्ष यह प्रकाश ही क्रीड़ा कर रहा था और अमृतोपम किरणें लहर के समान चंचल हो रही थीं।[2]

अंधकार ही मानो उस आलोक पुरुष के केशपाश थे। उनका सर्वांग ज्योति-विनिर्मित था। शून्य को भेदकर उस चेतन सत्ता के भीतर से एक निनाद फूट रहा था। स्वयं नटेश नृत्य में लीन थे जिससे अन्तरिक्ष हँस रहा था। सप्त सुरों का लय हो गया था और केवल ताल की ध्वनि सुनाई दे रही थी। इस काल में दिशाओं और काल का ज्ञान भी शेष हो गया था।[3]

**नृत्यमयी लीला :**

प्रभापुंज, अपनी चिति-शक्ति से मुक्त, परम प्रसन्नता से, नृत्यमयी लीला से आह्लाद आनन्द का स्पन्दन कर रहे थे। शिव का ताण्डव हो रहा था। उनके शरीर के पसीने की बूँदों से तारागण, चाँद एवं सूर्य की सृष्टि हो रही थी तथा चरणों के आघात से पहाड़ भी धूलि-कणों में परिवर्तित हो रहे थे। उनके दोनों चरण मानों संहार एवं सृजन के रूप में गतिशील थे। समस्त सृष्टि में अनहद् नाद की ध्वनि गूँज रही थी।[4]

शक्ति एवं शक्तिमान के शरीर से प्रकाश निकल-निकलकर पाप एवं अभिशापों का विनाश करता जा रहा था। उनके-छवि के समुद्र में समस्त प्रकृति गलकर और घुल-मिलकर नवीन सुन्दर रूप धारण करती जा रही थी। शिव के साथ प्रकृति

१. कामायनी—पृ० २५९
२. ,, —पृ० २६०
३. ,, —पृ० २६०
४. ,, —पृ० २६२



विद्युत् की लीला चल रही हो
की लीला ऐसी लग रही थी मानो हीरे के पहाड़ पर
और सर्वत्र हिम के समान धवल हास का उल्लास छाया हो।[1]

उपर्युक्त वर्णन भगवान शिव के ताण्डव का है। परमविभु की इच्छा और क्रिया ही उनका निरन्तर नृत्य हैं। यह नृत्य ही सृष्टि-विधान है और इसकी निवृति ही प्रलय है। अशेष कारण-रूप में ब्रह्म निष्क्रिय हैं, कूटस्थ हैं। जब इसमें स्वभाव से स्पन्दन या क्षोम उत्पन्न होता है तब ये सक्रिय कहलाते हैं। यह मूल स्पन्दन या मूल क्षोभ ही विभु का नृत्य है। निष्क्रिय ब्रह्म शिव हैं और सक्रिय महामाया, किन्तु प्रपंच की सृष्टि, स्थिति एवं संहार रूपी नृत्य में, निष्क्रिय एवं सक्रिय में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। कभी पार्वती द्रष्टा बन जाती हैं और शिव नृत्य करते हैं और कभी शिव द्रष्टा बनते हैं तथा पार्वती[2] नृत्य करती हैं। कभी तो दोनों का सम्मिलित नृत्य होता है।

सृष्टि का प्रवर्तन, शिवा का नृत्य लास्य (कोमल नृत्य) और इसका निवर्तन शिव का ताण्डव (उद्धत नृत्य) कहा जाता है, किन्तु यह यथार्थ में ब्रह्म के स्वभाव, उनकी नित्य इच्छा-नित्य क्रिया अर्थात् नित्य आनन्द का कल्लोल है।[3]

**ताण्डव का आध्यात्मिक अर्थ :**

शिव के नृत्य के आध्यात्मिक अर्थ की चर्चा करते हुए डा० कुमारस्वामी ने निम्नलिखित तथ्यों का उद्घाटन किया है—

शिव की नटराज मूर्ति में जो चक्र है वह विश्व का प्रतीक है जिसके भीतर शिव की सृष्टि-लीला की नित्य क्रीड़ा चलती रहती है। इस नृत्य का उद्देश्य अगणित जीवों का भ्रम निवारण करने के लिए तथा इस नृत्य का स्थल चिदाम्बरम् है जो विश्व का हृदय है और वह स्थल हमारा हृदय ही है।[4]

नृत्य का तात्पर्य पंचकृत्यों से है, यथा—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव एवं अनुग्रह। पृथक् रूप में ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर एवं सदाशिव की क्रियाएँ हैं।[5]

**सामरस्य-लोक :**

मनु को श्रद्धा की अनुकम्पा से भगवान शिव के तत्वों से साक्षात्कार होता है।

१. कामायनी—पृष्ठ २६३
२. त्रिपुरा का एक अन्य नाम महाताण्डव साक्षिणी भी है—ललिता सहस्रनाना श्लोक १०८
३. भा० प्र० वि०—पृष्ठ ८५
४. दि डान्स ऑफ शिव—पृ० ७३
५. वही—पृष्ठ ८७

श्रद्धा की भक्ति का अवलम्ब लेकर मनु महाशून्य में प्रयाण करते हैं। अभी जो उन्होंने देखा है पर वह परमसत्ता की लीला का आभासमात्र था। पर प्राप्ति अभी दूर है। ज्ञान का उदय हो गया है। मोह से निवृति हो गयी है। किन्तु, साध्य-तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकी है। मनु साधना के पथ पर श्रद्धा के सहारे रहस्य से परिचित होते हैं[१] और उन्हें वास्तविक सामरस्य की प्राप्ति हो जाती है। प्रसादजी ने यहाँ शक्ति के विविध रूपों के दर्शन कराये है। मनु को निराधार महादेश में एक नयी सचेतनता का अनुभव होता है। यहाँ तीन विन्दु इन्हें दिखाई देते हैं। ये त्रिविन्दु ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया हैं। श्रद्धा कहती है—

१. "इस त्रिकोण के मध्य विन्दु तुम
शक्ति विपुल क्षमतावाले ये,
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान क्रिया-वाले ये।[२]

२. घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चलचित्रों-सी संसृति छाया,
जिस आलोक-विन्दु को घेरे
वह बैठी मुस्क्याती माया।[३]

३. यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन विन्दु ज्योतिर्मय इतने—,
अपने केंद्र बने दुख-सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने![४]

त्रिकोण :

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में प्रसादजी ने शाक्त-दर्शन का समस्त सार रख दिया है। त्रिकोण की विस्तृत चर्चा दर्शन प्रकरण में हो चुकी है। मध्यविन्दु ही शिव-शक्ति का अनन्त संयोग है। वही आलोकविन्दु है।[५] वही कामकला है। वही महाकाल की महाकाली के साथ अनन्त क्रीड़ा है। इसी प्रतीक पर श्रीयन्त्र का निर्माण किया जाता है जो विश्व का प्रतीक है (द्रष्टव्य चित्र)।

१. कामायनी—पृ० २६८
२. वही पृ० २७०
३. कामायनी—पृष्ठ २७२
४. वह पृ० २८०
५. यही मध्यविन्दु श्रीचक्र का मध्यविन्दु है, जिसपर ब्रह्म-शक्ति स्थित रहकर सृष्टि-चक्र का संचालन करती है : भा० प्र० वि०—पृ० २८७



उपरिचर्चित विन्दुओं को मिला देने पर त्रिकोण बनता है।[१] इस त्रिकोण के भीतर जो स्पन्दन होता है वही आकार ग्रहण कर त्रिगुणात्मक जगत् के रूप में प्रकट होता है। यह निरन्तर स्पन्दन ही सृष्टि का कारण है। त्रिकोण की क्रिया या गति ही ब्रह्म का अपने स्पन्दन के साथ खेल या लीला है।

प्रसादजी ने रहस्य सर्ग में श्रद्धा का शक्ति-रूप स्पष्ट कर दिया है। आज तक जिसमें मनु को मात्र नारीत्व का भ्रम हो रहा था, जो सौन्दर्य एवं आनन्द का पार्थिव स्रोत मनु को दृष्टिगत हो रहा था वह स्वयमेव अलौकिक सौन्दर्य एवं अलौकिक आनन्द की निधि है। वह स्वयं शक्ति है!, श्रद्धा की मुस्कान महाज्योति की रेखा के समान इस त्रिकोण में प्रविष्ट हो जाती है—

महाज्योति रेखा-सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें।[२]

और, मानो शक्ति तरंगायित हो उठी। उस त्रिकोण में मानो प्रलय के पावक की शक्ति विहार करने लगी। एक निनाद समस्त विश्व में गूंजने लगा जो भृंग एवं डमरू[३] का निनाद था। महाकाल का नृत्य हो रहा था और चितिमय ज्वाला की लपटें उठ रही थीं। शिव-शक्ति के संयोग में, उनके महाताण्डव में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया एकाकार हो गये थे। महाकाल की इस लीला के दर्शन करने पर मनु भी श्रद्धायुत हो जाते हैं।[४]

शिव-शक्ति-संयोग :

परमशक्ति के रहस्य को जान लेने पर मनु का श्रद्धा के साथ अद्वय सम्बन्ध हो जाता है। जिस प्रकार शक्ति एवं शक्तिमान में अभेद है उसी प्रकार मनु और श्रद्धा में कोई भेद नहीं, केवल नाम का अन्तर रह जाता है। इड़ा इसी का अवलोकन करती है—

चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन-पुरुष-पुरातन,
निज-शक्ति-तरंगायित था
आनन्द-अंबु-निधि शोभन॥[५]

श्रद्धा की 'विश्व की चेतना के सामन, पूर्णकाम की प्रतिमा-सी ज्योतिर्मयी'

१. द्रष्टव्य—भा० प्र० वि०—पृ० ७५—त्रिकोण
२. कामायनी : पृष्ठ २८१
३. डमरू शब्द-ब्रह्म का प्रतीक माना जाता है।
४. कामायनी—पृष्ठ २८१
५. वही —पृ० २८१

मूर्ति का इड़ा दर्शन लाभ करती है। एस कामायनी की एक मुस्कान से जड़-चेतन सभी सप्राण होते जाते हैं—

**वह कामायनी विहँसती**
**अग जग था मुखरित होता।[1]**

यही शुद्ध आनन्दलोक है जहाँ अनन्त सौन्दर्य निवास करता है और यह शक्ति एवं शक्तिमान के संयोग का लोक है। वही कैलास है, गोलोक है अथवा साकेत हैं। वहीं लास एवं रास भी चलते रहते हैं। शक्ति एवं शक्तिमान का संयोग साधना का प्रतीक है। प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति का निवास है और शक्तिमान को जानना 'सोऽहं' अथवा शक्ति-शक्तिमान का संयोग है। यहाँ जड़ एवं चेतन का भेद मिट जाता है। सौन्दर्य, चेतना, आनन्द ये सभी उसी अनुभूति के प्रतीक हैं। यही चिदानन्द की उपलब्धि है। इसी अवस्था में साधक को सामरस्यपूर्ण अखण्ड आनन्द लाभ होता है। तांत्रिकों ने इसे ही निरंजनावस्था कहा है—जिस अवस्था में योगी कंचुकों से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त करता है।[2]

पंच-कंचुक :

प्रसादजी ने इड़ा सर्ग, गीत संख्या अठारह में इन कंचुकों का उल्लेख किया है। इन कंचुकों (राग, नियति, विधा, कला एवं काल) की दर्शन-खण्ड में विस्तृत चर्चा हो चूकी है। प्रसादजी ने इस गीत में आत्मा सम्बन्धी परिमिति या बन्धनों की शाक्त-दर्शनानुसार व्याख्या प्रस्तुत की है। इस गीत में प्रसादजी मानव की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए कहते है कि व्यक्ति अपने अपूर्ण अहं के फलस्वरूप अपने को सर्वशक्तिमान मान बैठने का भ्रम पा लेता है—

**नियति कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी-सी महाशक्ति ॥**

यह राग-तत्त्व ही स्वार्थ-सम्बन्धी परिमितियों को जन्म देनेवाली है। 'इदं एवं इष्टं अस्ति इति आकलन'—यह इदं एवं इष्टं ही उसके राग को सीमित कर डालता है तथा स्वार्थ-बुद्धि का उदय होता है।

नियति, स्थिति एवं उपस्थिति को परिमित कर डालती है। 'मम इदं कर्त्तव्य न इदं कर्तव्यं इति नियमत् हेतु' नियति के इस भाव को प्रसादजी ने निम्न-लिखित रूप में व्यक्त किया है—

**व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द ॥**

यही कारण है कि व्यक्ति स्वयं निर्मित सीमाओं में भी आबद्ध हो जाता है

१. कामायनी पृ०—२९८
२. तंत्रलोक, भाग २।११४,११५



और शक्ति रहते हुए भी उस सीमित परिधि से बाहर नहीं निकल पाता।

ज्ञान का भांडार अमित है। अपनी सीमाओं को जानकर व्यक्ति अगर अपने विषय में भ्रम को न पाले तो जीवन सुखद हो सकता है, किन्तु वह क्षुद्रता में सर्वज्ञता का भ्रम पालने लगता है—

**सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विधा बनकर कुछ रचे छन्द।**

सामान्य ज्ञान की परिमिति विधा से होती है। यहाँ सीमित ज्ञान बन्धन है।

कला, सर्जनात्मक शक्ति एवं सिद्धि की परिमिति को कहा जाता है। यह कला तत्त्व ही है जो किसी भी सृष्टि को पूर्णता नहीं देती है। यही 'संकुचिता कर्तृत्व-शक्ति' है।

**कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला।**

माया के कला-तत्त्व के कारण ही पूर्णत्व पर किसी वस्तु की सष्टि सम्भव नहीं हो पाती। जब महामाया अपने व्यापारों को खींच लेती है और साधक अमोघ शक्ति का अधिकारी हो जाता हैं तो वह पूर्णत्व का अधिकारी हो जाता है और शक्ति की सप्तदशी कला का साक्षात् करता है।

काल-उपस्थिति की स्थिति एवं तत्सम्बन्धी अनूभूतियों को परिमित कर डालता है। 'इदानीं क्षणभावे आबलन'-अर्थात् यह क्षण ही सबल है। काल हमें 'यह निश्चित आयाम में' बाँध डालता है। हम इसी परिमिति के कारण काल के आयामों से ऊपर नहीं उठ सकते। किन्तु काल तो नित्य है—

**नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरन्तर चले ढला।**

पर हम नित्यता का बोध नहीं प्राप्त कर पाते।

प्रसादजी इन कंचुकों से मुक्त होकर अमोघ शक्ति को प्राप्त करने का सन्देश देते हैं। यही शाक्त-दर्शन का मूल तत्त्व है जिसके ज्ञान से, मनु मुक्त होकर परासम्बित के तत्त्व का साक्षात् करने में समर्थ होते हैं।

समापन :

सारांश, यह कहा जा सकता है कि कामायनी शक्ति के अनन्त प्रसार के भीतर उस आत्मिक-अमोघ-शक्ति के अन्वेषण का प्रयास है जिससे अद्वयता (श्रद्धा-विश्वास) की प्राप्ति होती है और आत्मा के वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है।

# सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की शक्ति-भावना

कल्पना, चिन्तन एवं अनुभूति के युग में निराला का काव्य रचित हुआ है। अतः निराला में परम्परागत शक्ति-भावना का दर्शन नहीं हो सकेगा। अब तक निराला के काव्य का सही मूल्यांकन भी नहीं हो पाया है और यहाँ उनकी समग्र आलोचना अभीष्ट नहीं है। किन्तु यहाँ संक्षेप में उन परिस्थितियों पर भी विचार करना आवश्यक है जिनसे निराला की शक्ति-भावना पर प्रकाश पड़ता है।

## निराला और शाक्त-भूमि बंगाल :

निराला का जन्म बंगाल की भूमि में महिषादल में हुआ था। जीवन के विकास के क्षण भी बंगाल में ही बीते। बंगाल युगों से शक्ति-साधना का केन्द्र रहा है और इसने निराला पर छाप छोड़ी है। बंगाल में स्वामी रामकृष्ण-जैसे साधक एवं स्वामी विवेकानन्द-जैसे उनके सुयोग्य शिष्य का गहरा प्रभाव था। निरालाजी के काव्य में इन दोनों महापुरुषों का प्रभाव दिखाई देता हैं।

निरालाजी ने १९२२ में स्वामी शारदानन्द के दर्शन किये। स्वामी 'शारदानन्द जी महाराज और मैं' नाम के लेख में वर्णित एक मनोरंजक तथ्य की चर्चा आवश्यक है। रामकृष्ण मिशन के साधुओं का प्रभाव निरालाजी को भौतिक वास्तविकता से दूर चमत्कारवाद के कल्पना-लोक में खींचकर ले गया था। तंत्र-मंत्र पर निरालाजी का सहज अविश्वास था जो उन्होंने प्रकट किया। अन्त में स्वामी शारदानन्दजी ने अपनी उँगली से इनके गले पर एक बीज-मंत्र लिख दिया। पढ़ने की चेष्टा करने पर भी मंत्र समझ में न आया। मन्त्र का यह प्रभाव पड़ा कि कुछ ही दिनों में उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि 'मेरा निचला हिस्सा ऊपर और ऊपरवाला नीचे हो गया है और रामकृष्ण मिशन के साधु मुझे खींच रहे हैं'। बाबू महादेव प्रसाद सेठ से उन्होंने शिकायत की कि ये साधु लोग जादूगर जान पड़ते हैं। उसके बाद स्वप्न में प्रकाश का समुद्र दिखाई दिया और मालूम हुआ कि कविवर श्यामा की बाँह पर मस्तक रखे हुए लहरों में हिल रहे हैं। फिर इतने चमत्कार देखे कि बड़े-बड़े कवियों और दार्शनिकों की चमत्कारोक्तियों पर हँसी आने लगी। और, वह गलेवाला मन्त्र भी आग-सा चमकता हुआ आँख के सामने आया और उसे उन्होंने पढ़ लिया।[1]

पुनः अपने कवि-जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की कुछ कविताओं का अनुवाद किया था। मातृ-शक्ति का ज्ञान निरालाजी को बंगाल की

१. डा० रामविलास शर्मा : निराला—पृ० ९०



भूमि ने ही दिया और यही कारण है कि निरालाजी की पर्याप्त रचनाएँ माँ को सम्बोधित कर लिखी गयी हैं।

## मातृ-शक्ति के विविध रूप :

निरालाजी को विद्वानों ने ओज का कवि कहा है। ओज शक्ति का ही प्रतिफल है। शक्ति एवं सौंदर्य के इस कवि ने विविध रूपों में मातृ-शक्ति के दर्शन किये हैं, पर शक्ति का परम्परा-पुष्ट रूप-चित्रण कवि का अभीष्ट नहीं। मातृ-शक्ति कहीं भारतमाता, कहीं सरस्वती एवं कहीं दुर्गा, कालिका आदि का रूप धारण कर आयी है। कवि ने शक्ति के उग्र रूप की ही अधिक आराधना की है और अपनी भक्ति इसी शक्ति के चरणों पर निवेदित की है। पर कहीं भी कवि का स्वर ऐसा नहीं जिससे हम इसे भक्तिकालीन कवियों की कोटि में प्रतिष्ठित कर सकें। निरालाजी का स्वर ही नवीन नहीं, निराला की दृष्टि भी नवीन है।

## राम की शक्ति-पूजा :

निरालाजी की सर्वाधिक प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्ति-पूजा' है। यह कथा दो स्थानों से संकलित की गयी है। देवी-भागवत में रावण-बध के समय राम की शक्ति-आराधना का उल्लेख है। नारद के कहने से रामचन्द्रजी ने नवरात्र व्रत करके देवी को प्रसन्न किया था, किन्तु इसमें नीलकमल चढ़ाने की कथा नहीं है।[1] शिव-महिम्न-स्तोत्र में विष्णु के द्वारा शिव को कमल चढ़ाने का उल्लेख है। निराला ने दोनों कथानकों के योग से एक नये कथानक की सृष्टि की है।

निरालाजी-जैसे तुलसीकृत रामायण के अनुरागी के लिए राम की शक्ति-पूजा ही इनकी शक्ति-भावना का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। राम यहाँ ब्रह्म के रूप में नहीं, एक साधक के रूप में दिखाई देते हैं। राम-रावण के युद्ध में राम की सारी चेष्टाएँ विफल होती जा रही हैं क्योंकि महाशक्ति रावण को अंक में लिये उसकी रक्षा कर रही हैं। वृद्ध जाम्बवान की मंत्रणा से राम शक्ति की पूजा के निमित्त तैयार होते हैं- राम महाशक्ति के विराट् रूप का अवलोकन पार्वती के रूप में करते हैं। सिन्धु ही वह सिंह है जो दहाड़ रहा है तथा पार्वती के चरणों का आश्रय लिये हुए है। यह विश्वरूपा शक्ति है—

देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरन्द-विन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।

१. देवी-भागवत—स्कन्ध ३, अध्याय ३०

पार्वती की दस भुजाएँ मानों दस दिशाएँ ही हैं—

दशादिक-समस्त हैं हस्त और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा सर्व।

एक सौ आठ कमलों से राम महाशक्ति की पूजा में रत हो जाते हैं। राम यहाँ योगी हैं। कुण्डलिनी को जाग्रत कर क्रम-क्रम से ध्यानस्थ हो वे चक्रों का भेदन करने लगे। शक्ति को प्रबुद्ध कर शिव-शक्ति के लिए वे सचेष्ट होते गए—

चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस,
... .... ........ .......
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर,

सहस्रार-कमल का भेदन होने ही जा रहा था कि दुर्गा अन्तिम कमल लेकर अदृश्य हो जाती हैं। राम शक्ति की पूजा की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अपना इन्दीवर के समान नेत्र निकालकर चढ़ाने को उद्यत होते हैं कि दुर्गा प्रकट होकर राम का हाथ पकड़ लेती हैं और राम को मातृ-शक्ति के दर्शन होते हैं—

देखो राम ने, सामने श्रीदुर्गा, भास्वर
वामपद असुर-स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर,
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध-अस्त्र-सज्जित
मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित
हैं दक्षिण में लक्ष्मी सरस्वती वाम-भाग
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रण-रंग राग,

दुर्गा की यह छवि दशभुजी दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी की छवि है जिसका राम को दर्शन होता है। बंगाल में शारदीया नवरात्र में देवी के इसी रूप की पूजा होती है।

और, इसी स्वरूप से दर्शन देकर विजय की भविष्यवाणी करती शक्ति राम के मुख में लीन हो जाती हैं।

राम की शक्ति-पूजा का एक अन्य स्थल भी विचारणीय है जब हनुमान राम के चरणों पर दृष्टि लगाये बैठे हैं। हनुमान राम के दोनों चरणों को अस्ति एवं



नास्ति के रूप में देखते हैं—

बैठे मारुति देखते रहे राम-चरणविघ्न—
युग अस्ति-नास्ति के एक रूप गुण-गण-अनिन्द्य

## नटराज-तत्त्व :

राम के दोनों चरणों में अस्ति-नास्ति सृजन एवं संहार का प्रतीक है। शिव के दोनों चरणों में संहार एवं सृजन की कल्पना प्राचीन है।[1] इस प्रकार, राम शक्तिमान के ही प्रतीक हैं। शक्ति का शक्तिमान में लीन हो जाना ही राम की शक्ति-पूजा का सन्देश है। साधक की दृष्टि से योगी के रूप में राम का शक्ति-तत्त्व को प्राप्त करना ही शक्ति-तत्त्व की चरम सिद्धि है।

## सीता-शक्ति :

निराला ने पंचवटी-प्रसंग[2] में भी सीता को शक्ति के रूप में लक्ष्मण के मुख से कहलवाया है। लक्ष्मण स्वयं निराला के रूप में मातृ-शक्ति के चरण-रेणु के लिए लालायित दिखाई देते हैं। यहाँ पहले तो लक्ष्मण का भक्ति-भाव एवं अनन्यता बोल रही है—

माता की चरण-रेणु मेरी परमशक्ति है—
माता की तृप्ति मेरे लिए अष्टसिद्धियाँ—
माता के स्नेह शब्द मेरे सुख-साधन हैं।

पुनः वे शक्ति के दार्शनिक स्वरूप का महत्व उल्लेख करते दिखाई देते हैं—

जिनके कटाक्ष से करोड़ों शिव-विष्णु-अज
कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह
कोटि इन्द्र-सुरासुर—
जड़-चेतन मिले हुए जीव-जग
बनते पलते हैं—नष्ट होते हैं अन्त में—
सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती हैं
आदि-शक्ति-रूपिणी,
शक्ति से जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है
माता हैं मेरी वे।

## वाक्-शक्ति :

वही शक्ति प्रणव से लेकर प्रतिमंत्र के अर्थ में व्याप्त है। वही वाक्-शक्ति है

१. द्रष्टव्य : कामायनी—पृ० २६२
२. परिमल (पंचमावृति, १९५०)—पृ० २४२-४३

और लक्ष्मण की आराध्या मातृदेवी हैं—

प्रणव से लेकर प्रतिमंत्र के अर्थ में
जिनके अस्तित्व का ही
दीखती है दृढ़ छाप,
माता हैं मेरी वे।

इस प्रकार, निराला शक्ति के विविध रूपों में उसी एकात्मता के दर्शन करते दिलाई देते हैं। निराला के जीवन को मातृ-शक्ति ने इतना अभिभूत कर लिया है कि वसन वासन्ती लेगी[1] शीर्षक कविता में 'खी डाल' भी पार्वती का रूपक ले प्रकट होती है। पार्वती को शिव के लिए तपस्या स्वाद एवं सन्तोष दोनों फल देनेवाली है। आशुतोष शिव की कृपा से गरल एवं अमृत-वासना एवं प्रेम— दोनों के संयोग से इस फल की सृष्टि हुई है।

वाम-मार्ग-विरोध :

निराला वाम-मार्ग के कट्टर विरोधी हैं पर शक्ति की भक्ति का स्वर अनेक रूपों में उनकी कविता में मुखर है। निराला शक्ति-आराधना को दिव्य भाव की संज्ञा देते हैं तथा वाम-मार्ग को अदिव्य घोषित करते हैं—सहस्राविद् शीर्षक कविता में—

जन-बल-वर्धन के हेतु वाम-पथ का चालन—
लोगों में भय का कारण, मारण-सम्मोहन,
उच्चाटन, वशीकरण, संकर्षण, संचासन,
दिव्य भाव के बदले अदिव्य भाव का ग्रहण—
फिर बदला क्यों यह रूप शक्ति के साधन से।[2]

काली-शक्ति :

शक्ति की साधना कवि को इतनी प्रिय है कि कवि ने पार्वती का कालिका-रूप वर्णित किया है। धारा की प्रखरता ही कालिका की गति है। वह बालिका धारारूपिणी पार्वती ही अपनी अपार शक्ति का प्रदर्शन कर कालिका बन गयी है—

समझे थे जिसे बालिका
आज ढहाते शिला-खंड-चय देख
काँपते थर-थर—
शिला-खंड नर-मुंड-मालिनी कहते उसे कालिका[3]।

१. अपरा (१९५६)—पृ० ५०
२. अपरा—पृ० १७०-१७१
३. वही—पृ० १०६



काली आद्या शक्ति का रूप है। यही प्रथमा महाविद्या है। यही ब्रह्म की नित्य-क्रियाशक्ति रूप पराशक्ति है… …।

काली का नृत्य विनाश का ही नहीं किन्तु सृष्टि का भी प्रतीक है, किन्तु निराला ने काली के भयंकर रूप का ही आवाहन किया है। आवाहन शीर्षक कविता में कवि श्यामा काली को असुर-विनाश-नृत्य के लिए अनुरोध करता दिखलाई देता है—

एक बार बस और नाच तू श्यामा।
भैरवी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पंजा,
लेगी खंग और तू खप्पर
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपना अंजलि भर-भर।[1]

काली के इस स्वरूप का वर्णन दुर्गासप्तशती के आधार पर वर्णित है।[2] निरालाजी की दृष्टि में मृत्यु एवं अभयदायिनी माँ अलग-अलग नहीं हैं।

मृत्यु-स्वरूपे माँ, है तू ही
सत्य-स्वरूपा, सत्याधार।

स्वामी विवेकानन्द की कविताओं में माँ का स्वरूप मृत्यु का ही है। निराला मृत्यु के उपासक नहीं थे, 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'-के मृत्यु पर विजय पाने के आकांक्षी थे। इसलिए उनकी अपनी रचनाओं में जिस आराध्य देवी की वन्दना की गयी है, वह मृत्यु के परे है। मृत्यु उसका आमरण है, वह विष के प्याले पिलाती है, मनुष्य को मृत्युंजयी बनाने के लिए।[3]

निराला को यह रूप इतना प्रिय है कि वे रुद्र का भी आवाहन करते दिखाई देते हैं। रुद्र का ताण्डव कवि नवीन सृष्टि के लिए चाहता है—

फिर नूतन तन लहरे
मुकुल-गन्ध बन छहरे,
डर तरु-तरु का हहरे
नव मन, सायं-सकाल।[4]

कवि ने राम की शक्ति-पूजा में हनुमान को भी रुद्र के रूप में स्वीकार किया

१. अपरा पृ०—१०७
२. दुर्गासप्तशती—पृ० ७१६-८
३. डा० रा० वि० शर्मा : निराला—पृ० १९३
४. आराधना (१९५३), गीत ५५

है जो माता अंजना के अनुरोध पर पुनः शान्त हो जाते हैं। निरालाजी तो स्वयं हनुमान के भक्त हैं ही और यहाँ भी उनका ध्यान सेवक-धर्म से ज्यादा हनुमान की शक्ति-पुंजता पर ही है।

**देवी सरस्वती :**

भयंकर रूप के साथ-साथ निराला ने शक्ति के सौम्य रूप को भी कविता में वर्णित किया है। सौम्य रूप में सबसे उदात्त रूप सरस्वती का है। 'छवि विश्व की मोहिनी' ही कवि की सनधन कविता है और यही चिरन्तन जीवन का उन्नायक है। मानव की आत्मा के शतदल पर सरस्वती के युगल चरण शोभित हैं। यह चतुर्भुजी सरस्वती है जिसके दो हाथों में वीणा एवं दो हाथों में पुस्तक एवं कमल हैं। शुभ्रतर ज्योति से खिला शरीर है और चरणों के पास हंस शोभायमान है जो वीणा के तीव्र-मृदु स्वर की झंकार को सुन-सा रहा है। यह सरस्वती आर्यों की देवी है। यह सरस्वती जीवनी-शक्ति के प्रतीक के रूप में आयी है जिस का उल्लास प्रकृति के कण-कण में दिखलाई दे रहा है—

**शुभ्रे कुल रंगों की, रागों की, शब्दों की,**
**नित्य नवीना हो वंदित यद्यपि अब्दों की।**[1]

कवि वीणावादिनी से अनुरोध करता है कि जगत् के हृदय दलों को प्रेम की अमृत-धारा से आप्लावित कर दें और समस्त विश्व उनके कोमल चरणकमलों को चूमकर आनन्द से भर जाये।[2] दूसरी ओर भारत में स्वतंत्रता की भावना भर देने के लिए भी कवि अनुरोध करता दीखता है। जीवन के अन्य हृदय के नभ के स्तरों को काटकर ज्योतिर्मय निर्झर प्रवाहित हो जाये और सारा विश्व ही नवीन गति, ताल, लय में नाच उठे।[3]

**अभेदत्व :**

कवि अपनी प्रसिद्ध अद्वैतवादी कविता 'तुम और मैं' में अपना सम्बन्ध विराट् के साथ स्थापित करता है और ब्रह्म को सच्चिदानन्द ब्रह्म तथा स्वयं को माया के रूप में वर्णित करता है। माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है और शाक्तों की वही महामाया है, वही चित्-शक्ति है।

**तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति**
**तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र**
**मैं सीता अचला भक्ति।**[4]

१. अपरा—पृ० १५६
२. अनामिका—पृ० ३३
३. वरदे वीणाबादिनी वर दे ! : गीतिका (१९६१), गीत-संख्या १
४. अपरा—पृष्ठ ५९



कवि की शक्ति-भावना स्वयं शक्ति के रूप में शक्तिमान से अभिन्न है। वही भक्ति के रूप में सीता का स्वरूप धारण कर श्रीराम के साथ संयुक्त है।

**अरूप की ओर :**

किन्तु, निराला की शक्ति-भावना केवल उपरिचर्चित रूपों का आधार लेकर नहीं चली है। वह रूप से अरूप की ओर संक्रमण कर जाती है। वह मांसलता से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने लगती है। तुलसीदास में कवि ने रत्नावली को तुलसी की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। वह बाँधनेवाली है तो साथ ही मुक्ति भी देनेवाली है। वह मुक्ति एवं भुक्ति दोनों का प्रतिरूप है। तुलसी का पूर्व संस्कार जग जाता है। उनका काम भस्म हो जाता है और अब तक एक जो मांसल स्त्री थी वह आग की जलती प्रतिमा के समान दिखलाई देने लगती है। वह उन्हें विश्व-हंस पर स्थित नीलवसना शारदा-सी लगती है—

**देखा, शारदा नील-वसना**
**हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,**
**जीवन-समीर-शुचि निःश्वसना, वरदात्री,**
**वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर**
**फूटीं तर अमृत-धार निर्झर,**
**यह विश्व-हंस हैं चरणसुघर जिसपर श्री।**[1]

उसकी दृष्टि में बँधकर एक बार तुलसी का मन फिर ऊपर उठ जाता है और आकाश के बहुरंगी स्तर एक क्षण में पार कर जाता है। संस्कारों के धूसर समुद्र के ऊपर एक तारिका चमक उठती है। उसी में शारदा का वह रूप लीन हो जाता है। केवल अरूप की महिमा शेष रह जाती है—

**चमकी तब तक तारा नवीन**
**द्युति नील नील, जिससे विलीन**
**हो गई भारती, रूप-क्षीण महिमा अब।**[2]

रत्नावली का चित्रण कवि ने चेतना के रूप में, सरस्वती की प्रतिमा के समान किया है।

सरस्वती के उपर्युक्त चित्रणों में निराला ने सरस्वती के नीलवसन का चित्रण किया है। किन्तु सरस्वती के शुक्ल वस्त्र का ही सर्वत्र उल्लेख पाया जाता है। सरस्वती रहस्योपनिषद् में भी देवी को सर्वशुक्ला ही कहा गया है।[3] सरस्वती का गौर उज्ज्वल वर्ण है। ज्ञान की देवी होने के कारण इनका

१. तुलसीदास—पृष्ठ ४६
२. तुलसीदास—पृ० ४७
३. सरस्वती रहस्योपनिषद्—३६

परमोज्ज्वल रूप है। और, अध्यात्म-पक्ष में यह ज्ञान ब्रह्म का ज्योतिर्मय रूप है।

**ज्योतिर्मयी :**

कवि ने इस ज्योतिर्मय रूप की साधना की है। उसे नाम एवं रूप की सीमा में बँधना प्रिय नहीं है। आराधना में कवि कहता है—

> शतविध नमानुबन्ध
> बान्धव हे निराकार—
> जय अजेय, अप्रमेय,
> जय जग परम पार।[1]

नाम-रूप की सीमा से उबरकर कवि ज्योति की विराटता में लीन हो जाता है। यही विराट ज्योति कवि को प्रिय है। उसे प्रात, 'रात नयन' गात, चरण, चाल, विश्व, आलवाल, सलिल, ताल, कलश, पान सभी में ज्योति के ही दर्शन होते हैं। कम्प, आकर्षण, मिलन एवं प्रिय के प्रथम दर्शन में भी वही ज्योति निवास करती दिखाई देती है। वही मातृ ज्योति है। वही चित् ज्योति है और वही प्रिया बनकर प्रकट होती है। इस प्रकार, समस्त सृष्टि ही कवि की दृष्टि में शक्ति का प्रतिरूप है। आराधना के दो पदों में वे राम के प्रति अपनी भक्ति-भावना निवेदित करते दिखाई देते हैं पर उसे रामचरितमानस के अध्ययन का प्रभाव माना जाना चाहिये। आराधना (पद-संख्या २०) में ही वे राम का स्पष्टीकरण करते हैं। निरालाजी का राम निर्विकार ब्रह्म ही है और राम एवं कृष्ण में भेद नहीं है।

**मातृ-शक्ति :**

किन्तु, आराधना एवं गीतिका के अनेक पदों में उन्होंने शक्ति की ही आराधना की है तथा शक्ति को मातृरूप में स्मरण करते दिखाई देते हैं। माँ के प्रति कवि की भक्ति-भावना अपने निज के स्वार्थ के लिए नहीं है, वह विश्व-कल्याण के लिए है—

> माँ, मानस के सित शतदल को
> रेनु-गन्ध के पंख खिला दो,
> जग को मंगल मंगल के पग
> पार लगा दो, प्राण मिला दो,
> तरु को तरुण पत्र मंजर दो।[2]

---

१. आराधना—गीत ६७
२. आराधना—गीत ८



निराला की दृष्टि में माँ वरदायिनी है; अतः उससे याचना की जा सकती है और कवि माँ से उस लोक की प्राप्ति की याचना करता दिखलाई देता है जो चित् का लोक है अर्थात् जहाँ शिव एवं शक्ति का मिलन होता है और जो आनन्द का धाम है।

> अनुद्वेलित हुआ चित्सिन्धु जहाँ है,
> मिल रहे हैं जहाँ, सृष्टि के सभी क्षय,
> बिना जिसके नहीं स्थिति, रहा है विलय,
> वही हो सही इस देह का अभियान॥[1]

कवि जानता है कि माँ की आनन्दभूमि में पहुँचने के अनेक मार्ग हैं और कवि अपनी जीवन-वीणा के विसम्वादी स्वरों को एक स्वर में बाँधने का आकांक्षी है—

> सकल मार्गों से चलकर एक
> लक्ष्य पर पहुँचे लोग अनेक,
> सकल-शुभ-फलप्रद एक विधान,
> बाँध माँ, तन्त्री के-से गान।[2]

जीवन रखते हुए भी जगत् के शरीर में जीवन का लेश नहीं है। कवि अपनी आराधना में विश्व का कल्याण करने के लिए उत्सुक है। वह मातृशक्ति की विभा को समस्त विश्व में प्रकाशित देखने का आकांक्षी है। शक्ति की प्राप्ति शक्ति-तत्त्व के ज्ञान से ही होगी, इसलिए अब जनजन के मानसरूपी कमल पर माँ के युग चरणों की प्रतिष्ठा होगी तभी वे अपनी शक्ति से परिचित हो सकेंगे—

> फिर उनके मानस-शततल पर
> अपने चारुचरण-युग रखकर,
> खिला जगत् तू अपनी छवि में
> दिव्य ज्योति हो लीन॥[3]

कवि की यह आकांक्षा फलवती हो जाती है और शक्ति सृष्टि के कण-कण में उल्लास बनकर विहँसने लगती है। सृष्टि का समस्त व्यापार उसी शक्ति की

---

१. वही—पृ० ३४
२. गीतिका—पृ० ३०
३. वही—पृ० ३४

मुस्कान के रूप में दिखलाई देने लगता है—

जब तू रचता मैं हँस दी
तूल तूल के फूल खिले
पल्लव डोले—चिड़िया चहकी ।[१]

कवि ने जीवन को ही तप मान लिया है। तपस्या इस संसार से बाहर की वस्तु नहीं, वह अरण्य की साधना नहीं है। मन के समस्त साधनों की साधना ही, अलम् है।

तप के बन्धन बाँधो, बाँधो।
मन के साधन साधो साधो ॥[२]

निराला ने मातृ-शक्ति को आनन्ददायिनी से अधिक शक्तिदायिनी माना है; क्योंकि विश्व को शक्ति की आवश्यकता है और स्वयं कवि भी दुख के भार को वहन करना ही श्रेष्ठ उपासना के रूप में स्वीकार करता है। दुख का भार माँ के हाथों पड़कर अभिशप्त कालिमा से उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिवर्तित हो जाता हैं। कवि ने इसीलिए माँ को अपने जीवन की समस्त साधना निवेदित कर दी है।[३]

शून्य :

शून्य और शक्ति में निरालाजी सृष्टि का आदि और अन्त शून्य को मानते हैं। शक्ति शून्य का ही रूप है। शून्य-रूप में उसका कम्पन बन्द हो जाता है और शक्ति-रूप में कम्पन का बोध होता है। इस कम्पन-क्रिया का नाम ही सृष्टि या विकास है।[४]

निरालाजी जिसे कम्पन कहते हैं वहीं स्पन्द है। शक्ति का निरन्तर स्पन्द होता रहता है। यह स्पन्द शिव-शक्ति के मिलन से होता है। त्रिकोण के भीतर जो स्पन्द होता है वही आकार ग्रहण कर त्रिगुणात्मक जगत् के रूप में प्रकट होता है। स्पन्दन के शान्त होते ही आनन्दोल्लासरूपी ब्रह्म अर्थात् सृष्टिरूपधारिणी देवी क्रिया शक्ति अपने स्थिर (कूटस्थ) रूप में विलीन होकर स्थिर हो जाती है।

शक्ति ही प्रिया है ?-

शक्ति के दार्शनिक स्वरूप से निरालाजी का गहरा परिचय था और उन्होंने काव्य की परिधि में शक्ति की अनन्त व्याख्या की। इस व्याख्या में उन्होंने केवल लकीर पीटने का काम नहीं किया। प्रकृति, माँ एवं आन्तरिक शक्ति की सीमाओं से उठकर उन्होंने शक्ति को प्रिया के रूप में भी देखा है। वह प्रिया सकल

१. आराधना—गीत-संख्या २५
२. आराधना—गीत-संख्या ३९
३. परिमल—'क्या हूँ' कविता
४. डा० रामविलास शर्मा : निराला—पृ० ६१



गुणों की खान है एवं मोह तथा अज्ञान का विनाश करनेवाली है। वह सरस्वतीरूपा शक्ति ही कवि की प्रिया बनकर कवि के लिए नवीन लोक का द्वार खोलती है—

सोई घेर गगन का मन, फन,
कुण्डली-नगन-नील विश्व-जन,
देखी मणि, आगे, परिवर्तन
गया मोह-अज्ञान, या न तुम।[१]

यहाँ कवि ने जिस देवी सरस्वती को प्राण कहकर सम्बोधित किया है, वह अध्यात्म के स्तर का स्पर्श करती जान पड़ती है और कवि ने बार-बार इस दिव्य छवि में सौन्दर्य की साधना की है। निराला की सौन्दर्य-भावना सदा सात्विकता से परिवेष्ठित रही है, इसीलिए इस सौन्दर्य में तृप्ति से बढ़कर और कुछ नहीं है—

देख दिव्य छवि लोचन हारे
रूप आनन्द, चन्द्रमुख, श्रम रुचि
पलक तरल तम, मृग-दृग-तारे।[२]
समझे युग रागानुग मुक्ति रे
ज्ञान परम, मिले चरम मुक्ति से,
सुन्दरता के, अनुपम उक्ति के
बँधे हुए श्लोकपूर्ण कर चरण।[३]

कवि अपनी शक्ति को सम्बोधित करता कह उठता है कि वही उसके गीतों में निरन्तर मुखर रहा करती है और वह सम्मान पाता है। इस भाव को स्पष्ट करते हुए उसने शिव एवं शक्ति का रूपक खड़ा कर दिया है। वास्तविक चेतना तो शक्ति की है। शक्ति के बिना तो शिव भी शव हो जाते हैं। संसार को इसका वास्तविक ज्ञान नहीं कि शिव अपने-आपमें शक्ति के बिना निष्क्रिय ही है और निरालाजी के गीतों में भी वही शक्ति है जो बोल रही है तथा वह वृथा ही सम्मान का अधिकारी बन जाता है—

श्रम गोधूलि, धूसरित नभ-तन
तुम शशि-कला-किरण-दृग-चुम्बन
ज्ञान-तन्तु तुम, जग-अजान-मन
शव-शिव-शक्ति महान।[४]

१. गीतिका—गीत-संख्या ७४
२. वही— ,, ३८
३. वही— ,, ६४
४. वही— ,, ४४

कवि इसीलिए नयनों में सौन्दर्य के इस पुंज को बाँध लेना चाहता है। उसे अब शून्य की चाह नहीं। वह शून्य को सार-तत्त्व के रूप में प्राप्त कर चुका है और आनन्द के घन झिरझिर झरते जा रहे हैं—

> दृष्टि अरूप, रूप लोचन युग,
> बाँध बाँध कवि, बाँध पलक भुज
> शून्य सार कर,-कर तज सूरुज
> घन का वन वर्षण ॥[1]

**तादात्म्य :**

कवि अपनी प्रिया-शक्ति में इतना लीन हो जाता है कि वह स्वयं ही प्रिया बन जाता है। तादात्मय की इस स्थिति में कोई पार्थक्य नहीं रहता और भावनाओं का सहज विपर्यय हो जाता है। कवि बाँसुरी की ध्वनि पर आह्वान पाने लगता है—

> हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?
> हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी
> लीन स्वर-सलिल में मैं बन रहा मौन ॥[2]

फिर तो उसका ही ध्यान शेष रह जाता है और सारे ज्ञान-अज्ञान विलीन हो जाते हैं। वह ज्योत्स्ना का परिधान धारण किए अपनी मन्द स्मितमा विखेरती रहती है। कवि की यह सम्मोहावस्था नहीं, उन्मुक्तावस्था है—

> रहा तेरा ध्यान,
> जग का गया सब अज्ञान !
> गगन घन-विटपी, सुमन नक्षत्र-ग्रह नव ज्ञान
> बीच में तू हँस रही ज्योत्स्ना-वसन परिधान।[3]

**समापन :**

निरालाजी की शक्ति-भावना में इस प्रकार एक संक्रमण का परिचय मिलता है। परम्परा को भी कवि ने रूढ़िगत रूप में स्वीकार नहीं किया है। कवि की श्यामा प्रचण्ड रूप धारण कर सृष्टि का प्रच्छालन करने के निमित्त आती हैं पर वह सर्वांश रूप में विनाशकारिणी मृत्यु का स्वरूप नहीं, वह जीवनदायिनी है और इसीलिए माँ है। किन्तु विश्व के शृंगार में उसका एक वह भी रूप है, जो त्रिपुर सुन्दरी का रूप है जिसकी शोभा से सृष्टि का कण-कण विहँस उठता है। वह

१. गीतिका—पद-संख्या ६९
२. गीतिका—पद-संख्या ९९
३. गीतिका—पद-संख्या ५९



प्राकृतिक चेतनामात्र नहीं प्रकृति के अन्तराल में निवास करनेवाली शक्ति है। निराला ने यहाँ रूप से अरूप और अरूप से रूप दोनों के माध्यम से व्यक्त एवं अव्यक्त को प्रकाशित करने की चेष्टा की है। एक ओर उनका दर्शन इन रहस्यमय सूक्ष्मतत्त्वों का साथ नहीं छोड़ना चाहता जो युग-युगों का अर्जित अनुभूति-वैभव है और दूसरी ओर उनकी पार्थिवता धरती के उस गुरुत्व से बँधी है, जो आज की पहली आवश्यकता है।[1]

और, आज की आवश्यकता का ही ध्यान था जिसके वशीभूत हो निरालाजी ने सरस्वती के ध्यान में भारतमाता का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। भारतमाता की सरस्वती से अभिन्नता भारतदेश को भी मातृ-शक्ति की प्रतिष्ठा दे डालता है। भारती-वन्दना में कवि ने माँ सरस्वती के शीश पर हिमधवल हिमालय एवं चरणों में लंका की कल्पना की है—

> भारति, जय विजय करे
> कनक-शस्य-कमल धरे।
>
> लंका पदतल-शतदल,
> गर्जितोर्मि सागर-जल
> धोता शुचि चरण-युगल
> स्तव कर बहु अर्थभरे ॥
>
> तरु-तृण-बन-लता-वसन,
> अंचल में खचित सुमन,
> गंगा ज्योतिर्जल-कण-
> धवल-धार हार गले।
>
> मुकुट सम हिम-तुषार,
> प्राण प्रणव ओंकार,
> ध्वनित दिशा में उदार
> शतमुख-शतरव-मुखरे।

अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि निरालाजी की शक्ति-साधना में प्राचीन परम्परा के स्वर के साथ-साथ निरालाजी की नवीन शक्ति-उद्भावनाएँ एक साथ मुखरित हो गयी हैं। शक्ति का पौराणिक रूप कवि के लिए प्रेरणा भले ही बना हो पर कवि ने अपने अन्तरंग की साधना में शक्ति के विविध रूपों के दर्शन किए हैं।

१. अपरा—अपनी बात : पृ० ३

# द्वारका प्रसाद मिश्र की शक्ति-भावना

## परिचय एवं आधार :

सन् १९४५ में रचित कृष्णायन रामचरितमानस के आधार पर रचित हुआ है। दोहा, चौपाइयों में। सप्तकाण्डों में विभाजित यह अवधी भाषा में लिखा गया है। इस प्रबन्धकाव्य में भगवान कृष्ण के अवतरण से लेकर आरोहण तक की कथा है। कवि ने श्रीकृष्णचरित के समस्त आख्यान को गुम्फित कर डाला है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्हें सूर और तुलसी की शैली प्रिय लगी है। तथा महर्षि वेदव्यास तो आपके आधार हैं ही।

इस प्रकार, प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत् ही बोल रहा है; किन्तु वह केवल कथा-भाग को लेकर ही। विषय प्रतिपादन मिश्रजी का अपना है। इस ग्रन्थ में शक्ति-भावना का अन्वेषण करने के क्रम में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण का चित्रण ब्रह्म के रूप में किया गया है। इस परम शक्तिमान के साथ श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति राधा, और पत्नी रूप में रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्वती आदि का भी उल्लेख है। अनन्त शक्तियोंवाले शक्तिमान को इस लीला में सभी शक्तियाँ ही हैं पर मिश्रजी ने श्रीराधा के शक्तित्व पर विशेष ध्यान दिया है।

## स्वतन्त्रा शक्ति :

स्वतंत्र रूप में कई स्थानों पर शक्ति का उल्लेख है। मिश्रजी भारतीय परम्परा का हरिऔधजी की तरह उल्लेख करते दिखाई देते हैं और प्रियप्रवास की राधा की तरह गोपियाँ श्रीकृष्ण की प्राप्ति के निमित्त गौरी-पूजा करती दिखाई देती हैं—

**गौरी पूजा हरि-हित ठानी।[1]**

श्रीकृष्ण सत्यभामा को देश-दर्शन कराने के निमित्त जब लेकर जाते हैं तो वह स्थल भी दिखलाते हैं जहाँ भगवती शक्ति ने कालिका-रूप धारण कर शुंभ निशुंभ का वध किया था—

**शुंभ निशुंभ जहाँ संहारी। दीन्हें शीश कालिका डारी॥[2]**

रुक्मिणी भी भगवान श्रीकृष्ण के वरण-निमित्त कामनायुक्त होकर गौरी के

१. अतवरण-काण्ड—पृष्ठ ६८

२. द्वारका-काण्ड—पृ० ३३४



साथ भगवान शिव की पूजा करती है। भगवान शिव और पार्वती जगत-पितु-माता और विश्व के दम्पति हैं। वे भक्तों की कामना को शीघ्र ही पूरा करते हैं—

**करि भव-सहित भवानी-मंजन,**
**धूप दीप मालाक्षत-अर्पण,**
**रुचिराम्बर भूषण पहिरायो,**
**सजल नयन वर विनय सुनायो—**
**दम्पति तुमहि पुराण विश्व के,**
**प्रणयिन-उर जानत दोउ नीके।**
**दया-निकेत जगत-पितु-माता,**
**होहु मनोवांछित वर-दाता॥[1]**

शिव-शिवा के निवासस्थान कैलाश का भी श्रीकृष्ण-सत्यभामा दर्शन करते हैं—

**सन्मुख पुण्य शिखर कैलासा**
**जहाँ सतत शिव-शिवा निवासा॥[2]**

## वैष्णवी-शक्ति :

कृष्णायन में स्वतंत्र रूप में वैष्णवी शक्ति का भी उल्लेख है। उत्तरा को मृत पुत्र होने पर भगवान श्रीकृष्ण अपनी शक्ति को प्रकट कर मृत शिशु को जिला देते हैं। यह वैष्णवी समस्त सृष्टि का पालन करनेवाली है[3]—

**भूति वैष्णवी भरति जो त्रिभुवन,**
**भयी प्रकट सहसा विभु-आनन।**
**स्रवत शान्त, शीतल आलोका।**
**अनिमिष दृष्टि शिशुहिं अवलोका॥[4]**

भगवान सच्चिदानन्द के स्वरूप से इस प्रकार की अनेक शक्तियाँ विसृत होती रहती हैं। वे शक्तिमान हैं और शक्तियों से युक्त हैं—

**दमकत वदन सच्चिदानन्दा**
**अंग अंग स्रवत शक्ति-निष्पंदा॥[5]**

भगवान श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्दमय शक्ति-पति हैं। इनकी शक्ति के समक्ष

१. द्वारका-काण्ड—पृ० २४४

२. वही—पृ० ३५५

३. वैष्णवी शक्ति के लिए द्रष्टव्य : ललिता सहस्रनाम:
विश्वग्रासा विद्रुभामा वैष्णवी बिष्णुरूपिणी।
अयोनियेतिनिलया कूटस्था कुलरूपिणी॥२१७॥

४. आरोहण-काण्ड—पृ० ८४३

५. जयकाण्ड—पृ० ६१८

शिशु-पालन एवं कंस की कुछ भी नहीं चलती और उसकी मृत्यु के पश्चात् उनके शरीर का तेज प्रभु के वदन में समा जाता है। शक्ति का निवास ज्योतिर्मय है। यह ज्योतिर्मयी शक्ति अपने शक्तिमान के शरीर में प्रविष्ट हो जाती है—

> **प्रकटी चैध-देह तजि ज्वाला।**
> **टूटत व्योम मध्य जिमि तारा,**
> **होत विलीन असीम झंकारा,**
> **तैसेहि ज्योति आपु प्रकटानी,**
> **आपुहि हरि-पद परसि समानी ।।**[1]

राधा-शक्ति :

राधा भी ज्योतिर्मयी शक्ति है जो भगवान की प्राकृत लीला के लिए अवतरित हुई है। यह प्रेममयी है—

> **सुधा-सिक्त राधा-अंग सारे,**
> **जागी वदन ज्योति नव घोरे**
> **भयो न प्राकृत तिय पुनि तैसे**
> **जलकण स्वाती सीपी जैसे ।।**[2]

राधा ब्रज की शक्ति है अर्थात् ब्रज में निरन्तर निवास करनेवाली है। भगवान कृष्ण का ही यह आदेश है—

> **तुम ब्रज वसहु, करहु रखवारी**
> **सोंचहु प्रेम-विश्व दृग-नारी।**
> ....... ...... ......
> **धर्मादिक फल भागहिं चारो,**
> **लहहि प्रिया जग कृपा तुम्हारो ।।**[3]

यही कारण है कि राधा सदेह-भक्ति के रूप में दृष्टिगत होती है। कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण राधा की इसी छवि के दर्शन करते हैं—

> **राधा, भक्ति धरे जनु देही।**
> **आनन इन्दीवर अम्लाना,**
> **प्रभु-पद-दल दृष्टि सह प्राणा ।।**[4]

राधा के प्रथम दर्शन में ही श्रीकृष्ण को अपनी आद्या शक्ति की सुधि हो

---

१. पूजाकाण्ड—पृ० ४०२
२. अवतरण-काण्ड—पृ० ११६-१७
३. अवतरण-काण्ड—पृ० १००
४. गीता-काण्ड—पृ० ५२०



जाती है। अगर भगवान कृष्ण का अवतार लीला के लिए है तो राधा भी अपने शक्तिमान के साथ लीला के लिए प्रकट हुई है। शक्तिमान से विलग इसकी स्थिति भी नहीं है—

> **देखी श्याम राधिका भोरी।**
> **जनु कछु क्षीर-सिन्धु सुधि आयी,**
> **औचक मोहित भये कन्हाई ।।**[1]

पांचाली कुरुक्षेत्र में राधा का परिचय देती कहती दिखाई देती हैं—

> **यह त्रैलोक्य-सुन्दरी राधा,**
> **चरित अचिन्त्य, स्वभाव अगाधा ।।**[2]

त्रिपुर सुन्दरी राधा :

यह त्रैलोक सुन्दरी और अचिन्त्य चरित्रवाली राधा मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है जो अभिन्न भाव से उनके साथ विराजती है। यह अद्वयता चिरन्तन है। मात्र लीला के लिए दो शरीर भासित होते हैं। राधा में यह युगल रूप चिरन्तन से शोभित है—

> **राधा-माधव मध्य विराजे,**
> **छवि विलोकि रति मन्मथ लाजे ।।**[3]

राधा-माधव की नवलता के वर्णन में मिश्रजी ने शुचिता का योग कर डाला है—

> **नवल गोपाल नवेली राधा,**
> **उमहेउ नवल सनेह अगाधा।**
> **नवल पीत पट नवलहि सारी,**
> **नवल कुंज क्रीड़त वनवारी।**
> **नवल जमुन जल नवल तमाला,**
> **नवल पुलिन नव नव वनमाला।**
> ........ ........ ........
> ........ ........ ........
> **राधा-माधव संग सोहाये,**
> **नवल चन्द्र पै नव घन छाये ।।**[4]

---

१. अवतरण-काण्ड—पृ० ५४
२. गीता-काण्ड—पृ० ५२५
३. अवतरण-काण्ण—पृ० ९६
४. वही —पृ० ५५

**युगल-तत्त्व :**

राधा-कृष्ण दोनों एक दूसरे की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं और अपार शोभा के सागर में मानो डूबते-उतराते हैं।[1] यह युगल-तत्त्व शाश्वत है और उद्धव को भी वृन्दावन में वंशीवट की दिशा में युगल मूर्ति के ही दर्शन होते हैं। एक पल यह दृश्य दिखलाई देता है पुन: यह छवि विलीन हो जाती है।

उद्धव का भक्त-हृदय इस लीला का दर्शन कर विमुग्ध हो जाता है।[2] यशुमति के निवासस्थान पर जब वे इसी युवति का दर्शन करते हैं जो श्रीकृष्ण के साथ शोभिता थी, तो उद्धव विशेषरूपेण व्याकुल हो जाते हैं—

**यशुमति पार्श्व युवति सोइ देखी**
**विह्वल उद्धव भये बिसेखी।**[3]

**अद्वयता :**

श्रीकृष्ण से जब वे इस रहस्य की चर्चा करते हैं तो श्रीकृष्ण अपनी ओर राधा की अद्वैयता को प्रकट करते हैं—

**एकहि मैं अरु राधिका, द्वैतभाव भव-भ्रान्ति।**[4]

कुरुक्षेत्र में भी यशोदा कृष्ण को सन्देह उत्पन्न करने से वर्जना करती है—

**कहति अम्ब अब कान्ह नहि उपजावहु सन्देह,**
**जानत ब्रज हरि-राधिका एक प्राण दुह देह॥**[5]

रासलीला में मिश्रजी राधा-माधव की चिरन्तन लीला का वास्तविक अर्थ प्रकट करते दिखाई देते हैं—

**मंजु निकुंज ब्रह्म आसीना।**
**अंक विराजति प्रकृति प्रवीणा॥**[6]

ब्रह्म की प्रकृति ही ब्रह्म की शक्ति है। वही राम की सीता, शिव की पार्वती एवं कृष्ण की राधा है।

वैष्णवों का यही महाभाव है। इसमें शक्ति और शक्तिमान अद्वय भाव से विराजते

१. अवतरण-काण्ड—पृ० ५५
२. मथुरा-काण्ड—पृ० २२५
३. वही —पृ० २२६
४. वही —पृ० २२७
५. गीता-काण्ड —पृ० ५२३
६. अवतरण-काण्ड—पृ० ९८



हैं। रास के प्रकरण में राधा-माधव मिलकर एकाकार हो गये हैं—

**नील पीतपट, लट मुकुट, कुंडल श्रुति ताटंक,**
**अरुझान एकहिं एक मिलि, राधा-माधव अंक॥**[1]

इस दिव्य-लीला को देखने के निमित्त देवताओं का समूह जा जुटा है। सारा विश्व ही इस महारास के रस से तरंगित हो जाता है। यह विश्वात्मा की क्रीड़ा है जो प्रतिपल सृष्टि में हो रही है—

**अमर-वाम निजनिज पति संगा,**
**वही रास-रस विह्वल अंगा।**
**किन्नर सिद्ध नाग गन्धर्वा,**
**नभ नाचत अनुहारि हरि सर्वां॥**

.... .... .... ....

**विधि शारदा इन्द्र इन्द्राणी,**
**नाचत विहँसी महेश भवानी।**
**नहि जड़ चेतन कहुँ कोउ बाचा,**
**हरि-लय-लिप्त विश्व सब नाचा॥**[2]

आदिकामना :

इसे ही मिश्रजी ने दार्शनिक भाव में आदिकामना के रूप में व्यक्त किया है। ब्रह्म की प्रकृति, शक्ति एवं माया एक ही है। उसी का आधार लेकर ब्रह्म सृष्टि करते हैं। इसके लिए वे अपने को द्विधा विभाजित करते हैं। ब्रह्म की इसी आदिकामना से विश्व की उत्पत्ति होती है—

**सो मम माया, बस मोहि माहीं,**
**सृज नपूर्व एकत्व विहायी**
**चरहुँ होम में बहु मुनिराई,**
**यह मम आदिकामना जोई।**
**जीव कामना उद्गम सोई॥**[3]

आगम निगमादि सब एक स्वर से शक्ति एवं शक्तिमान के अभेदत्त्व की हामी भरते हैं। श्रीकृष्ण राधा के प्राकृत मोह को तोड़कर वास्तविक स्वरूप का ज्ञान

१. अवतरण काण्ड—पृष्ठ ९७
२. अवतरण काण्ड—पृष्ठ ९८
३. आरोहरण काण्ड—पृष्ठ ८९०

कराते हैं। मिश्रजी शक्ति के महत्त्व को श्रीकृष्ण के मुख से ही कहलवाते हैं। शक्ति के बिना शिव भी शव हो जाते हैं। श्रीकृष्ण राधा से कहते हैं कि जिस प्रकार दूध में धवलता और अग्नि में दाहकता रहती है उसी प्रकार तुम्हारा मुझमें निवास है—

**बसत प्रिये ! तस तुम मोहि माहीं,**
**तुमहि बिहाय मोरि गति नाहीं ॥[1]**

कृष्ण स्रष्टा हैं और राधा चिर नवीन सृष्टि है। जिस प्रकार सूर्य एवं उसके प्रकाश, चन्द्रमा और उसकी कान्ति, दीपक एवं उसकी शिखा, सागर एवं उसकी लहर, शब्द और अर्थ है उसी प्रकार कृष्ण एवं राधा का सम्बन्ध है। इस प्रकार, समस्त विश्व में एक ही तत्त्व है पर वह स्त्री एवं पुरुष के रूप में दिखलायी देता है—

**"व्याप्त विश्व भरि तत्त्व इक, दिखत पुरुष अरु नारि ।[2]"**

**लीलाधाम :**

ब्रह्म एवं उसकी शक्ति का स्थान तो सम्पूर्ण विश्व ही है पर फिर भी लीलाधाम का महत्त्व है। यही साकेत, कैलास एवं गोलोक है। मिश्रजी ने रमा के रूप में पवित्र द्वारावती का वर्णन किया है। द्वारावती श्रीकृष्ण की पुरी है जहाँ स्वर्ग का सुख लोट रहा है। यहाँ यदुकूल के वंश का वैभव बिखरा पड़ा है जिसकी गाथा को नारद त्रिभुवन में गाया करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की क्रीड़ा-भूमि वृन्दावन है जो रमणीय है। उसी का अपर नाम मधुवन है और यह पृथ्वी की शोभा है—

**जहाँ रम्य वृन्दावन मधुवन**
**महि अवतीर्ण मनहुँ वन नंदन ॥[4]**

यही धाम नित्य गोलोक है जहाँ निरन्तर रास एवं ब्रजक्रीड़ा होती रहती हैं। भक्तजन इसी लीलानंद को प्राप्त करने की कामना करते हैं। इस लोक में मणि की दीप्ति-सी अखण्ड ज्योति जागती रहती है। और, इस लोक में विषय-वासना का लेश नहीं है—

**मणि-प्रदीप सम सो यही लोका,**
**विषय-धूम-विरहित आलोका ॥[5]**

श्रीकृष्ण का यह धाम मानव पिण्ड में ही निवास करता है। अहं का

१. अवतरण काण्ड : पृष्ठ सं० ९९
२. वही पृ० ६९
३. द्वारका काण्ड : पृ० २३६
४. अवतरण काण्ड : पृ० ५
५. आरोहरा काण्ड-पृष्ठ ९०३



परित्याग कर ऋषियों ने पिण्ड में ही आत्म-स्वरूप के दर्शन किये हैं। हृदयरूपी इस आकाश में दिव्यतम ज्योति का निवास है—

**शीतल परमानन्द-मय सो शशि-रश्मि समान,**
**लहि तेहि शेष न शोक उर, सर्व दाह-अवसान ॥[1]**

इस दिव्यज्योति का अनुभव इस शरीर में साधना से एवं हृदय में भगवान की भक्ति से होता है। ऊपर मिश्रजी ने श्रीकृष्ण के मुख से उसी आत्मानुभव का वर्णन कराया है।

**रुक्मिणी :**

शक्ति के राधा रूप के अतिरिक्त श्री रुक्मिणी का भी वर्णन कृष्णायन में आया है। यह कथा पूर्णतः श्रीमद्भागवत के आधार पर है, रुक्मिणी द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की पटरानी है। विवाह के पूर्व ही वह भगवान श्रीकृष्ण की अनुरागिनी है। मिश्रजी विवाह के पूर्व रुक्मिणी का वर्णन ब्राह्मण-दूत के मुख से कहलवाते हैं—

**कुमुद देह पूर्णन्दुमुख, कर पद उषा-विलास,**
**वेणि श्रेणि अलि, मधु अधर, शरद चन्द्रिका हास ॥[2]**

रुक्मिणी अपने आराध्य को अपलक दृष्टि से देखने लगती है। रुक्मिणी भी श्रीकृष्ण की शक्ति ही है क्योंकि—

**युग युग परिचित लोचन चारी**
**मिले अभिन्न निजत्व बिसारी ॥[3]**

जब वह त्रिभुवन-तिय-मणि; सुषमा की अम्बुधि, द्वारका आती है तो एक उद्गार निम्नांकित शब्दों में प्रकट होता है—

**यह इन्दिरा अन्य कोउ नाही ।**
**प्रकटी पूर्व हरिहि मथि जल निधि,**
**लही आज पुनि मथि रण-वारिधि ॥[4]**

**महामाया :**

मिश्रजी रुक्मिणी को मायारूपा एवं श्रीकृष्ण को मायानाथ के रूप में सम्बोधित करते दिखाई देते हैं। यहाँ राधा के वर्णन से स्पष्ट अन्तर

१. आरोहा काण्ड : पृष्ठ ९००
२. द्वारका काण्ड : पृष्ठ २३७
३. द्वारका काण्ड : पृष्ठ २४६
४. वही पृष्ठ २५३

देखा गया है—

**प्रणायिनि माया संग भयेउ, मायानाथ विवाह ।।**[१]

माया भी मायापति की ही शक्ति है जिसके चरणों पर ऋद्धि और सिद्धि निरन्तर लोटती रहती है। सुदामा का द्वारकापुरी में सत्कार होने पर सुदामा भाव-विह्वल हो कहते दिखाई देते हैं—

**सेवत जाहि ऋद्धि-सिद्धि सारी**
**तेहि रुक्मिणी मोहि कीन्ह वयारी ।।**[२]

और ब्रह्म की माया-शक्ति पूर्णतः अपने शक्तिमान की सेवा में लीन रहा करती है—

**रुक्मिणी करत कंत सेवकाई ।**
**हास-विलास सरस आकर्षण**
**रंजति प्रणयिनि नारि हृदय-धन ।।**[३]

शाक्त-दर्शन के अनुसार महामाया शुद्ध चित्शक्ति स्वरूप है। परम-तत्त्व जो महाशव के रूप में है वही पद्म रूप में सृष्टि का रूप ग्रहण करता है। यही पद्म अथवा महाशव महामाया का आसन एवं क्रीड़ा-स्थल है। सृष्टिकाल में महामाया का यही कामकला रूप है।

रुक्मिणी का महामाया रूप भी अपने कृष्ण के साथ क्रीड़ानुरक्ता ही है। शक्ति का रूप भिन्न-भिन्न है पर प्रत्येक रूप में वह शक्तिमान के साथ अद्वैत भाव से संयुक्त रहा करती है।

**कालिय-नाग :**

श्रीमद्भागवत् के आधार पर कृष्णायन में भी श्रीकृष्ण को योगिराज कहा गया है। कृष्णायन में श्रीकृष्ण द्वारा कालिय-नाग को नाथकर कमल लाने का वर्णन आया है—

**अवनि पतिहिं व्रज-वृत्त सुनाये**
**काली नाथि कमल हरि लाये ।।**

कालिय नाग को नाथकर कमल लाने की कथा प्रतीकात्मक है और मिश्रजी

---

१. द्वारका काण्ड—पृष्ठ २५४
२. आरोहण काण्ड—पृष्ठ ८६८
३. आरोहण काण्ड—पृष्ठ ८६५



ने इसके माध्यम से कुण्डलिनी को जगाकर सहस्रार-भेदन की युक्ति से संगति बिठाने की चेष्टा की है।[१] कृष्ण को योगिराज कहने से यह संगति सटीक बैठी है।

**समापन :**

कृष्णायन के रचनाकार ने इस प्रकार यद्यपि श्रीमद्भागवत की कथा ली है फिर भी अब तक की धार्मिक विचारधाराओं का प्रभाव कवि पर पड़ा है। शाक्त-भावना तो एक विचारधारा है जो सामाजिक रिक्थ के रूप में सदा ही वर्तमान रहा है। उस भावना में शक्ति का महत्त्व है। कृष्णायन के कवि ने शक्ति के इस महत्त्व को अपने ग्रन्थ में भलीभाँति दर्शाया है।

●

१. द्रष्टव्य : मा० प्र० वि०—पृ० १८९-९०

# धर्मवीर भारती

## नास्तिक वैष्णव की राधा :

बौद्धिकता एवं मनोविज्ञान के युग में भी राधा का आश्रय लेकर एक ग्रन्थ की रचना हुई है और वह ग्रन्थ है कनुप्रिया । उस ग्रन्थ के विषय में एक विद्वान की आलोचना है कि यह एक नास्तिक वैष्णव की राधा है ।

राधा को भारतीय धर्म-साधना में श्रीकृष्ण की आह्लादिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । यह आह्लादिका शक्ति प्रेममूला है । राधा को कवियों ने चाहे जिस किसी रूप में ग्रहण किया हो प्रेम-तत्त्व को लेकर ही राधा की निर्मिति हुई है ।

प्रेम-तत्त्व चिरन्तन सत्य है । यह काम ही भित्ति पर आधार पाता है और काम ही विश्व-सृजन का मूलतत्त्व है । इस दृष्टि से विश्व के सृजन का आधार भी प्रेम-तत्त्व ही है । इस नाते प्रेममयी राधा, शक्तिमयी राधा एवं आह्लादिका राधा में तत्त्वतः कोई अन्तर ही नहीं है ।

## अभेदत्व :

भारती ने राधा को राधा कहकर स्वीकार नहीं किया है । राधा और कृष्ण दो भिन्न संज्ञाओं का द्योतन करते हैं जिसमें पार्थक्य भाव का सहजबोध होता है; किन्तु भारती ने कनुप्रिया संज्ञा का प्रयोग किया है । कनुप्रिया दो भिन्न व्यक्तियों की एक ही संज्ञा है । भारती का उद्देश्य अभिन्नता को ही दिखलाना है, इसलिए राधा का रूप यहाँ कृष्ण के भीतर आत्मसात सा हो गया है । कवि ने भूमिका में ही कहा है—कि "महत्त्व उसका होता है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है-चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे वाध्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है, जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है—इस तरह है कि समस्त वाह्य—अतीत, वर्तमान और भविष्य—सिमटकर उस क्षण में पुंजीभूत हो गया, है और हम नहीं रहे ।[1]

हम हम नहीं रहें, ऐसी स्थिति चरम तन्मयता के क्षणों में ही सम्भव है और भी यह तब सम्भव है जब सहज मन से जीवन को जिया जाये ।

## सहजता :

यह सहजता ही कनुप्रिया की आत्मा है । वह सहजता लोक एवं आध्यात्म

१—कनुप्रिया (१९५९)—पृ० ६



को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता रखती है ।वह सहजता मांसलता एवं अतीन्द्रियता को एकाकार कर डालती है । वह सहजता जीवन के व्यापारों की विविधता में अपनी सत्ता नहीं खोती जैसे सितार के पदों की झंकार में प्रधान स्वर मुखर रहा करता है ।

इस दृष्टि से भारती को नास्तिक वैष्णव कहना कुछ संगत नहीं लगता । यह है कि उन्होंने परम्परागत वैष्णवता का परित्याग कर दिया हो । यह भी है कि कृष्ण अवतारी ब्रह्म के रूप में उसके काव्य में नहीं अवतरित हुए हैं, पर कनुप्रिया तो उसी कृष्ण की आत्मा है । और, आधुनिक युग में आस्तिकता केवल सत्ता की स्वीकृति को ही कहा जाना चाहिये, लकीर पाटने की प्रवृत्ति को नहीं । इतना तो सत्य ही है कि कनुप्रिया का जन्म मनोविज्ञान के धरातल पर हुआ है, इसीसे कनुप्रिया भय और भक्ति का कारण नहीं बनती, वह समग्रता से हमारे अन्तर्तम में प्रविष्ठ हो जाती है ।

## अन्तर्हित शक्ति :

यही कारण है कि कनुप्रिया में हमें शक्ति-तत्त्व का एक नया स्वरूप दिखलायी देता है । कनुप्रिया कृष्ण की शक्ति है, उनकी अन्तर्हित शक्ति है (latent energy) जो अथ से इति तक उनके समस्त व्यापारों का आधार है । स्वयं शक्ति को ज्ञात है कि उसी का आधार लेकर शक्तिमान की सत्ता है । वही वह धुरी है जिससे वह शक्तिमान हो रहा है । पूर्व राग से लेकर समुद्र-स्वप्न तक वही कथित-तत्त्व बोल रहा है ।

## मानवत्व की भूमि पर :

श्रीकृष्ण के चरित्र में अब तक या तो वे अवतारी पुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं या उन्हें मानव के रूप में प्रतिष्ठित कर महामानवीय कर्मों के आधार पर ईश्वरत्व प्रदान किया गया है ।

महामानव का रूप हमारी धार्मिक आस्थाओं के साथ खिलवाड़ नहीं करने पाता—इसीलिए हरिऔधजी ने कृष्ण के इस रूप में आधुनिकता एवं आस्था का मणिकंचन संयोग करने का प्रयास किया ।

अवतारी रूपों में मानवाचरण करते हुए कृष्ण इतनी सीमा तक लोक का स्पर्श करने लगते हैं कि कवियों को बार-बार कथा-क्रम में कोंच-कोंच कर चेतावनी देनी पड़ी कि यह परम शक्तिमान ब्रह्म की प्रकृत लीला है और उनको मानव समझने की भूल कदापि न हो । गोस्वामीजी ने एक पग और आगे बढ़कर सती के शरीर त्याग का कारण भी इसी मोह को माना ।

भारती के कृष्ण और उनकी प्रिया मानव हैं—सहज मानव, अर्थात् मानव

की मानसभूमि के सहज प्राणी जिसके फलस्वरुप सहज भावबोध होने में कोई कठिनाई नहीं। किन्तु, मानव तो उसी विराट ब्रह्म का अंश है। इस कारण, विराट ब्रह्म की जो भी उदात्त मनोवृत्ति है वह सहजभाव में मानव मन में भी निवास करती दिखाई देती है। यह उसी विराट चेतना का संस्पर्श है जो चरम अभिव्यक्ति के क्षणों में हमारे भीतर मूर्त हो जाती है। इस आधार पर किसी भी नर एवं नारी का प्रेम अगर वह चरम तन्मयता का हो तो उसी विराट की भावभूमि का स्पर्श करने लगेगा। इस नाते सांसारिक प्रेमी एवं राधाकृष्ण के प्रेम में कोई अन्तर नहीं। अन्तर केवल चरम तन्मयता का है। इस भावभूमि पर काया का कोई आकर्षण नहीं रहता।

भाव-परिणय :

कनुप्रिया इसी भाव को 'आम्र बौर का अर्थ' में व्यक्त करती है, जहाँ रूप भी अरूप हो जाता है और एकमात्र भाव ही सजग रहता है—

सुनो तुम्हारे अधर, तुम्हारी पलकें, तुम्हारी बांहें,
तुम्हारे चरण, तुम्हारे अंग-प्रत्यंग, तुम्हारी सारी
चम्पक वर्णी देह, मात्र पगडण्डियां हैं जो
चरम साक्षात्कार के क्षणों में रहती ही नहीं—
रीत रीत जाती है।[1]

और, पगडण्डियां ही है, गन्तव्य नहीं; गन्तव्य है चरम साक्षात्कार। शरीर का भाव समाप्त हो जाने पर कनुप्रिया मात्र एक सुगन्ध सी रह जाती है —

आधी रात महकने वाले इन रजनीगंधा के फूलों
की प्रगाढ़ मधुर गन्ध—
आकारहीन, वर्णहीन, रूपहीन ....... .. ।।[2]

भारती की यह स्थापना ही है कि भाव की चरम सीमा ही वास्तविक परिणय है। इसे ही ब्रह्मानन्द की संज्ञा दी गयी है। वहाँ राधा एवं कृष्ण नहीं, मात्र कनुप्रिया है। कृष्ण की सत्ता वहाँ लीन हो जाती है और राधा की भी। वह एक भाव है—अर्थात् चरम तन्मयता। कनुप्रिया भी एक भाव ही है।

यही शक्ति-शक्तिमान का मिलन है। यही वैष्णवों का महारास है। तथा, यही कामकला है।

यह कनुप्रिया 'रेशे रेशे में सोयी हुई' है और अब समय आ गया है कि वह

१. कनुप्रिया : मंजरी-परिणय—पृ० २९
२. कनुप्रिया : मंजरी-परिणय—पृ० ३०



'नस-नस में पंख पसारकर' उड़ेगी। यह प्रच्छन्न शक्ति तो प्रत्येक के शरीर में निवास करती है आवश्यकता है चरम तन्मयता के क्षणों में उसको जानने की। गोस्वामीजी ने इसी भाव को 'जानत तुम्हिं तुम्हिं होई जाई' के द्वारा व्यक्त किया है। अशोक वृक्ष का नारी के पदाघात से पुष्पित होना उसी शक्ति की ओर संकेत करता है जब वह जीवनी-शक्ति बनकर मानव जगत् और प्राकृतिक जगत् में भी विकास दे डालती है।[1]

लीला-संगिनी :

कनुप्रिया अपने कनु की जन्म जन्मान्तर की रहस्यमयी लीला की एकान्त संगिनी है। रहस्य यही है कि प्राणों का आदान प्रदान कैसे हो पाता है। लीला उसी की है जब द्वैत-बाधा समाप्त होकर अद्वैतावस्था में परिणत हो जाती है। सृष्टि के आरम्भ से ही यह क्रिया चल रही है और अनन्तकाल तक चलती चलेगी।[2] इस प्रणय व्यापार में आलम्बन ही एकमात्र सत्य है और प्रणय व्यापार की कायिक क्रियाओं के सारे उपकरण भी तो आलम्बनगत ही है। यही कारण है कि कनुप्रिया कहती है—

वह आम की ताजी, ववांरी, तुर्श मंजरी में ही थी
और तुमने मुझसे ही मेरी मांग भरी थी।[3]

नारी-शक्ति का जो निजत्व है, जो उसका आन्तरिक अर्थ है उसे मर्यादा की आवश्यकता होती है। अमर्यादित स्वरूप वासना का होता है जो नीचे स्तर पर वासनात्मक आवर्त्तों में अपनी सिद्धि की विफलता की घोषणा करता है। कनुप्रिया भी अपने निजत्व को मर्यादित, रसमय एवं पवित्र रखती है।[4] इस परिणय में ऐसा विरोध है जो सम्पूर्णतः बाँधकर भी सम्पूर्णतः मुक्त छोड़ देता है। यह मुक्ति ही मानो बन्धन बन जाती है और बन्धन ही मुक्ति।[5]

शक्ति-तत्त्व :

कनुप्रिया स्वयं शक्तिमयी है। कृष्ण के प्रत्येक कार्य में उसकी ही शक्ति

१. कनुप्रिया-पहला गीत—पृ० ११-१२
२. वही-आम्र बौर का गीत—पृ० २३
३. कनुप्रिया : मंजरी परिणय—पृ० ३३
४. ,, ,, पृ० ३३
५. ,, ,, पृ० ३४

मुखर है। यही शक्ति है जिसका सम्बल पाकर शक्तिमान शक्तिमान होते हैं।

**तुम्हारी शक्ति तो मैं ही हूँ**
**तुम्हारा सम्बल,**
**तुम्हारी योगमाया,**[1]

और, कनुप्रिया अखिल विश्व की शक्ति है जो अग-जग में प्रतिभासित हो रही है—

**इस निखिल पारावार में मैं ही परिव्याप्त हूँ**
**विराट,**
**सीमाहीन,**
**अदम्य,**
**दुर्दान्त।**

वही जो अपनी सीमाहीनता में विराट है, सीमा में आबद्ध होकर अपनी संज्ञा मूल प्रकृत नारी की विवशताओं से भरी दिखलायी देती है पर चेतना का संस्पर्श ही वास्तविक ज्ञान है—

**पर जब मुझे चेत हुआ**
**तो मैंने पाया कि हाय सीमा कैसी**
**मैं तो वह हूँ जिसे दिग्वधू कहते हैं, कालवधू—**[2]

और वह समय और दिशाओं की सीमाहीन पगडण्डियों पर अनन्तकाल से अनन्त दिशाओं में कृष्ण के साथ चलती आ रही है, चलती चली जायेगी। उसकी इस यात्रा का उनमें से किसी को भी स्मरण नहीं और यह यात्रा भी अन्तहीन है।

किन्तु, भारती इसके साथ-साथ अवतारी लीला का भी आभास दे डालते हैं। अवतारी लीला के जो व्यापार हैं वे नित्य लीला के भी वे ही व्यापार हैं। और, जो प्रकृत लोक में वृन्दावन की लीला है, वही दिव्यलोक में गोलोक की लीला है। कनुप्रिया उसी भाव का संकेत निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाई देती है—

**तुमने चाहा है कि मैं इसी जन्म में**
**इसी थोड़ी-सी अवधि में जन्मजन्मान्तर की**
**समस्त यात्राएँ फिर से दोहरा लूँ॥**[3]

और, इस यात्रा को दुहराने के क्रम में शक्ति के नये-नये रूप दृष्टिगत होते हैं। शक्ति ही मूल स्रोत है और वह शक्तिमान को इस लौकिक धरातल पर अनेक रूपों में प्रेरणा देती है। उसका स्रोत उसकी शक्ति है जो प्रेम के विविध रूपों में

---

१. अनुप्रिया : मंजरी-परिणय—पृ० ३८
२. कनुप्रिया—मंजरी-परिणय—पृ० ३८
३. वही ,, —पृ० ३९



सांसारिक सम्बन्ध बनकर प्रकट होता है—ये नयी व्याख्याएँ हैं—

**सखा-साधिका-बांधवी**
**माँ-वधू-सहचरी—**
**और मैं बारबार नये रूपों में**
**उमड़-उमड़ कर**
**तुम्हारे तट आयी**
**और तुमने हर बार अथाह समुद्र की भाँति**
**मुझे धारण कर लिया**
**विलीन कर दिया ...... ।**[1]

वर्षा की बौछार से रक्षा करती जब कनुप्रिया अपने आंचल में कृष्ण को दुबका लेती है तो उस समय भावना ऐसी हो जाती है कि वह प्रिया नहीं, माँ है और यह संज्ञा भी विलुप्त हो जाती है कि जल प्रलय से ब्रज की रक्षा करनेवाला कृष्ण कितना बड़ा है और वह स्वयं बड़ी छोटी है![2]

सारी सीमाओं का ज्ञान हमारा अज्ञान ही है। हम असीम हैं। शक्ति भी वही है। वह कहीं तो विराट बन जाती है और कहीं अत्यन्त ही लघु। यह चरम तन्मयता ही है जो ऐसा भाव-बोध देती है। चरम तन्मयता के भाव से अज्ञ सखियाँ ही इस व्यापार पर कुटिलता से हँस सकती हैं। इस भाव-बोध में सारे सांसारिक सम्बन्ध निरर्थक हो जाते हैं।

### सृष्टि-संकल्प :

सृष्टि-संकल्प में शक्ति एवं शक्तिमान की क्रीड़ा से प्रादुर्भूत सृष्टि एवं उसके विलयन के दार्शनिक सिद्धान्त को काव्यात्मक वाणी दी गयी है।

काल की अनन्त पगडण्डी पर चलते हुए प्राकृतिक जगत् में होनेवाले कार्य-व्यापारों में सूर्य एवं चन्द्रमा की अनथक यात्रा में, बहते हुए अंधड़, गरजते महासागर में झकोरों में नाचती पत्तियों में, धूप में खिले फूलों में तथा चांदनी में सरकती नदियों में, उसी शक्तिमान की इच्छा-शक्ति बोल रही है। सृष्टि के सारे सृजन, विनाश, प्रवाह एवं अविराम जीवन-प्रक्रिया का अर्थ केवल शक्तिमान की इच्छा है।

और, शक्तिमान की समस्त इच्छाओं का अर्थ उसकी शक्ति है और वह अन्य कोई नहीं स्वयं कनुप्रिया है।[3]

---

१. कनुप्रिया; मंजरी परिणय—पृ० ४०
२. कनुप्रिया—पृष्ठ ३७
३. ,, —पृष्ठ ४३-४४

शक्ति एवं शक्तिमान की अनन्त लीला ही उनका सृष्टि-रचना का कार्यक्रम है और कूटस्थ शक्तिमान में शक्ति का लय हो जाना ही प्रलय है। सृष्टि और लय की अनवरत प्रक्रिया चलती रहती है।

और यह समस्त सृष्टि रह ही नहीं जाती
लीन हो जाती है
जब मैं प्रगाढ़ वासना उद्दाम, क्रीड़ा
और गहरे प्यार के बाद
थक कर तुम्हारी चन्दन-बाँहों में
अचेत बेसुध सो जाती हूँ
यह निखिल सृष्टि लय हो जाती है ॥[1]

और, सृष्टि-रचना में—

वह आधीरात का प्रलय शून्य सन्नाटा
फिर
काँपते गुलाबी जिस्मों
गुनगुने स्पर्शों
कसती हुई बांहों
अस्फुट सीत्कारों
गहरी सौरभमयी उसाँसों
और अन्त में एक सार्थक शिथिल मौन से
आबाद हो जाता है

रचना की तरह
सृष्टि की तरह ॥[2]

शक्ति एवं शक्तिमान के प्रगाढ़ विलास एवं अतृप्त क्रीड़ा की अनन्त पुनरावृत्तियों में शक्तिमान के अस्तित्व का अर्थ एकमात्र कनुप्रिया ही है जो स्वयं शक्ति है—

तुम्हारे सम्पूर्ण अस्तित्व का अर्थ है
मात्र तुम्हारी सृष्टि
तुम्हारा सम्पूर्ण सृष्टि का अर्थ है
मात्र तुम्हारी इच्छा

१. कनुप्रिया—पृष्ठ ४५
२. ,, —पृष्ठ ४६



और तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा का अर्थ है
केवल मैं।
केवल मैं॥
केवल मैं॥।[1]

भारती ने शक्ति का लीलातन इस निखिल सृष्टि को ही माना है।

ये उतुंग हिमशिखर उसके ही-रूपहली ढलानवाले
गोरे कन्धे हैं। चाँदनी में हिलोरे लेता महासागर
उसी के निरावृत जिस्म का उतार-चढ़ाव है। ये
उमड़ते मेघ उसकी ही बलखाती लटें हैं। सूर्यास्त
बेला में पश्चिम की ओर झरते हुए अजस्र प्रवाही
झरने उसको ही स्वर्ण-वार्णी जंघाएँ हैं। रात
उसी की प्रगाढ़ता है, दिन उसी की हँसी है, फूल
उसीका स्पर्श है, और हरियाली उसीका आलिंगन है।[2]

चित्-शक्ति के इस प्रवाह के साथ-साथ कवि एक भय की छाया भी देता है। एक ओर चिति का निखिल सृष्टि में परिव्याप्त लीलातन है और वही भयाक्रान्त छायातन है।[3] कवि ने इन दोनों को विरोधी रूपों में नहीं चित्रित किया है। दोनों ही एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। एक काल की सीमा से आबद्ध, विच्छिन्न रूप है जो चरम साक्षात्कार के संस्पर्श से वंचित है। अर्थात्, सांसारिकताओं में लिपटी नारी-शक्ति है और दूसरा रूप वह है जो चरम साक्षात्कार की भावभूमि पर आसीन है और वह अपनी सारी दिव्यताओं से वास्तविक रूप है।

कामकला :

केलि सखी में भारती ने इस रति-क्रीड़ा का चित्र प्रस्तुत किया है। यह चित्र भावात्मकता की दृष्टि से श्रेष्ठ है और मांसलता की भावभूमि पर बोलता-सा लग रहा है; पर कहीं-कहीं बीच में कनुप्रिया अपनी वास्तविक सत्ता का उद्घाटन करती है—

यह प्रगाढ़ अन्धेरे के कण्ठ में झूमती
ग्रहों, उपग्रहों और नक्षत्रों की
ज्योतिमाला में ही हूँ
और असंख्य ब्रह्माण्डों का
दिशाओं का, समय का
अनन्त प्रवाह में ही हूँ॥[4]

१. कनुप्रिया—पृष्ठ ४७
२. कनुप्रिया—पृष्ठ ४८-४९
३. वही — ,, ४८-५२
४. वही — ,, ५५

यह अद्वैतता चरम लीनता के क्षणों में प्रकट होती दिखाई देती है—

**दिशा में घुल गयी हैं**
**जगत लीन हो चुका है**
**समय मेरे अलकपाश में बँध चुका है**
**और इस निखिल सृष्टि के**
**अपार विस्तार में**
**तुम्हारे साथ केवल मैं हूँ-केवल मैं**
**तुम्हारी अन्तरङ्ग केलि सखी।**[1]

कनुप्रिया 'केलि सखी' है। वह इस निखिल सृष्टि के अपार विस्तार में कृष्ण के साथ अभिन्न भाव से जुड़ी है। इसके बिना कृष्ण असमर्थ से हैं क्योंकि वही उनका स्पन्द है, वही उनकी चेतना है और वही उनकी लीला भी है।

नारी-शक्ति :

इस प्रकार भारती यह स्वीकार करते दिखाई देते हैं कि विश्व की प्रत्येक नारी शक्ति है और वह अपने अर्द्धांग पुरुष की शक्ति है। किन्तु आवश्यकता है चरम तन्मयता की। यही चरमतन्मयता सिद्धि है। इसे या तो सहज भाव से प्राप्त किया जा सकता है जैसा सहज पानी सिद्धों का विश्वास था अथवा साधना के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। पुनः अपने राग-विरागों से ऊपर उठकर उदात्त भावभूमि में भी यह संभव है। संभव है इस भावना के लिए भारती सिद्धों के ऋणी हों। सिद्धों के दर्शन के सम्बन्ध में आपकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उपर्युक्त विचार की पुष्टि कर सकेंगी—

'सिद्धों का दर्शन भव के उपयोग का उपदेश देता था किन्तु महाराग द्वारा परिशोधिक कर लेने के उपरान्त। वह केवल भोगवादी जीवन-दर्शन नहीं था। आध्यात्मिक चेतना के बिना यह उपभोग बन्धन में डाल देता था।[2]

कृष्ण चरित में राधा कृष्ण की किशोरावस्था की लीला सखी मात्र रह जाती है। उनकी मथुरा-यात्रा के पश्चात् राधा से उनकी एकमात्र भेंट कुरुक्षेत्र में होती है। इस प्रकार, राजनीतिज्ञ एवं योद्धा कृष्ण की लीला में राधा का कोई स्थान नहीं।

अगर राधा कृष्ण की लीला सखी थी तो उनकी समस्त लीलाओं में उसे स्थान अवश्य ही मिलना चाहिए था। पर कृष्ण की बाद की लीलाओं में राधा

१. कनुप्रिया—पृ० ५७
२. सिद्ध-साहित्य—पृ० २३३



के लिए कोई अवकाश नहीं।

इतिहास, राधा के साथ चरम साक्षात्कार के एक गहरे क्षण से ज्यादा प्रभावशाली नहीं पर राधा प्रत्यंचा सी काँपती रह जाती है। वह मात्र एक सेतु थी क्या ? कृष्ण के राजनीतिक जीवन का समग्र इतिहास क्या है-मात्र शब्द। और शब्द क्या है ? वह ध्वनियों का समूह है। ध्वनि अर्थात् नाद और नाद भी तो शक्ति ही है। वही वाक है –

**शब्द शब्द, शब्द**
**तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु-संख्यातीत**
**पर उनका अर्थ मात्र एक है—**
**मैं,**
**मैं,**
**केवल मैं॥**[1]

किन्तु, इतिहास कृष्ण के लिए सफल नहीं हुआ। अन्धायुग में कवि ने जिस पराजयत्व के भाव से पीड़ित प्राणियों का उल्लेख किया है, वही पीड़ा कृष्ण की शिराओं में व्याप्त रही है। इतिहास के बन्धन से मुक्त होने के बाद कृष्ण को फिर अपनी प्रिया की याद आयी है।[2] यह नहीं कि इतिहास गूंथते समय वह शक्ति नहीं थी। वह थी पर भौतिकता की विजय भावना, पारस्परिक स्पर्द्धा एवं स्वार्थ की परतों में अपने रागात्मक रूप का परित्याग किये थी। वही समापन के क्रम में उनकी प्रतीक्षा में जन्म-जन्मान्तर के मोड़ पर खड़ी है।

समापन :

इस प्रकार, कनुप्रिया की समस्त कथा का आधार यद्यपि प्राचीन है किन्तु संकेत सर्वथा नवीन है। कनुप्रिया लोक एवं अध्यात्म दोनों की सीमाओं का स्पर्श करती सा लगती है। उसका काया वैष्णव की है और आत्मा में शाक्त-भावना का रंग भरा गया है। शक्तिवाद के एक ऐसे तथ्य को लेकर काव्य का प्रणयन किया गया है जो अभी तक अछूता रहा है। इसमें औपनिषदिक ब्रह्मवादी भावना के समान समस्त विश्व में शक्ति को देखने का प्रयास है और उस शक्ति का निर्माण पूर्ण मनोवैज्ञानिकता के आधार पर हुआ है। यही कारण है कि कनुप्रिया एक साथ ही असीम और ससीम है।

कनुप्रिया धर्मवीर भारती की एक ऐसी सृष्टि है जो इतिहास की आकांक्षा में, दर्शन गुंजलिका में और मानवों की कसमसाती हुई उदात्ता में बोल रही है।

१. कनुप्रिया—पृ० ७७
२. वही —पृ० ८३

# समापन

पिछले पृष्ठों में शक्ति-तत्त्व के एक व्यापक प्रभाव का सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वैष्णव कवियों ने शक्ति-तत्त्व को उसके दार्शनिक रूप में ही स्वीकार कर लिया और शाक्त-प्रभाव इतने गहरे पड़े हैं कि उसे अलग करना कष्टसाध्य ही नहीं, असम्भव भी हो गया है। शक्ति की उपासना की तीन पद्धतियाँ लोक प्रचलित रही हैं—एक,सामान्य शिष्ट पद्धति जो अधिकतर स्मार्तों द्वारा स्वीकृत है और जो अहिंसात्मक रही है, दूसरी भयंकर पद्धति जो शिव के उपासकों द्वारा कापालिक या कालमुख संप्रदाय में प्रचलित है, और तीसरी पद्धति शाक्तों की रही है जो भावात्मक एवं क्रियात्मक साधना है। इसमें पूजा, भक्ति एवं साधना से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की जाती है।

भयंकर पद्धति सर्वदा ही भय एवं आतंक की दृष्टि से देखी जाती रही और यह जनरुचि को आकृष्ट भी नहीं कर सकी है, यद्यपि इसका एक रूप ओझा एवं भगतों द्वारा आज भी समाज में प्रचारित है। मारण, उच्चाटन, वशीकरण तथा प्रेत-विद्या इत्यादि इन्हीं वर्गों की साधना में सीमित रह गये हैं।

इसके अतिरिक्त स्मार्त पद्धति में ही प्राय: समस्त हिन्दू देवी देवताओं का-समावेश हो गया है। हमारे सामाजिक जीवन में माई का गहवर एवं भगवान् राम का मंदिर—दोनों ही समान श्रद्धा के पात्र हैं और माई को अत्यन्त मिश्रित भक्ति की भावना से पूजा जाता है। अपने सामाजिक जीवन में मातृ-शक्ति की इस महत्ता को हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

हमने देखा है कि यह मातृ-भावना ही आदि भावना है जो द्रविड़ों के यहां से होती हुई, आर्य-देवताओं की शक्तियों का स्थान ग्रहण करती हुई, कालान्तर में 'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते' में एक मूलभूता शक्ति के रूप में दार्शनिक स्वरूप धारण करती है। शक्ति की मूलभूत एकता को स्वीकार कर लेने पर भी उनके विविध रूपों को स्वीकृति दी गयी। यह वैसे ही हुआ जैसे एक ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करने पर भी जनमानस अपनी रुचि के अनुकुल विविध देवों की उपासना में तृप्ति का अनुभव करता रहा। शक्ति के बहुरूपों में स्वाभाविक था कि कुछ रूपों को लोकप्रियता विशेष रुप में प्राप्त हो, और हमने देखा है कि राधा के रूप को सर्वांशीत: प्रचार और प्रसार मिला। उसका कारण राधा का प्रेम-तत्त्व था जो व्यक्ति के जीवन की मूल भित्ति है। प्रेम-तत्त्व से शून्य होने पर राधा की वही



परिणति होती जो अन्य देवियों की हुई। और विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते है कि राधा विशुद्ध लोकमानस की कृति है।

लोकमानस के प्रसंग में हमें सदा इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि लोकमानस ही साहित्य को खुराक पहुँचाता रहा है। लोकचेतना को जानने का हमारे पास साहित्य के अतिरिक्त और कोई साधन भी नहीं है। जहाँ हम भक्ति की चर्चा करते हैं और उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए वैदिक उत्स तक की खोज कर डालते हैं, वहाँ दूसरी ओर हम देखते हैं कि लोकचेतना ही वैदिक साहित्य में विविध रूपों में अभिव्यक्ति पाती रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी उस सत्य का उद्घाटन आलवारों के प्रसंग में किया है आलवारों का भक्तिवाद भी जन-साधारण की वस्तु था तो शास्त्रों का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रमबद्ध एवं सुचिन्तित रूप दिया।[1]

भक्ति-आन्दोलन सही रूप में आन्दोलन था, किन्तु उसकी भावना एकाएक अवतरित नहीं हुई थी। वह लोकमानस में वर्तमान थी जिसने समय एवं सुअवसर पाकर आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। अपने इस आन्दोलन के प्रभाव में इसने सभी धार्मिक सम्प्रदायों पर प्रभाव डाला और स्वयं भी सभी धार्मिक संप्रदायों को आत्मसात करनेवाला सिद्ध हुआ। अन्तर इतना ही था कि इसमें अहिंसा अथवा दक्षिण की भावना प्रधान हो गयी, अत: इसमें केवल उग्र शाक्त ही नहीं समा सके। पुन: ये उग्र शाक्त लोकग्राह्य भी नहीं थे।[2]

अत:, यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये कि शक्ति-भावना की लोकचेतना अपनी समग्रता में भक्ति के रंग में भींग गयी। हमने देखा है कि शक्ति-भावना के मूल में काम-भावना का भी योगदान है। यह काम-भावना कोई दूषित भावना नहीं।[3] सृष्टि का मूल यही तत्त्व है और यह सृष्टि भी ब्रह्म की इच्छा से ही है, ऐसा विश्व के समस्त धर्मों के अनुसार सिद्ध सत्य है। प्रसादजी ने काम को प्रेम से भी अधिक व्यापक माना है और बताया है कि वह समस्त भावनाओं को आत्मसात्त करनेवाला है। यही भावना कामकला के रूप में उपासित हुई। यह भावना सौन्दर्य, आनन्द एवं उन्मद भाव की साधना प्रणाली थी।[4]

काम की लोकचेतना में इतनी महत्ता थी कि इसे उपान्त्य काम्य के रूप में

१. हिन्दी साहित्य - पृ० ९०
२. डा० सत्येन्द्र : म० हि० क० का लो०सा०अ०-आगरा- (१९६०), पृ० ६५
३. रामपूजन तिवारी : ब्रजबुलि साहित्य—पृ० ५५-५३
४. ज० प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० २०

स्वीकार किया गया।[१] यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य की साधना करनेवाले योगी भी सहस्रार में कुंडलिनी-शक्ति को जागृत कर सहस्रार शिव से संयोग कराते दिखलाई देते थे। इसकी महत्ता का परिचय भी निम्नांकित तथ्य से हो जाता है कि आध्यात्मिक जीव को महत्त्व देनेवाले लोगों ने भी ब्रह्मपरक अनुभूति का परिचय देते समय उसे संयोगानन्द के तुल्य स्वीकार किया है तथा परमात्मा-विषयक अनुभूति को प्रियतमा के आलिंगनजनित आनन्द के रूप में वर्णित किया है—

तद्यथा पियया स्त्रिया परिष्वक्ता ...... ....अयं पुरुष :
प्राज्ञेनात्मना समपरिष्वक्तो।[२]

गोस्वामी तुलसीदासजी को भी अपनी आसक्ति को निम्नांकित रूप में ही व्यक्त करना पड़ा—

कामिहिं नारि पियारि जिमि ...... .... ..

किन्तु यह साक्षात् त्वचा-स्पर्श का आनन्द नहीं है, कल्पना का मनस-स्पर्श है। यही कारण है कि उसे उत्कृष्ट उपासना की संज्ञा दी जाती है।[३] शाश्वत सत्य होने के कारण शक्ति-भावना का किसी भी काल में प्रभाव कम नहीं रहा होगा।

तब सहज ही एक प्रश्न उठाया जा सकता है—इस शोधप्रबन्ध में आलोचित सभी कवि क्या शाक्त-दर्शन या तत्त्व से साक्षात् संपर्क में आकर प्रभावित हुए या सभी कवियों की आत्मा क्या शाक्त ही थी?

लोकमानस की महत्ता की चर्चा करते समय बारंबार इसको स्पष्ट किया गया है कि शक्ति-तत्त्व लोकमानस की सृष्टि थी और लोकमानस में अपने चिरंतन स्वरूप में विद्यमान रही है। अतः, यह सामाजिक रिक्थ के रूप में प्रत्येक काल में विराजमान रही है और रहेगी।

एक शोधार्थी के नाते यह मैं स्वीकार करता हूँ कि विवेच्य कवियों में से अनेक ने एक शाक्त के रूप में नहीं, बल्कि एक सामाजिक रिक्थ के रूप में शक्ति-तत्त्व को ग्रहण किया है। इन कवियों का विवेचन इसलिए हमारे विषय की परिधि में आ जाता है कि मैं उस संश्लिष्ट सामाजिक रिक्थ में से उन विशिष्ट तथ्यों को अलग छाँट दूँ जो कि पारिभाषिक रूप में शाक्त-तत्त्व या शाक्त-भावना से अनुप्राणित माने जायेंगे।

साक्षात् संपर्क तो बिना सम्यक् अध्ययन के होता नहीं। शाक्त-दर्शन के

१. धर्म-अर्थ-काम,मोक्ष
२. बृहदारण्यक - ४-३-२१
३. जगदीश पाण्डे—यउदात्त - सिद्धान्त और शिल्पन, पृ० ६, आरा, १९६४



मूल तत्त्वों के प्रसंग में निवेदित हो चुका है कि शक्ति-साधना के दार्शनिक स्वरूप का निर्माण शैव-दर्शन के उतरीय में ही हुआ है। और, यहाँ शिव के स्थान पर शक्ति को प्रधानता दी गयी है। शक्ति की महत्ता का अनुमान इसीसे लगाना चाहिये कि शक्ति के बिना शिव को भी शव माना गया। वही मूल तत्त्व अपनी व्यापकता में मतों में स्वीकृत हो गया। दर्शन के तत्त्व जनरुचि को उतना प्रभावित नहीं कर पाते। प्रत्येक दर्शन की एक मूल आत्मा होती है जो अपना व्यापक प्रभाव प्रक्षेपित करती है। शांकर अद्वैत के अन्य तत्त्वों से हमारा परिचय हो, न हो, पर हम सभी संसार को माया कहते दिखाई देते हैं। बौद्ध-दर्शन के अन्य तत्त्वों से हम उतने परिचित न भी हों, पर क्षणभंगुर जीवन हमारी चिन्ता को बाँधे हुए है। इसी प्रकार, शाक्त-तत्त्वों को भी सामाजिक रिक्थ में स्थिति रहती आयी है।

पुनः दर्शन की अपेक्षा साधना का आकर्षण होता है और साधना का कष्ट साध्य पक्ष भी लोक में प्रचार पाने में असफल रहता आया है। यही कारण है कि वैदिक यज्ञों की परिणति औपनिषदिक चिन्ता में फलीभूत हुई तथा तांत्रिक आचारों की बहुलता भक्ति के भावोद्गार में सिमट गयी। भारतीय जीवन में एक ओर गीता का कर्मयोग भी है और दूसरी ओर सहज जीवन की प्रेरणा भी सिद्धों ने तो केवल लोकजीवन की अभिलाषा को मुखर कर दिया था। सहजता का पथ सदा ही सुगम और सुकर होता है। शाक्त साधना व्यावहारिक जीवन की साधना है। इसमें ज्ञान, योग, कर्म तंत्र एवं भक्ति—इन सभी साधनों का समावेश है। भारतीय जनता मात्र रामोपासक नहीं, कृष्णोपासक नहीं, वह सभी देवी - देवताओं की आराधना करती आयी है। इसी प्रकार शाक्त भी किसी वस्तु को त्याज्य नहीं मानते। उनकी साधना समष्टि की साधना है। यही कारण है कि शाक्त-भावना का वास्तविक आधार लोकभूमि है। शाक्त-भावना ही मूल भावना है और प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा शक्ति होती है—

अन्ते शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः
नाना रूप धराः कोलाः विचरन्ति महीतले।।

हिन्दी साहित्य में पहली बार ही इस प्रकार के अनुसंधान का उपक्रम उद्मुक्त हुआ है और शाक्तदर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय भी प्रथम बार ही व्यवस्थित रूप में हिन्दी में प्रस्तुत हो रहा है।

सिद्धों एवं नाथों के युग में शक्ति का साधनात्मक पक्ष ही प्रधान रहा है; किन्तु देवियों के पौराणिक रूपों की निर्मिति हो रही थी। ये पुराण भी लोकाख्यान ही थे जिन्हें साहित्य में प्रतिष्ठा मिली। विभिन्न पुराणो में प्रकार-भेद से एक ही कथा का होना इस विचार की पुष्टि कर सकेगा।

विद्यापति की शक्ति-भावना में हम इन्हीं पौराणिक स्वरूपों की विवृति पाते हैं जिसके साथ लोक-शृंगार का समावेश हो गया है।

कबीर का पंथ निराला था और उनमें हम माधुर्य की लपेट में शक्ति-भावना का रूपान्तर देखते हैं।

जायसी ने भी इसी लोकतत्त्व से अनुप्राणित हो पद्मावती की सृष्टि की।

सूर और तुलसी की भक्तिधारा में शक्ति अपने शुद्ध सात्विक रूप में लीला-अवतारिणी बनकर आयी और उसने अपने व्यापक प्रभाव से शक्ति-तत्त्व को एक नया आयाम दिया। यही भाव आगे चलकर अपने उदात्त परिवेश का त्यागकर लौकिक शृंगार के रूप में रीतिकाव्य में अवतरित हुआ।

नये युग ने नयी दिशाओं का अन्वेषण किया, पर फिर भी भारतेन्दु से लेकर गुप्तजी तक धरातल किंचित् परम्परागत ही रहा। निराला ने शुद्ध बौद्धिक धरातल पर शक्ति का भावात्मक रूप प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की।

प्रसादजी ने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था, इसलिए उन्होंने सर्वथा नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। दार्शनिक तत्त्व शुद्ध मानवीय धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित कर दिया। शाक्तों का साधनात्मक सामरस्य, व्यावहारिक जीवन की समरसता का आदर्श लेकर प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार, प्रसादजी ने ही शाक्तदर्शन का नया स्वरूप व्यावहारिक द्विधारहित जीवन-पद्धति के रूप में सामने लाकर रख दिया। यह व्याख्या सहज ही संस्कारों में बद्ध चेतना की आँखों में अंजन बनकर दिव्य दृष्टि देने में सफल हो गयी। शाक्त-साधना को जीवन-दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा देने का श्रेय प्रसादजी को ही मिलना चाहिये।

धर्मवीर भारती ने प्रसादजी की भाँति प्रतीकात्मक कथा का सहारा नहीं लिया। आधुनिक कुंठाओं के युग में अहं की परिणति विकृत अहं में हो गयी है। इस विकार का ही परिणाम है कि हम अपनी आत्मनिष्ठता में निरंतर घोंघे की खोल में निवास कर सुख की खोज में खुरचन से ही तृप्त रहने का दंभ भरते आये हैं। भारती ने मानव मनोविज्ञान के आधार पर शाक्त-तत्त्वों का अधुनातम रूप प्रस्तुत कर चरम तन्मयता की महत्ता को प्रतिष्ठा दी है। चरम तन्मयता की आत्मा वही है जो सहज की है; वही है जो सूर की राधा एवं तुलसी की सीता की है; किन्तु युक्ति एवं संभावनाएँ नये युग के भावबोध के समीप हैं। इस प्रकार प्रत्येक युग ने इस सामाजिक रिक्थ को अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है।

आज के युग में शाक्त-तत्त्वों का व्यापक आकलन परंपरागत धार्मिक रूप में न भी हो, किन्तु शक्ति का शाश्वत रूप अर्द्धांग रूप में समस्त विश्व में व्याप्त है। इस युग ने न तो रीति-युग के कवियों की तरह नारियों की देह-यष्टि की नापजोख की है और न तांत्रिकों की भांति प्रत्येक नारी को भैरवी ही बनाया है। आज नारी-



-जाति मुक्त है और प्रागैतिहासिक युग की तरह वह पुरुषों को दास बनाकर नहीं रखे हुई है। आज वह कंधे से कंधा मिलाकर चल रही है। वह अपनी स्वतंत्र सत्ता में भी इस प्रकार संयुक्त है कि वह जगत् की प्रेरणा, सृष्टि की उत्सुकता एवं भविष्य का आधार बनी हुई है। आज मनोविज्ञान ने उसे जानने के नये द्वार उन्मुक्त कर दिये हैं और इस नये परिवेश में वह शुद्ध शक्ति बनकर समस्त जागतिक कृत्यों में योगदान कर रही है।

भोगवादी एवं जड़वादी युग के परिज्ञान के लिए शक्ति-तत्त्व का कितना महत्त्व होगा, यह तो समय ही निर्धारित करेगा। आज तक जिसे अपने से दूर समझ-कर साधना के सोपानों पर चढ़ कर प्राप्त किया जाता था, उसे अब मात्र चरम साक्षात्कार के क्षणों में प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि शाक्त-दर्शन को मानव-जीवन के व्यापक दर्शन के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिये।

# ग्रन्थानुक्रमणिका

## संस्कृत-ग्रन्थ

१. ऋग्वेद संहिता—सायण भाष्य—मैक्समूलर—१८९०-९२
२. अथर्ववेद संहिता— ,, —बम्बई—१८९५-९८
३. तैतरीय संहिता—एं० महादेव शास्त्री—मैसूर
४. ऐतरेय ब्राह्मण—( आफ्रेख्ट द्वारा सम्पादित )—बॉन—१८७९
५. शतपथ ब्राह्मण—( डा० अलबर्ट बेबर द्वारा सम्पादित )—१९२४
६. कठोपनिषद्—गीता प्रेस
७. केनोपनिषद्—गीता प्रेस
८. मुण्डकोपनिषद्— ,,
९. श्वेताश्वरोपनिषद्—,,
१०. छान्दोग्योपनिषद्— ,,
११. बृहदारण्यकोपनिषद्—(सं०-पं० रामस्वरूप शर्मा )—मुरादाबाद—१९२०
१२. तैतरीयोपनिषद्—आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज—१९२५
१३. महानारायणोपनिषद्—बम्बई—१८८८
१४. बह्वृचोपनिषद्—अड्यार—१९२३
१५. मैत्र्युपनिषद्— ,, ,,
१६. सामपूर्वतापिन्योपनिषद्—अड्यार—१९२३
१७. रामोत्तरतापनीय उपनिषद्—,, ,,
१८. सीतोपनिषद्—प्रयाग—१९२४
१९. कृष्णोपनिषद्—अड्यार—१९२३
२०. योगशिखोपनिषद्—,, ,,
२१. सरस्वती रहस्योपनिषद्—,, ,,
२२. त्रिपुराता पिन्युपनिषद्— ,, ,,
२३. नारद पांचरात्र संहिता
२४. अहिर्बुध्न्य संहिता—अड्यार—१९१६
२५. जयाख्य संहिता
२६. तैतरीय आरण्यक—( आप्टे द्वारा सम्पादित )—पूना, १८९८
२७. ब्रह्मवैवर्तपुराण—जीवानन्द—कलकत्ता—१८८८



२८. पद्मपुराण—बम्बई—१८९५
२९. खिल् हरिवंश पुराण—गीता प्रेस
३०. सौर पुराण
३१. कालिका पुराण
३२. देवी पुराण
३३. देवी-भागवत—गीता प्रेस
३४. मार्कण्डेय पुराणोक्त देवी-माहात्म्य—गीता प्रेस
३५. पारस्कर गृह्यसूत्रम्—बम्बई; १९११
३६. बौधायन गृह्यसूत्रम्— १८८४
३७. बाल्मीकीय रामायण—गीता प्रेस
३८. आध्यात्म रामायण— ,,
३९. आनन्द लहरी—शंकराचार्य—अड्यार—१९४८
४०. सौन्दर्य लहरी— ,, ,,
४१. ब्रह्मसूत्र भाष्यम्—,, —आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज—पूना
४२. श्रीमद्भागवत्—( भावार्थ दीपिका )—श्रीधर स्वामी
४३. श्री स्वाभिन्याष्टक—विट्ठलनाथ
४४. चतुःश्लोकी प्रार्थना— ,,
४५. पार्वती परिणय—वामनभट्ट वाण—( स्मिद्त द्वारा सम्पादित )—१९१७
४६. गाथा सप्तशती—हाल
४७. ऋतुसंहारम्—कालिदास—चौखम्बा
४८. मेघदूतम्— ,, ,,
४९. घटखर्पर काव्यम्—बम्बई—१९१४
५०. मयूराष्टक
५१. चौर पंचाशिका
५२. शृंगार शतकम्—भर्तृहरि
५३. तन्त्रालोक—कभिनबगुप्त—( का० सं० ग्र० )—१९२२
५४. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी—( ,, ,, )—श्रीनगर
५५. तन्त्रसार—अभिनव गुप्त—१९१८
५६. कामकला विलास—मद्रास—१९५३
५७. महानिर्वाणतन्त्रम्—( का० सं० ग्र० )
५८. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—लेहडकर—मद्रास—१९३५
५९. कुलार्णव तन्त्रम्—जीवानन्द—कलकत्ता—१८९७
६०. ललितासहस्रनाम—भास्कर राय टीका—बम्बई—१९३५

६१. तत्त्व-सन्दोह
६२. स्पन्द-प्रदीपिका—उत्पलाचार्य—विजय नगरम् संस्कृत सीरीज,—बनारस
६३. शारदातिलकम्—लक्ष्मण देशिकेन्द्र-विरचित—राघवभट्ट—बनारस-१६३४
६४. वृहद्गन्धर्व तन्त्रम्
६५. ब्रह्माण्ड तन्त्रम्
६६. गुह्य समाज तन्त्रम्—( गा० ओ० सी० ) बड़ौदा—१९२४
६७. वैजयन्ती तन्त्रम्—कलकत्ता—( १३३६ वं० )
६८. श्रीमद्भागवद्गीता—गीता प्रेस
६९. विज्ञान भैरव—( का० सं० ग्र० )


———

## हिन्दी-ग्रन्थ


१, अनन्त स्वामी—हरिभक्ति सिन्धु बेला
२. अग्रवाल, डा० वासुदेव शरण—पद्मावत—झाँसी—१६५५
३. अग्रवाल, डा० शशि—हिन्दी काव्य पर पुराणों का प्रभाव—प्रयाग, १९६०
४. उपाध्याय, डा० बलदेव—भारतीय वांगमय में श्री राधा—पटना, १६६३
५. ,, ,, —भागवत-सम्प्रदाय—ना० प्र० सभा०-काशी
६. ,, ,, —भारतीय-दर्शन
७. भरत सिंह —पालि साहित्य का इतिहास
८. विश्वम्भर नाथ—हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि
९. उमापति—पारिजात-हरण
१०. ओझा एवं शर्मा—रास और रासान्वयी काव्य—काशी—१६५६
११. कविराज, डा० गोपीनाथ—तान्त्रिक वांग्मय में शाक्त-दृष्टि, पटना, १९६३
१२. ,, ,, —भारतीय संस्कृति और साधना—पटना, १६६२
१३. ,, ,, —शिवांक (गी० प्रे०) में लेख
१४. ,, ,, —सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह—काशी—१६२५
१५. कुमारी डा० शैल—हिन्दी और बंगला के वैष्णव कवि
१६. गुप्त, डा० जगदीश-रीति-काव्य—संग्रह—प्रयाग—१९६१
१७. गुप्त, डा० सोमनाथ—अष्टछाप-पदावली—लाहौर—१६४०
१८. ,, डा० शशिभूषण दास—श्री राधा का क्रम-विकास-बनारस-१६५६
१९. ,, डा० दीनदयाल—अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय—प्रयाग, १६४७
२०. ,, डा० माता प्रसाद—तुलसीदास—१६५२
२१. गुप्त, मैथिली शरण—साकेत—चिरगाँव——झांसी—१९४५
२२. ,, ,, —द्वापर ,, ,, ,,
२३. ,, ,, —यशोधरा ,, ,,
२४, ,, ,, —शक्ति ,, ,, —१९२७
२५. चतुर्वेदी-परशुराम—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—प्रयाग—१६५७
२६. ,, ,, —वैष्णव-धर्म—प्रयाग—१६५३
२७. ,, ,, —मध्यकालीन प्रेमसाधना—प्रयाग, १९५२
२८ ,, ,, —कबीर साहित्य की परख—प्रयाग—१९५४
२९. चटर्जी एवं दत्त—भारतीय दर्शन

३०. तिवारी, डा० उदयनारायण—रास पंचाध्यायी और भंवर गीत—प्रयाग —१९३६
३१. तिवारी, डा० रामपूजन—ब्रजबुलि साहित्य,—पटना,—१९६०
३२. तुलसीदास गोस्वामी—रामचरितमानस–गुटका संस्करण (गी० प्रे०)
३३. ,, ,, —तुलसीग्रंथावली—भाग-२, ना० प्र० स०
३४. ,, ,, —विनय-पत्रिका-गी० प्रे०-१९५२
३५. ,, ,, —श्रीरामनाम कला कोषमणि मंजूषा
३६. त्रिगुणायत, डा० गोविन्द—कबीर की विचारधारा
३७. दास, श्यामसुन्दर—कबीर-ग्रन्थावली
३८. ,,—रामचरण—वाण-शतक
३९. ,, ब्रजरत्न—नन्ददास-ग्रन्थावली—काशी—१९४९
४०. दिनकर, रामधारी सिंह—संस्कृति के चार अध्याय—पटना—१९६२
४१. ,, ,, —रश्मिरथी—उदयाचल-पटना
४२. ,, ,, —ऊर्वशी— ,, ,,
४३. ,, ,, —कुरुक्षेत्र— ,, ,,
४४. द्विवेदी, डा० हजारी प्रसाद—कबीर—१९४७
४५. ,, ,, —हिन्दी-साहित्य
४६. ,, ,, —हिन्दी साहित्य की भूमिका—बम्बई—१९४४
४७. ,, ,, —नाथ-सम्प्रदाय-प्रयाग—१९५०
४८. ,, ,, —हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पटना—१९५०
४९. ,, ,, —मध्यकालीन धर्म साधना—प्रयाग—१९४२
५०. दीक्षित, मथुरा प्रसाद—गोबिन्ददास-गीतावली—दरभंगा—१९३२
५१. नागेन्द्र, डा०—रीतिकाव्य की भूमिका—दिल्ली—१९६१
५२. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी—परिमल—१९५०
५३. ,, ,, —अपरा—१९५६
५४. ,, ,, —आराधना—१९५३
५५. ,, ,, —अनामिका—१९४८
५६. ,, ,, —गीतिका—१९६१
५७. ,, ,, —तुलसीदास—१९४२
५८. पाण्डे, डा० राजवली—हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास—काशी—१९५७
५९. ,, जगदीश—उदात्त सिद्धान्त और शिल्पन —आरा—१९६४
६०. पाण्डे, डा० रामनिरंजन—रामभक्ति-शाखा—हैदराबाद—१९६०



६१. प्रसाद, जयशंकर—कामायनी
६२. ,, ,, —काव्यकला और अन्य निबन्ध—प्रयाग—१९५६
६३. बड्थवाल, डा० पीताम्बर दत्त-योग-प्रवाह—बनारस
६४. ,, ,, —गोरख-बानी—प्रयाग—१९४२
६५. बागची, डा० प्रबोधचन्द्र—दोहा कोष - कलकत्ता—१९३८
६६. ,, ,, —चर्यापद—
६७. बुल्के, रवरेन्ड फादर डा० कामिल—रामकथा—प्रयाग १९५०
६८. बेनीपुरी, रामवृक्ष—विद्यापति की पदावली—(पु० भ०)
६९. भवानी शंकर—शक्ति-अंक (कल्याण) में लेख।
७०. भगवान दीन, लाला—राम चन्द्रिका—भाग १
७१. ,, ,, ,, — ,, - भाग — २
७२. भारती, डा० धर्मवीर—सिद्ध-साहित्य—प्रयाग—१९५५
७३. ,, ,, —कनुप्रिया—काशी—१९५९
७४. माधव डा० भुवनेश्वर मिश्र,- रामभक्ति में मधुरोपासना—पटना—१९५७
७५. मित्र एवं मजुमदार—विद्यापति-पदावली—पटना, १९५३
७६. मिश्र, डा० उमेश—विद्यापति ठाकुर—प्रयाग—१९३७
७७. ,, डा० जनार्दन—भारतीय प्रतीक विद्या—पटना, १९५९
७८. ,, ,, —विद्यापति (पाण्डुलिपि)
७९. मिश्र, डा० द्वारका प्रसाद—कृष्णायन—लखनऊ—१९४६
८०. ,, डा० विश्वनाथ प्रसाद—घनानन्द और आनन्दघन-बनारस—१९४५
८१. मिश्र बन्धु—देवसुधा—लखनऊ—१९६१
८२. मिश्र, कृष्ण विहारी—मतिराम सतसई—लखनऊ—१९६१
८३. मिश्र, बलदेव प्रसाद—तुलसी-दर्शन—प्रयाग—१९४४
८४. मीतल, प्रभुदयाल—अष्टछाप पदावली—लाहौर—१९४०
८५. मीराबाई और उनकी पदावली—दिल्ली—१९६२
८६. यदुवंशी, डा०—शैव-मत—पटना—१९५५
८७. रत्नाकर, जगन्नाथ दास—बिहारी-रत्नाकर—बनारस—१९५१
८८. राघव, डा० रांगेय—गोरखनाथ और उनका युग—१९६३
८९. वर्मा, डा० धीरेन्द्र—सूर-सागर-सार—प्रयाग—१९५४
९०. वर्मा, डा० रामकुमार—कबीर का रहस्यवाद—प्रयाग—१९४८
९१. शर्मा, डा० रामावतार—भारतीय ईश्वरवाद—पटना—१९३६
९२. शर्मा, मुंशीराम—भारतीय साधना और सूर-साहित्य—१९५३
९३. शर्मा, डा० रामविलास—निराला—आगरा—१९६२

21. Mackay, Ernest—The Hindu Civilisation—1935.
22. Mahadevan, T. M. P.—The Classical Age (H. C. I. P.)—B.V.B. 1962.
23. Mazumdar, R. C,—The Classical Age—B.V.B.—1962.
24. -do- ,, —The Cultural Heritage of India, Vol. IV, —Calcutta, 1956.
25. Pusalkar, A.D.—The Vedic Age, B.V.B. Vol. I.
26. Radhakrishnan, S.—Eastern Religious and Western Thought, London, 1940.
27. Rai Choudhry—Early History of the Vaisnava Sect,—Calcutta, 1920.
28. Sarkar, D.C.—History and Culture of the Indian People, Bombay, 1960
29. Sen, D. C.—History of Bengali Language and Literature. Calcutta, 1911.
30. Shrader, Dr.—Introduction to Panchratra Samhitas—Adyar, 1916.
31. Woodroffee, S.J.—Sakit and Sakts—Madras—1959.
32. ,, ,, —The Garland of Letters, Madras, 1922.
33. ,, ,, —Kundalini or Serpent Power—Madras, 1922.
34. ,, ,, —Mahamaya, Madras, 1954.
35. ,, ,, —Power of Mind—Madras—1922

21+14

## बंगला-ग्रन्थ

१. गुप्त, शशिभूषण दास--भारतेर शाक्त साधना ओ शाक्त-साहित्य,—कलकत्ता, १९६१

२. ठाकुर, रविन्द्र नाथ—संचयिता—विश्वभारती—

## पत्रिकायें

1. Modern Review—Dec., 1924,
2. Journal of the Bihar and Orrisa Research Society, 1917 (Part III, Vol L).
3. ,, ,, Bengal Oriental Research Society, Vol. 17.
४. आलोचना—१०
५. पाटल—अप्रैल, १९५५
६. कल्याण—शक्ति-अंक
७. कल्याण—शिवांक

## कोश-ग्रन्थ

१. शब्द कल्पद्रुम—कलकत्ता—शकाब्द—१८८१
२. हिन्दी-साहित्य-कोश